सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व

पटना विश्वविद्यालय द्वारा
'डी. लिट्.' की उपाधि के लिए
ीकृत शोध-प्रबन्ध का प्रथम खण्ड

कुमार विमल
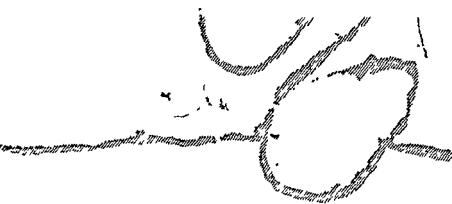
सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व

आदरणीय डॉ. नगेन्द्र को

प्रस्तावना

प्रस्तुत प्रबन्ध में सौन्दर्यशास्त्र की परिधि में आनेवाले चार प्रमुख कलातत्त्वों का अध्ययन छायावादी कविता के विशेष सन्दर्भ में उपस्थित किया गया है। इसमें प्रमुख कला-तत्त्वों के अन्तर्गत सौन्दर्य, कल्पना, बिम्ब और प्रतीक की गणना की गयी है। यों विषय, विधान, प्रेषणीयता इत्यादि को भी काव्य एवं अन्य ललित कलाओं के प्रमुख तत्त्वों के बीच रखा जा सकता है, किन्तु, मेरी आकांक्षा इस प्रबन्ध को विस्तार की अपेक्षा गहराई देने की ओर अधिक थी। फलस्वरूप विषय-सीमा का निर्धारण करते समय प्रमुख कला-तत्त्वों के अन्तर्गत इन चार तत्त्वों—सौन्दर्य, कल्पना, बिम्ब और प्रतीक को ही विवेच्य विषय के रूप में स्वीकार किया गया। अतः इस प्रबन्ध में प्रमुख कला-तत्त्वों के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन या सौन्दर्यशास्त्र के प्रमुख अध्येतव्य तत्त्वों के विवेचन का आशय ललित कलाओं के उपर्युक्त चार तत्त्वों का, विशेषकर, काव्यकला की दृष्टि से किया गया अध्ययन है।

सम्पूर्ण प्रबन्ध में 'सौन्दर्यशास्त्र' शब्द का प्रयोग ललित कलाओं के प्रमुख तत्त्वों के सैद्धान्तिक निरूपण के अर्थ में किया गया है। मेरी दृष्टि में काव्य-शास्त्रीय या साहित्यशास्त्रीय अध्ययन तभी परिपूर्ण होता है, जब वह सौन्दर्य-शास्त्र के अधीत तत्त्वों और निर्धारित मान्यताओं से आलोक ग्रहण कर निष्पन्न होता है। अतः इस प्रबन्ध में कविता के उन चार प्रमुख तत्त्वों का, जो मात्रा-भेद से काव्येतर ललित कलाओं के भी प्रमुख तत्त्व हैं, मात्र काव्यशास्त्रीय अध्ययन नहीं, बल्कि सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन उपस्थित किया गया है, जिससे दृष्टिकोण की व्यापकता के साथ ही काव्य के अन्तर्गत समाहित कला-तत्त्वों की अधिकार-पूर्ण मीमांसा हो सके।

इस प्रबन्ध को सुनियोजित स्थापत्य देने के लिए इसे दो खण्डों में बाँट दिया गया है। प्रस्तुत खण्ड में चार प्रमुख कला-तत्त्वों (सौन्दर्य, कल्पना, बिम्ब और प्रतीक) का सैद्धान्तिक आधार पर सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन किया गया है। इस सैद्धान्तिक अध्ययन में किसी विशेष युग की कविता या कला को ध्यान में नहीं

प्रस्तावना

प्रस्तुत प्रबन्ध मे सौन्दर्यशास्त्र की परिधि मे आनेवाले चार प्रमुख कलातत्त्वो का अध्ययन छायावादी कविता के विशेष सन्दर्भ मे उपस्थित किया गया है। इसमे प्रमुख कला-तत्त्वो के अन्तर्गत सौन्दर्य, कल्पना, बिम्ब और प्रतीक की गणना की गयी है। यो विषय, विधान, प्रेषणीयता इत्यादि को भी काव्य एव अन्य ललित कलाओ के प्रमुख तत्त्वो के बीच रखा जा सकता है, किन्तु, मेरी आकाक्षा इस प्रबन्ध को विस्तार की अपेक्षा गहराई देने की ओर अधिक थी। फलस्वरूप विषय-सीमा का निर्धारण करते समय प्रमुख कला-तत्त्वो के अन्तर्गत इन चार तत्त्वो—सौन्दर्य, कल्पना, बिम्ब और प्रतीक को ही विवेच्य विषय के रूप मे स्वीकार किया गया। अत इस प्रबन्ध मे प्रमुख कला-तत्त्वो के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन या सौन्दर्यशास्त्र के प्रमुख अध्येतव्य तत्त्वो के विवेचन का आशय ललित कलाओ के उपर्युक्त चार तत्त्वो का, विशेषकर, काव्यकला की दृष्टि से किया गया अध्ययन है।

सम्पूर्ण प्रबन्ध मे 'सौन्दर्यशास्त्र' शब्द का प्रयोग ललित कलाओ के प्रमुख तत्त्वो के सैद्धान्तिक निरूपण के अर्थ मे किया गया है। मेरी दृष्टि मे काव्य-शास्त्रीय या साहित्यशास्त्रीय अध्ययन तभी परिपूर्ण होता है, जब वह सौन्दर्य-शास्त्र के अधीत तत्त्वो और निर्धारित मान्यताओ से आलोक ग्रहण कर निष्पन्न होता है। अत इस प्रबन्ध मे कविता के उन चार प्रमुख तत्त्वो का, जो मात्रा-भेद से काव्येतर ललित कलाओं के भी प्रमुख तत्त्व है, मात्र काव्यशास्त्रीय अध्ययन नही, बल्कि सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन उपस्थित किया गया है, जिससे दृष्टिकोण की व्यापकता के साथ ही काव्य के अन्तर्गत समाहित कला-तत्त्वो की अधिकार-पूर्ण मीमासा हो सके।

इस प्रबन्ध को सुनियोजित स्थापत्य देने के लिए इसे दो खण्डो मे बाँट दिया गया है। प्रस्तुत खण्ड मे चार प्रमुख कला-तत्त्वो (सौन्दर्य, कल्पना, बिम्ब और प्रतीक) का सैद्धान्तिक आधार पर सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन किया गया है। इस सैद्धान्तिक अध्ययन मे किसी विशेष युग की कविता या कला को ध्यान मे नही

रखा गया है, बल्कि अध्येतव्य तत्त्वों को युग-विशेष की सीमा से ऊपर रखकर ललित कलाओं की व्यापक पृष्ठभूमि में देखा-परखा गया है। दूसरे खण्ड में, जो 'छायावाद का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन' के नाम से प्रकाशित है, इस खण्ड के सैद्धान्तिक निरूपणों का छायावादी कविता के विशेष सन्दर्भ में व्यावहारिक अध्ययन-परीक्षण किया गया है।

प्रबन्ध की मूल प्रतिज्ञा को स्पष्ट करने के लिए सबसे पहले 'पूर्वपीठिका' शीर्षक अध्याय के अन्तर्गत काव्यशास्त्रीय अध्ययन और सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन के पार्थक्य को स्पष्ट करते हुए यह निरूपित किया गया है कि काव्य के प्रमुख तत्त्वों का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन (काव्यशास्त्रीय अध्ययन के अलावा) क्यों अपेक्षित है। तदनन्तर इसी अध्याय में यह प्रतिपादित किया गया है कि काव्य एवं अन्य ललित कलाओं के बीच शिल्प-शैली अथवा अभिव्यक्ति के माध्यम की दृष्टि से चाहे जितनी भिन्नता हो, लेकिन तात्त्विक दृष्टि से इन सभी ललित कलाओं में एक सुदृढ़ अन्तःसम्बन्ध है और प्रत्येक ललित कला अपने चरम विकास के क्षणों में अन्य सम्बद्ध कलाओं का अधिक-से-अधिक आश्रय ग्रहण करती है। ललित कलाओं के इसी तात्त्विक अन्तःसम्बन्ध और पारस्परिकता की परख के लिए सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि काव्य या कविता को अन्य ललित कलाओं की व्यापक पृष्ठभूमि से विच्छिन्न कर देखने के अभ्यास के कारण काव्यशास्त्र इस कार्य के लिए अपर्याप्त सिद्ध होता है।

इस प्रबन्ध के सैद्धान्तिक विवेचन में सौन्दर्यशास्त्र पर किये गये पाश्चात्य चिन्तन का उद्धरणों और पादटिप्पणियों से युक्त विशेष उल्लेख है। इसका औचित्य दो कारणों पर निर्भर है। पहला कारण यह है कि दर्शन की एक स्वतन्त्र शाखा के रूप में सौन्दर्यशास्त्र पाश्चात्य चिन्तन से अधिकांशतः सम्बद्ध रहा है और उसका वह रूप संस्कृत काव्यशास्त्र या भारतीय साहित्य में नहीं मिलता है। अतः अद्यतन सौन्दर्यशास्त्रीय विवेचन में पाश्चात्य सौन्दर्य-चिन्तन और कलानुशीलन का प्रचुर, किन्तु, प्रसंगानुसार उल्लेख स्वाभाविक है।

इस प्रबन्ध-लेखन में मेरा दृष्टिकोण जितना तत्त्वपरक एवं सैद्धान्तिक रहा है, उतना ऐतिहासिक एवं तथ्यपरक नहीं। फलस्वरूप कई ऐसे प्रसंग है, जिनमें तात्त्विक विवेचन के तारतम्य को सुरक्षित रखने के लिए हीगेल से पहले क्रोचे का और बाउमगार्तेन से पहले लैंगर का उल्लेख हुआ है। इस प्रसंग में यह कह देना आवश्यक है कि कला-तत्त्वों का सौन्दर्यशास्त्रीय अनुशीलन एक प्रकार का तत्त्वानुसन्धान है, जिसमें तिथिपरकता या इतिवृत्तात्मक तथ्य-संग्रह का गौण स्थान रहता है।

हिन्दी साहित्य में इस विषय पर, जहाँ तक मेरी जानकारी है, अब तक कोई समम्बद्ध और व्यापक कार्य नहीं हुआ है। काव्य के प्रमुख तत्त्वों—जैसे, सौन्दर्य,

कल्पना, बिम्ब अथवा प्रतीक—पर अलग-अलग विवरणात्मक कार्य हुए है, किन्तु, काव्य-कला के इन सभी तत्वों का किसी एक प्रबन्ध मे पूर्ण और सागोपाग सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन अब तक प्रकाश मे नही आया है। तथापि काव्य-कला के अलग-अलग तत्वों के विवेचन-क्रम मे मैंने हिन्दी साहित्य मे किये गये इस प्रकार के पूर्ववर्त्ती या समकालीन छिटपुट कार्यों और तत्तत् विषयक प्रबन्धो का उल्लेख अपनी विवेचना के अन्तर्गत यथास्थान, विशेषकर, पादटिप्पणियों मे कर दिया है।

इस प्रबन्ध की पहली विशेषता यह है कि इसमे सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन को एक नयी दिशा दी गयी है। अब तक हीगेल और क्रोचे जैसे प्रमुख पाश्चात्य विचारकों से लेकर सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, कान्तिचन्द्र पाण्डेय, मर्ढेकर और सुरेन्द्र बारलिंगे जैसे भारतीय अध्येताओं तक ने सौन्दर्यशास्त्र को केवल सैद्धान्तिक निरूपण की सीमा मे उपस्थित किया और उसे एक दार्शनिक परिधि मे बाँध रखा। किन्तु, इस 'प्रस्थान ग्रन्थ' मे सौन्दर्यशास्त्र को व्यावहारिक आलोचना के धरातल पर उतारा गया है, जिसका प्रमाण द्वितीय खण्ड के अन्तर्गत छायावादी कविता का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन उपस्थित करता है। इस प्रबन्ध की दूसरी विशेषता है—सौन्दर्यशास्त्र या कलाशास्त्र की अधीत और अंगीकृत तात्त्विक मान्यताओं के आधार पर काव्यशास्त्र को एक नयी दिशा का संकेत। इस दृष्टि से प्रस्तुत प्रबन्ध मे कल्पना और बिम्बों का सोदाहरण प्रकार-निर्धारण शास्त्रीय मनीषा के नवीन गवाक्षों का उद्घाटन करता है। अत विनत गर्व के साथ कहा जा सकता है कि यह प्रबन्ध कई दृष्टियो मे ज्ञान की परिधि का विस्तार करता है और हिन्दी साहित्य मे सौन्दर्यशास्त्रीय या कलाशास्त्रीय मान्यताओं के साहाय्य से निष्पन्न एक ऐसे अनूतन काव्यशास्त्र का रूप उपस्थित करता है, जिसमे परम्परागत प्रणालियों के अनुशीलन से आगे बढकर नवीन चिन्तन और अत्याधुनिक वैज्ञानिक उद्भावनाओं का भी उपयोग किया गया है। इस प्रकार यह शोध-कार्य उन नवीन कलात्मक प्रदेशों के मूल्यांकन का सैद्धान्तिक निकष प्रस्तुत करता है, जिनके गुणागुणों की समीक्षा के लिए प्रचलित काव्यशास्त्र या आलोचना-शास्त्र मे वाछित व्यवस्था नहीं है। इस प्रसग मे पुन यह कह देना अपेक्षित है कि प्रस्तुत प्रबन्ध विशुद्ध वैचारिक और कलाशास्त्रीय तत्वों के सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक अनुशीलन से निर्मित हुआ है। अत इसमे किसी इतिवृत्तात्मक तथ्य, तिथिक्रम या हस्तलिखित पाण्डुलिपि की नयी खोज नहीं है। इसकी नवीनता विभिन्न कला-तत्वों के सैद्धान्तिक निरूपण को नये सम्बन्धो और विचक्षण सन्दर्भों के बीच उपस्थित करने मे है। इस दृष्टि से प्रबन्ध के ये स्थल विशेष ध्यातव्य हैं —ललित कलाओं का तात्त्विक अन्त सम्बन्ध, शब्द-बोध और वर्ण-बोध अथवा शब्द-तन्मात्रा और वर्णात्मक प्रत्यक्ष की संवेगात्मक पर्युत्सुकता (रेस्पॉन्स), चाक्षुष

सौन्दर्य-भावन और नेत्र-मस्तिष्क-सम्बन्ध, नूतन अन्वेषणों के आलोक में कल्पना-विवेचन, कल्पना में स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और अनुमान का योग, कल्पना का प्रकार-निर्धारण, सहमवेदनात्मक या मिश्र बिम्ब और ज्ञानलक्षण प्रत्यक्ष, बिम्बों का वर्गीकरण तथा कला और विज्ञान के प्रतीकों में पार्थक्य निरूपण।

मेरे शोध-कार्य को इस स्थिति तक पहुँचाने में श्री देवेन्द्रनाथ शर्मा के स्नेह और प्रोत्साहन का अविस्मरणीय योग रहा है। इस सिलसिले में मुझे डॉ हरिमोहन मिश्र से भी प्रेरणाएँ मिलती रही हैं। प्रबन्ध के मुद्रणाधीन होने पर राजकमल प्रकाशन के साहित्य-सलाहकार डॉ नामवरसिंह ने इसे अधिक से अधिक व्यवस्थित और सुन्दर रूप में प्रस्तुत करने के लिए जो कई अच्छे सुझाव दिये, उनके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

प्रबन्ध-लेखन की अवधि में हरप्रसाद दास जैन कालेज (आरा), श्री जैन-सिद्धान्त भवन (आरा), आर डी एण्ड डी जे कालेज (मुंगेर), श्रीकृष्ण सेवा-सदन (मुंगेर), काशी नागरी-प्रचारिणी सभा, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, प्रयाग विश्वविद्यालय, आगरा विश्वविद्यालय, राजस्थान विश्वविद्यालय, पटना कालेज, पटना विश्वविद्यालय, बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् (पटना) और रामकृष्ण मिसन-आश्रम (पटना) के पुस्तकालयों तथा ब्रिटिश काउन्सिल लाइब्रेरी (पटना) और सिनहा लाइब्रेरी (पटना) में मुझे पुस्तकों की जो सहायता मिली है, उसके लिए मैं इन संस्थाओं के अधिकारियों को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

धन्यवाद-ज्ञापन के प्रसंग में संगिनी सुमित्राजी के सहयोग को भूलना अनुचित होगा, जिन्होंने स्वास्थ्य सम्बन्धी उलझनों के बावजूद इस शोध-प्रबन्ध को बहुत सुरुचि और उत्साह के साथ समय पर टंकित कर दिया।

कुमार विमल

विषय-सूची

का सहयोग—एस कुप्पूस्वामी शास्त्री का मत—एस के डे का मत—के सी पाण्डेय का मत—नाट्यशास्त्र भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की प्रारम्भिक सीमा—भारतीय दृष्टि से काव्य की गणना कलाओं में नहीं—अत सस्कृत काव्यशास्त्र की रुचि कलाशास्त्र से भिन्न—विद्या, उपविद्या और कला—राजशेखर का मत—कला और विद्या में अन्तर—हिन्दी के कुछ प्रमुख विचारकों के द्वारा इस मत का अनुसरण—जयशकर प्रसाद और आचार्य शुक्ल—सौन्दर्यशास्त्र काव्यशास्त्र का विकसित रूप—कविता के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की आवश्यकता—कविता का काव्येतर ललित कलाओं के साथ घनिष्ठ-सबध—कविता में अन्य कलाओं के सर्वोत्तम गुणों का समावेश—सभी कलाओं के व्यापक निकष पर कविता के गुणावगुणों का परीक्षण—भारतीय दृष्टि से कविता के कला-पक्ष में काव्येतर कलाओं का तात्त्विक समावेश—कविता पर अन्य कलाओं का प्रभूत प्रभाव—हिन्दी साहित्य में कविता के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन का अभाव—कविता के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की आवश्यकता पर हिन्दी के वरिष्ठ विद्वानों के विचार—हिन्दी-जगत् में कविता और काव्येतर कला के समन्वय का व्यावहारिक प्रयास—निष्कर्ष।

ख ललितकलाओं का तात्त्विक अन्त सम्बन्ध—तात्त्विक दृष्टि से सभी कलाओं की समानता—सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन कलाओं के इसी तात्त्विक अन्त सम्बन्ध पर निर्भर—श्रव्य और दृश्य कलाओं का तात्त्विक अन्त सम्बन्ध—इस तात्त्विक अत सवद्धता का व्यावहारिक अध्ययन—कलाओं के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध का सैद्धान्तिक पक्ष—श्रव्य कला और दृश्य कला स्वर-बोध और वर्ण-बोध की पारस्परिकता—पाश्चात्य मनोविज्ञान की 'साइनेस्थेसिया'—वैज्ञानिक दृष्टि से भी स्वर-बोध और वर्ण-बोध की पारस्परिकता का समर्थन—अर्ल आव लिस्टोवेल और ह्विटर लुकरवाण्डल के मन्तव्य—शब्दतन्मात्रा और वर्णात्मक प्रत्यक्ष—स्वर-बोध और वर्णात्मक प्रत्यक्ष में समान सवेगात्मक प्रत्यर्थता—स्वर-बोध से वर्ण बिम्ब की प्राप्ति और वर्णात्मक प्रत्यक्ष से ध्वनि-बिम्ब की प्राप्ति—इस बोध-विपर्यय के तीन प्रकार प्रत्यक्षणात्मक, धारणात्मक और मानसिक—भरत, जे एल हॉफमन, बॉद्लेयर, अर्थर साइमन्स इत्यादि के विचार—ललित कलाओं का तात्त्विक अन्त सम्बन्ध और 'कॉरेस्पाण्डेन्स' का सिद्धान्त—स्वेडेनबर्ग और बॉद्लेयर की मान्यता—बॉद्लेयर की 'कॉरेसपाण्डेन्स' शीर्षक कविता—जे चेयरी के विचार—'कॉरेस्पाण्डेन्स' का सिद्धान्त और श्लोक वार्तिक' में निरूपित 'ज्ञान लक्षण-प्रत्यक्ष'—ऐन्द्रिय प्रतीतियों का विनिमय और भारतीय प्रमाणवाद या ज्ञान मीमासा—बोध-विपर्यय और पूर्वसचित सस्कार—ऐन्द्रिय

बाधो की पारस्परिक सम्बद्धता—वर्ण-बोध, दृष्टि-चेतना और शरीरविज्ञान—चित्रकला और सगीत कला म तात्त्विक साम्य—आर एस. मेण्ड्ल की मान्यता—दोलनवीक्ष के द्वारा रागो के रेखाचित्र का आनयन—भारतीय साहित्य म 'रागमाला' के चित्र—एडवर्ड होवर्ड ग्रिग्स, लैंगर और जॉन डेवी के विचार—लेसिंग, के एस रामस्वामी शास्त्री और महादेवी वर्मा के विचार—कलाओ का तात्त्विक अन्त सम्बन्ध और विशी का 'पैरेगन'—क्षेमेन्द्र की मान्यता—काव्य और चित्रकला के तात्त्विक साम्य पर अरस्तू के विचार—शास्त्रीय परम्परा के अनुसार काव्य और चित्र—काव्य का वर्ण-लेखन और चित्रकला—काव्य और चित्र की विषय-वस्तु मे साम्य—चित्र-कला के छह अगो मे तीन अग (भाव, लावण्य-योजना और सादृश्य) काव्य मे भी विद्यमान—अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के विचार—भारतीय कला-साहित्य मे काव्य और चित्र-कला का समन्वय—डब्ल्यू जी आर्चर का मन्तव्य—कृष्णकाव्य से चित्र-कला का विशेष सम्बन्ध—पाश्चात्य कला-साहित्य मे काव्य और चित्रकला का समन्वय—बॉद्लेयर और कुर्बे, रोजेटी और दान्ते, हटमन हट और मिलेस—काव्य और चित्रकला के सगम की दृष्टि से विलियम ब्लेक—यीट्स, एन्थोनी ब्लण्ट और डी एच लॉरेन्स के विचार—कला-सगम स्वच्छन्दतावाद (रोमाण्टिसिज्म) की एक विशिष्ट प्रवृत्ति—चित्रकला और सगीत कला मे तात्त्विक साम्य—लय और अनुपात—कलाओ का सयोजन-सिद्धान्त और अनुपात—भारतीय कला-साहित्य म सगीतकला और चित्रकला की अन्त सम्बद्धता—रागमाला चित्रो की कल्पना—हीगेल, गिब्सन, काण्डिन्स्की प्रभृति पाश्चात्य विचारको के मन्तव्य—नाद और वर्ण का समीकरण—चित्रकला और मूर्तिकला का तात्त्विक अन्त सम्बन्ध—चित्र-कला और स्थापत्य कला का अन्त सम्बन्ध—स्थापत्य कला सभी कलाओ की जननी—आर एच विलन्स्की के विचार—घनवाद (क्यूबिज्म) चित्र-कला पर स्थापत्य के प्रभाव की स्वीकृति—काव्य और स्थापत्य कला का सम्बन्ध—सगीत कला और स्थापत्य कला का सम्बन्ध—स्थापत्य कला 'फ्रोजेन म्युजिक'—सगीत कला फ्लोइग आर्किटैक्चर'—सगीत और स्था-पत्य म सगति, सन्तुलन और सयोजन—व्हिक्टर त्सुकरकाण्ड्ल का मन्तव्य—हीगेल की धारणा—काव्य और सगीत कला का तात्त्विक अन्त सम्बन्ध—कविता म लय—आधुनिक कविता मे सगीत का आभ्यन्तरीकरण—कविता म सगीत शब्द-सगीत, भाव-सगीत और अर्थ-सगीत—कविता मे छन्द और लय की स्वीकृति—काव्य और सगीत की तात्त्विक निकटता का प्रमाण—लय सभी ललित कलाओ का अनिवार्य तत्त्व—क्रम-सगत लय और क्रमहीन लय—कवियो और सगीतकारो मे साम्य—आर एस.

डिया' तथा 'इमेज' की पारस्परिक अनुकूलता—रोमाण्टिक कला एवं आध्यात्मिक क्रिया—वस्तुतान्त्रिक कला और आत्मतान्त्रिक कला—हीगेल के वर्गीकरण पर आपत्ति—वर्गीकरण के आधार की उभयनिष्ठता—बोसाके का मन्तव्य—क्रोचे का अभिव्यञ्जनावाद—विचारात्मक और व्यवहारात्मक क्रियाएँ—व्यवहारात्मक क्रिया आर्थिक और नैतिक—विचारात्मक क्रिया और सौन्दर्य-सृजन—ज्ञान के दो रूप सहज ज्ञान और तर्कात्मक ज्ञान—सहजज्ञान से सौन्दर्य-सृजन और कला का निर्माण—सहजज्ञान से बिम्बों की प्राप्ति—तर्कात्मक ज्ञान से विचार-बोध (कन्सेप्ट) की उपलब्धि—कला-सृजन म सहजज्ञान की प्राथमिकता—सहजज्ञान और अभिव्यक्ति मे अविनाभाव सम्बन्ध—अभिव्यक्ति की पूर्णता और अपूर्णता से ही 'सुन्दर' और 'कुरूप' का निर्णय—क्रोचे के अनुसार मनुष्य की चार वृत्तियाँ वीक्षामूलक, तर्कमूलक, व्यवहारात्मक और योगक्षेममूलक—क्रोचे के मत की आलोचना—सहजज्ञान अन्तर्मुख भावन और अभिव्यक्ति वहिर्मुख क्रिया—अभिव्यक्ति का गुण कलाकार की विशेषता—सहजज्ञान मे विचारतत्त्व—सहजज्ञान की सभी अभिव्यक्तियाँ अनिवार्यत कलात्मक नही—नन्दतिक सहजज्ञान मे भी विचार-तत्त्व का समावेश—सामान्य सहजज्ञान और कलात्मक (नन्दतिक) सहजज्ञान मे अन्तर—जाक मारितै के विचार—सहजज्ञान मे प्रभाव और सवेदन—क्रोचे और काण्ट का सहजज्ञान—अभिव्यक्ति की पूर्णता और सौन्दर्य—सौन्दर्य के निर्णय मे बहुमत का प्रश्न—पाश्चात्य रूप विधानवादियो के विचार—नेत्र-रचना की भिन्नता तथा शारीरिक प्रत्यर्थता के अन्तर की उपेक्षा—व्यक्तिगत रुचि-सस्कारो और आसगो की उपेक्षा—'डिनेमिकसिमेट्री' का सिद्धान्त—समानुभूति का सिद्धान्त—इस सिद्धान्त की आलोचना—तटस्थ भावन का सिद्धान्त—तटस्थता का प्रयोजन—तटस्थता एक आशिक अनासक्ति—तटस्थता का सिद्धान्त और भारतीय काव्यशास्त्र—प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र की सीमाएँ और उपलब्धियाँ—सौन्दर्य बोध और द्रष्टा की रुचि—सौन्दर्य-बोध और प्रत्यर्थता (रेस्पॉन्स) की प्रणाली—भावात्मक सवेग और अभावात्मक सवेग—भावात्मक (पाजिटिव) सवेग और सौन्दर्यानुभूति—सौन्दय भावन और चेती नाडीसस्थान—प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र और जीवविज्ञान—सौन्दर्य-भावन और नेत्र-मस्तिष्क-सम्बन्ध—मानवेतर प्राणियो मे सौन्दर्य चेतना—सौन्दर्य-चेतना एक सामाजिक सस्कार—बहुकोषी प्राणियो मे सौन्दर्यप्रियता—चार्ल्स डार्विन का मन्तव्य—सौन्दर्य के प्रति भारतीय दृष्टिकोण—सौन्दर्य और आनन्द—सौन्दर्य-प्रतीति मे सात प्रकार के विघ्न—वीतविघ्ना प्रतीति और आचार्य शुक्ल की 'अन्तस्सता की तदा-

कार परिणति'—सौन्दर्यानुभूति और विदग्धता, कालिदास तथा रस्किन की दृष्टि—आकृतिनिष्ठ सौन्दर्य और सार्वकालिक मनोज्ञता—भारतीय सौन्दर्य-चिन्तन में अत्याधुनिक पाश्चात्य विचारणाओं के बीज—दासगुप्त का मन्तव्य—भारतीय सौन्दर्य-चेतना और धार्मिक आग्रह—भारतीय दृष्टि और अन्तरंग सौन्दर्य—शांकर अद्वैतवाद और सौन्दर्य—सौन्दर्यानुभूति और सम्प्रज्ञात समाधि—सौन्दर्याभिव्यक्ति और अभिप्रायोग—सौन्दर्य-बोध और ऋतम्भरा प्रज्ञा—भारतीय कला में रहस्यमय सौन्दर्य—सौन्दर्य-विवेचन में 'कुम्भ' का सौन्दर्य-चेतना से सम्बन्ध—सौन्दर्य-बोध और उदात्त-भावन-उदात्त-भावन में पान और आह्लादन—उदात्त में विशालता और लोकातिशयता—उदात्त में आकृति-विधान का अंतरिक महत्त्व—आत्म-निष्ठता और मानस-चाप की अधिकता—उदात्त सौन्दर्य का विस्तार—उदात्त पर हीगेल के विचार—उदात्त असीम की अपूर्ण अभिव्यक्ति—उदात्त-भावन और चित्त का उन्मेष—उदात्त उत्कृष्ट संवेग की सशक्त अनुभूति—दृश्य कलाओं एवं वाचिक कलाओं में उदात्त का आधान—उदात्त ललित कला और उपयोगी कला का विशिष्ट विभाजक गुण—परिमाण अथवा आकृति विस्तार के आधार पर उदात्त के कई स्तर—ब्रैडले के विचार—कलाकार की शैली में उदात्त—शैलीगत उदात्त पर लोंजाइनस के विचार—अन्तरंग तत्त्व और बहिरंग तत्त्व—लोंजाइनस के सिद्धान्त पर डॉ० नगेन्द्र के विचार—उदात्त के प्रकार—सौन्दर्यानुभूति की अवस्था—आई० ए० रिचर्ड्स के विचार—सौन्दर्यानुभूति ह्लादांश, ज्ञानांश संस्कारांश और व्यापारांश—ऐन्द्रिय ज्ञान और संवेदन के दो प्रकार—क्या सौन्दर्यानुभूति लक्षण विशिष्ट है?—सौन्दर्यानुभूति के आविर्भाव की दो स्थितियाँ—सौन्दर्यानुभूति की विशिष्टता के पक्ष में रोजर फ्राय आनन्द कुमार स्वामी और सन्तायना के विचार—सौन्दर्यानन्द ब्रह्मानन्द अभिनवगुप्त के विचार—सौन्दर्यानुभूति की विशिष्टता ही मान्य—सौन्दर्यानुभूति और चमत्कार—सौन्दर्यानुभूति क्रमबद्ध प्रक्रिया—सौन्दर्यानुभूति पर भट्टनायक और अभिनवगुप्त के विचार—अभिनवगुप्त की मान्यता पर रनियर ग्नोली की धारणा—सौन्दर्यानुभूति और कलानुभूति—कलानुभूति का स्वरूप—कलानुभूति में चयनशीलता और रसात्मकता—कलानुभूति में निर्वैयक्तिकता का अभ्युदय—कलानुभूति का सातत्य और उद्दीपन-सापेक्षता—कलानुभूति के प्रकार मौलिक और प्रेरित—मौलिक कलानुभूति के तीन कार्य—सहज कलानुभूति और सकुल कलानुभूति—निष्कर्ष।

का कल्पना से साम्य—कारयित्री प्रतिभा रचनात्मक कल्पना—भावयित्री प्रतिभा ग्राहिका कल्पना—सहजा कारयित्री प्रतिभा बिम्बविधायिनी कल्पना—अभिनवगुप्त प्रतिभा एवं प्राक्तन संस्कार—अभिनवगुप्त की 'अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रतिभा और कॉलरिज का 'एजेम्प्लास्टिक पावर'-ध्वनिवादियो की 'प्रतिभा' और कॉलरिज का 'प्राइमरी इमाजिनेशन'—भामह की परम्परा मे आनेवाले आचार्यो के द्वारा निरूपित प्रतिभा से ही कल्पना का साम्य— कल्पना पर प्रमुख पाश्चात्य-विचारकों के मत—प्लेटो, अरस्तू, हॉब्स, काण्ट, हीगेल और ई जे फुर्लांग की धारणाएँ—कल्पना के दार्शनिक निरूपणों की आलोचना—एडिसन का कल्पना-सिद्धान्त—कल्पना के सैद्धान्तिक निरूपण म एडिसन का ऐतिहासिक महत्त्व—ब्लेक, वर्ड्स्वर्थ और कीट्स की कल्पना सम्बन्धी धारणाएँ—कॉलरिज का कल्पना सिद्धान्त—कॉलरिज और काण्ट—कॉलरिज पर डेविड हर्ट्ले का प्रभाव—कॉलरिज के कल्पना-निरूपण मे आध्यात्मिकता—कल्पना और विरोधिसमागम—'प्राइमरी' और 'सेकेण्डरी' कल्पना—'सेकेण्डरी' कल्पना से ही कलाओं का सम्बध—कॉलरिज के मत की आलोचना—कल्पना और आधुनिक विचारक—हिन्दी साहित्य म कल्पना का निरूपण—कल्पना सम्बन्धी पाश्चात्य धारणाओं का पिष्टपेषण—बाबू श्यामसुन्दर दास और आचार्य शुक्ल का कल्पना-सिद्धान्त—कल्पना के द्वारा विभाव अनुभाव की योजना—शुक्लजी की मुख्य मान्यताएँ—आचार्य शुक्ल और एडिसन—शुक्लजी के कल्पना-सिद्धान्त की सीमाएँ—शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचना में कल्पना-निरूपण—कल्पना और 'फैंसी'—'फैंसी' मे तर्क और इच्छा शक्ति—'फैंसी' मे स्मृति और भावना का नगण्य स्थान—कल्पना और 'फैंसी' मे अभेद माननेवाले विचारक—कल्पना, 'फैंसी' और प्रतीति-भ्रम—'फैंसी' के मुख्य प्रकार—कल्पना और 'फैंसी' के पार्थक्य पर कॉलरिज की धारणाएँ—'फैंसी' और लोकविश्रुत कथा रूढ़ियाँ—कल्पना और 'फैंसी' की सहस्थिति की सम्भावना—कल्पना के अन्तर्गत अति कल्पना (फैंसी) का विधान—'फैंसी' की तुलना में कल्पना का ऊँचा स्थान-सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से कल्पना का महत्त्व—कल्पना और स्मृति—स्मृति का स्वरूप—स्मृति और प्रत्यभिज्ञान—स्मृति ज्ञातविषयक ज्ञान—स्मृति और संस्कारोद्बोध—स्मृति के उद्दीपन सादृश्य, अदृष्ट और चिन्ता—'सादृश्य' से कल्पना का घनिष्ठ सम्बन्ध—कल्पना और प्रत्यभिज्ञा—प्रत्यभिज्ञा मे 'तत्ता' और 'इदन्ता' की प्रतीति—प्रत्यभिज्ञा पर आश्रित कल्पना के उदाहरण तत्ता-इदन्तावोधक शब्द और कल्पना-विधान—प्रत्यभिज्ञा का आलम्बन कल्पना का विभाव—काल की दृष्टि से स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और कल्पना का अन्तर

(थ्योरी आव आर्केटाइप इमेज)—आद्य बिम्ब और जातीय अनुभूति—बिम्ब विधान म आगम और अनुपात-निर्वाह का महत्त्व—उत्कृष्ट बिम्ब-विधान में सयाजनसूत्रता और सग्रथन-कौशल, बिम्बो मे ताजगी, तीव्रता और उद्बोधनशीलता के गुण—पारम्परीण बिम्ब (कन्वेंशनेटेड इमज) और उद्बोधनशीलता—बिम्बो के प्रकार—लक्षित बिम्ब और उपलक्षित बिम्ब—काव्य के क्षेत्र मे उपलक्षित बिम्ब का महत्त्व—सक्षिप्त बिम्ब और प्रसृत बिम्ब—प्राथमिक बिम्ब, विकसित बिम्ब और व्युत्पन्न बिम्ब—प्राथमिक बिम्ब की रचना मे चेतन मन का योग—मूर्त्तता और सूक्ष्मता के आधार पर बिम्बो का वर्गीकरण मूर्त्त बिम्ब और अमूर्त्त बिम्ब—इस वर्गीकरण की निरर्थकता—बिम्बो के वर्गीकरण म मतैक्य का अभाव—बिम्बो को केवल शब्दाश्रित मानकर किया गया विवेचन—काव्येतर ललित कलाओं की दृष्टि से बिम्बो के सौन्दर्यशास्त्रीय विवेचन की आवश्यकता—ऐन्द्रिय बोध के अनुसार बिम्बो का विभाजन—सकुल अथवा मिश्र बिम्ब और ऐन्द्रिय प्रतीतियों का मिश्रण—चाक्षुष, श्रावण, स्पार्शिक, घ्राणिक, राशनिक, आगिक अथवा जैव, वगाद्भेदक (किनेस्थटिक) और गत्वर बिम्ब—सश्लेषणात्मक चाक्षुष बिम्ब और विश्लेषणात्मक चाक्षुष बिम्ब—कला जगत् मे चाक्षुष बिम्बो का महत्त्व—चित्रकला के क्षेत्र मे चाक्षुष बिम्बो के प्रधान उपकरण—श्रावण बिम्ब और ध्वनि-कल्पना—स्पार्शिक बिम्ब और शारीरिक सौन्दर्य-चेतना या सन्निकर्ष प्रधान रूप-भावना—वगोद्भेदक बिम्बो मे *तिग्मध्यान गुण, विस्फोट और विध्राट—सहसवेदनात्मक सश्लिष्ट* बिम्ब और समानुभूतिक बिम्ब—सहसवेदनात्मक सश्लिष्ट बिम्ब विधान मे मानवीकरण, सकोचन और विपर्यय का योग तथा बोध मिश्रण या बाध-विपर्यय का समायोजन—बिम्ब और थ्योरी ऑव इम्पैथी—मूर्तिकला और चित्रकला—प्रतिरूपात्मक कलाओ म समानुभूतिक बिम्बो की प्रधानता—समानुभूतिक बिम्ब मे कलाकार के शरीरस्थ भाव सचरण या अन्तर्वृत्ति का आरोप—हिन्दी आलोचना म बिम्बो का विवेचन—बिम्ब विधान पर केवल काव्य की दृष्टि से आचार्य शुक्ल के विचार—विज्ञान के अन्तर्गत बिम्ब-विधान—बिम्ब-विधान और सश्लिष्ट रूपयोजना—बिम्ब विधान आलम्बन का मार्मिक ग्रहण—प्रत्यक्ष रूप विधान, स्मृत रूप-विधान और कल्पित रूप-विधान—हिन्दी आलोचना म बिम्बो के तात्त्विक विवचन का अभाव—सभी ललित कलाओं को ध्यान मे रखत हुए सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से बिम्बो के विवेचन की आवश्यकता—निष्कर्ष ।

सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व

पूर्वपीठिका

(क) सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन का स्वरूप
(ख) ललितकलाओ का तात्त्विक अन्त सम्बन्ध

(क) सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन का स्वरूप

सौन्दर्यशास्त्र हिन्दी म 'एस्थेटिक्स' का पर्याय बनकर प्रचलित हुआ है। कुछ लोग इस नन्दनशास्त्र भी कहते हैं। किन्तु सौन्दर्यशास्त्र के सच्चे स्वरूप और व्यपदेश को अच्छी तरह समझने के लिए 'एस्थेटिक्स' शब्द पर ही विचार करना आवश्यक है। कहा जाता है कि एस्थेटिक्स' शब्द ग्रीक भाषा से लिया गया है, जिसका मूल रूप है—atoQnTıkos। यही ग्रीक शब्द बाद मे 'Aesthesis' बनकर उपस्थित हुआ, जिसका अर्थ होता है—ऐन्द्रिय सुख की चेतना। तदनन्तर, इस 'Aesthesis' से 'एस्थेटिक' शब्द बना। पाश्चात्य साहित्य मे पहले 'एस्थेटिक' शब्द ही प्रचलित था, 'एस्थेटिक्स' नही। बाउमगार्तेन ने भी 'एस्थेटिक' शब्द का प्रयोग किया था। बहुत बाद मे इस शब्द का बहुवचन रूप 'एस्थेटिक्स' प्रचलित हुआ। इस अभिधान का अर्थ विकास क्रमश इस प्रकार हुआ है—

1 सर्वप्रथम बाउमगार्तेन ने इसका प्रयोग सवेदनशील ऐन्द्रियबोध के शास्त्र क अर्थ मे किया।

2 तत्पश्चात्, हीगेल ने इसका प्रयोग ललितकलाओ के दर्शन के अर्थ मे किया।

3 तदनन्तर, इसका सामान्य प्रयोग सौन्दर्य (काव्य का सौन्दर्य अथवा प्रकृति का सौन्दर्य) के विश्लेषणात्मक निरूपण के अर्थ म होने लगा।

4 अब इस शब्द के अर्थ का सुनिर्णीत व्यपदश-निर्धारण हो गया है। इसका अर्थ है ललितकलाओ के तत्वो का सैद्धान्तिक निरूपण और उसके आधार पर कलाकृतियो का मूल्याकन। (प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे 'सौन्दर्यशास्त्र' का प्रयोग इसी अर्थ मे किया गया है।)

इस प्रकार यह आशय निकला कि 'एस्थेटिक्स' का शाब्दिक अर्थ (साथ ही प्रारम्भ मे प्रचलित अर्थ) है ऐन्द्रिय प्रत्यक्षो का ज्ञान के माध्यम की दृष्टि से किया गया अध्ययन। किन्तु, बाद म 'एस्थेटिक्स' उस शास्त्र को कहा जाने लगा, जो

ऐन्द्रियबोध स प्राप्त सौन्दर्य-भावन के मनोमय आनन्द का विश्लेषण करता है।[1]

इस प्रसग मे दो बातें ध्यातव्य हैं। पहली बात यह है कि सौन्दर्यशास्त्र के *अन्तर्गत विचारणीय ऐन्द्रिय बोधो या प्रत्यक्षो मे प्राय चाक्षुष और श्रावण प्रत्यक्षो* की प्रमुखता रहती आयी है। दूसरी बात यह है कि सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत प्रधानत तीन प्रकार के सौन्दर्य पर विचार किया जाता है—ऐन्द्रिय सौन्दर्य, विधानगत सौन्दर्य और अभिव्यक्तिगत सौन्दर्य। सौन्दर्य के शेष प्रकार भी 'एस्थेटिक्स' के अन्तर्गत विवेचित होते रहे है, किन्तु प्रधानता उक्त तीन प्रकारो को ही मिलती रही है। यहाँ यह धारणा समीचीन मालूम पडती है कि प्रथम अर्थ-विकास के अनुसार 'एस्थेटिक्स' वह शास्त्र है जिसका सम्बन्ध कला और प्रकृति मे व्याप्त समग्र 'सुन्दर' और 'उदात्त' से है। कहा जाता है कि इसी अर्थ मे 'एस्थेटिक्स' शब्द का प्रचार जर्मनी, फ्रास, इगलैण्ड, इटली और हॉलैण्ड मे हुआ। इस अर्थारोहण के पश्चात् 'एस्थेटिक्स' का विषय सौन्दर्यानुभूति का सम्पूर्ण क्षेत्र बन गया है।[2] किन्तु, इसके बाद भी 'एस्थेटिक्स' का उचित अर्थ निर्धारण या व्यपदेश-परिसीमन पूर्णरूपेण नही हो सका।[3] इस अनिर्णीत व्यपदेश या अनिश्चित अर्थ प्रतिपत्ति का एक प्रमुख कारण यह है कि दर्शनशास्त्र[4] और मनोविज्ञान ने सौन्दर्यशास्त्र के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को अपहृत करने की सर्वाधिक चेष्टा की है। एक ओर **पचपगेश शास्त्री** जैसे लेखक हैं, जिन्होने सौन्दर्यशास्त्र को दर्शनशास्त्र का अनुचर बनाकर यह लिख दिया कि सौन्दर्यशास्त्र रसानुभूति स प्राप्त आनन्द का दार्शनिक विवेचन है[5] और दूसरी ओर **चार्ल्स मोरो** जैसे मनोविज्ञान-प्रेमी विचारक हैं, जिन्होने औचित्य की अवहेलना कर सौन्दर्यशास्त्र को मनोविज्ञान की एक शाखा के रूप मे स्वीकार किया है।[6] किन्तु, हमे यह ध्यान मे रखना है कि दर्शनशास्त्र और मनोविज्ञान की तुलना मे अनेक व्यावर्तक गुणो को रखने के कारण सौन्दर्यशास्त्र का स्वतन्त्र व्यक्तित्व है,

1 Encyclopaedia Britannica, eleventh edition, 1910, p 216
2 *The Earl of Listowel* A Critical History of Modern Aesthetics George Allen and Unwin London, 1933, *Introduction*, p 12
3 "The word 'aesthetic' is not a particularly happy one It is often vaguely used in philosophy as well as in ordinary speech and, in some quarters, it has become a byword of opprobrium- a sort of symbol of intellectual weakness "---*William Knight*, The Philosophy of the Beautiful John Murray, London 1891, Preface, p 6 7
4 "Aesthetic theory is a branch of philosophy "— *Bernard Bosanquet*, A History of Aesthetic George Allen and Unwin, London, 1949, Preface, p 11
5 The Philosophy of Aesthetic Pleasure, *P Panchpagesa Sastri*, Annamalai University, Annamalainagar, 1940
6 Aesthetics and Psychology by *Charles Mauron*, Hogarth Press, London 1935

जिसका समर्थन आगामी विवेचन में होगा।

सौन्दर्यशास्त्र के व्यपदेश-निर्धारण की समर्थ चेष्टा हीगेल ने की है। इन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'द फिलासफी ऑव फाइन आर्ट' की भूमिका में सौन्दर्यशास्त्र पर विचार करते हुए यह मन्तव्य व्यक्त किया है कि सौन्दर्यशास्त्र का सम्बन्ध सौन्दर्य के सम्पूर्ण क्षेत्र से माना जा सकता है, किन्तु, सही अर्थ में सौन्दर्यशास्त्र का सम्बन्ध ललितकलाओं के माध्यम से अभिव्यक्त सौन्दर्य के साथ है, अन्य माध्यमों से अभिव्यक्त सौन्दर्य के साथ नहीं। हीगेल से पूर्व एक ऐसी धारणा प्रचलित थी, जिसके अनुसार सौन्दर्यशास्त्र को संवेग या ऐन्द्रिय अनुभूतियों का विज्ञान माना जाता था। अतः हीगेल ने सौन्दर्यशास्त्र के व्यपदेश-निर्धारण की समस्या को हल करते हुए अपनी दार्शनिक दृष्टि के अनुसार यह लिखा है कि सौन्दर्यशास्त्र ललित-कलाओं का दर्शन है।[1]

तदनन्तर, क्रोचे ने 'एस्थेटिक्स' को अभिव्यक्ति की पुनः प्रत्यक्षात्मक तथा कल्पनात्मक क्रियाओं का विज्ञान माना है।[2] मतलब यह कि, क्रोचे के अनुसार सौन्दर्यशास्त्र का विषय मनुष्य की कल्पना, पुनः प्रत्यक्ष और अभिव्यक्ति से सम्बद्ध है। काल की दृष्टि से क्रोचे ने सौन्दर्यशास्त्र को प्राचीन नहीं, नवीन माना है।[3] कारण, इनकी दृष्टि में भी सौन्दर्यशास्त्र का पहला ग्रन्थकार बाउमगार्तेन ही है, जिसने 1750 ई में सर्वप्रथम 'एस्थेटिक' नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित किया था।[4] क्रोचे ने बाउमगार्तेन के बाद सौन्दर्यशास्त्र का दूसरा महत्त्वपूर्ण उद्भावक विको को माना है और क्रोचे का कहना है कि विको के काल से ही सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन की एक निश्चित परम्परा प्रारम्भ हुई है। इसी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में क्रोचे ने सौन्दर्यशास्त्र को 'द साइन्स ऑव एक्सप्रेसन' की आख्या देकर स्थापित किया है।

अत्याधुनिक विचारकों में लैंगर ने सौन्दर्यशास्त्र के व्यपदेश और सीमा-विस्तार पर बहुत मौलिक ढंग से विचार किया है। लैंगर का कहना है कि विंकेल-मान और हेर्डर के काल से अब तक कलाओं की प्रवृत्ति और अर्थवत्ता पर चिन्तन-मनन किया जाता रहा है, जिस चिन्तन-मनन के संग्रह-स्वरूप 'एस्थेटिक्स' के नाम से दर्शनशास्त्र का एक अलग निकाय ही बन गया है। इस निकाय (अर्थात् सौन्दर्य-

1 *G. W F Hegel* The Philosophy of Fine Art, Volume I, translated by F P B Osmaston, G Bell and Sons, London, 1920, p 2

2 " Aesthetics is the science of the expressive (representative or imaginative) activity "—*Bendetto Croce*, Aesthetic translated by Douglas Ainslie, Vision Press, Peter Owen, London, 1953, p 155

3 वही, पृ 156।

4 वही, पृ 212।

सन्दर्भ मे मूल्य बोध को इस प्रकार अत्यधिक महत्त्व देने का कारण यह है कि सन्तायना ने सौन्दर्य को मूल्य का ही एक प्रकार माना है।[1] यहाँ स्पष्ट है कि सन्तायना की उपर्युक्त मान्यता का मूल्यदर्शन (एक्जियॉलाजी) की दृष्टि से जो भी महत्त्व हो, किन्तु यह मान्यता व्यावहारिक दृष्टि से सौन्दर्यशास्त्र और काव्यशास्त्र के *अन्तर को निर्दिष्ट करने में असमर्थ है।*[2] दूसरी *ओर सौन्दर्यशास्त्र और* काव्यशास्त्र के स्वरूप तथा पार्थक्य पर एकदम व्यावहारिक दृष्टि से सोचनेवाले ऐसे विचारक हैं, जिन्हे किसी प्रकार के दार्शनिक चिन्तन के लिए धैर्य धारण करना स्वीकार नही है। उदाहरणार्थ, **सेंट्सबरी** ने काव्यशास्त्रीय आलोचना को सौन्दर्यशास्त्र से नितान्त पृथक् रखने की वकालत की है। **सेंट्सबरी** ने आलोचना का इतिहास लिखते समय पहले ही अध्याय मे यह धारणा व्यक्त की है कि सौन्दर्यशास्त्र के महत्त्वाकाक्षी सिद्धान्तो और हृदयावर्जक नन्दतिक रचनाओ को आलोचना के साथ मिला देने पर आलोचनाशास्त्र की अपेक्षित 'निर्णय भावना' धूमिल और खण्डित हो जाती है।[3]

मेरी दृष्टि मे भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन करने मे काव्यशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र का स्वरूपभेद या साम्य अधिक सटीकता के साथ निर्दिष्ट किया जा सकता है। इस प्रश्न पर भारतीय विचारक प्राय दो खेमा मे बँट गये है। एक खेमे मे वे विचारक आते हैं, जिन्हे 'पुरातन प्रतिपादन' बहुत ही प्रिय है और जिनके लिए ज्ञान विज्ञान की अच्छी या बुरी सभी नव्यतम उपलब्धियो को भारत के प्राचीन वाङ्मय मे ढूँढ लेना अभीष्ट है। ऐसे विचारको मे **श्री के एस. रामस्वामी** का नाम उल्लेखनीय है। इन्होने इस धारणा का खण्डन किया है कि सौन्दर्यशास्त्र एक पाश्चात्य शास्त्र है और भारत मे काव्यशास्त्र रहा है, किन्तु सौन्दर्यशास्त्र कदापि नही। इस सामान्य धारणा के विपरीत इन्होने अपनी पुस्तक 'इण्डियन एस्थेटिक्स' मे यह मत बहुत बल के साथ प्रतिपादित किया है कि सौन्दर्यशास्त्र केवल पाश्चात्य देशो मे ही विकसित नही हुआ है, बल्कि भारतवर्ष मे भी इसकी स्पष्ट परम्परा है।[4] इस परम्परा को ध्यान मे रखते हुए इन्होने भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की कुछ अनन्वय विशेषताओ का निर्देश

1 " beauty is a species of value "—*George Santayana*, The Sense of Beauty, p 20
2 *Willard E Arnett*, Santayana and the Sense of Beauty, Indiana University Press, *Bloomington, 1957, p 135*
3 George Saintsbury A History of Criticism, Volume I William Blackwood and Sons London, 4th edition, Chapter I, p 3
4 " not only is outer India a home of beauty and romance but inner India is even more truly such a home Indian art and Aesthetics have a history extending over thousands of years "—*K S R Sastri*, Indian Aesthetics, 1938, p 1

किया है। जैसे—भारतीय सौन्दर्यशास्त्र में आनन्द और रस की धारणा[1] अथवा अभिनवगुप्त द्वारा निरूपित काव्य-तत्त्वों के बीज 'चारुत्वप्रतीति' की धारणा। ऐसे लचीले दृष्टिकोण से देखने पर हम तथाकथित भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत क्षेमेन्द्र के 'औचित्य-सिद्धान्त' को विशेष महत्त्वपूर्ण मान सकते हैं, क्योंकि यह औचित्य-सिद्धान्त काव्य की तरह अन्य ललितकलाओं पर भी सामान्य रूप से लागू होता है। इस दृष्टि से क्षेमेन्द्र की **'औचित्य-विचार-चर्चा'** विचारणीय है। क्षेमेन्द्र के अलावा अन्य विचारकों ने भी औचित्य के रूप और प्रकार का विश्लेषण किया है। जैसे, भोज ने औचित्य के निम्नलिखित प्रकारों का निरूपण किया है[2]—1. विषयौचित्य, 2 वाच्यौचित्य, 3 देशौचित्य, 4 समयौचित्य, 4 वक्तृ-विषयौचित्य, और 6 अर्थौचित्य।[3] आशय यह है कि रस-सिद्धान्त से भी बढकर औचित्य-विचार ही भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का वह आधार-सूत्र है, जो सभी ललित-कलाओं पर समान रूप से लागू हो सकता है। सचमुच, औचित्य की भावना रस, ध्वनि इत्यादि सभी काव्य-तत्त्वों की मूल भावना है। क्षेमेन्द्र ने इस तत्त्व का 'औचित्य-विचार-चर्चा' में मुख्य निरूपण किया है। उन्होंने बार-बार इसे कहना चाहा है कि औचित्य ही रस का प्राण है—

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारु चर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥

अत भारतीय आलोचनाशास्त्र के तीन प्रमुख सिद्धान्तों—रस-सिद्धान्त, ध्वनि-सिद्धान्त और औचित्य-सिद्धान्त—मे अन्तिम सिद्धान्त ही वह व्यापकतम सिद्धान्त है, जो सभी ललितकलाओं के लिए एक सर्वमान्य निकष प्रस्तुत कर सकता है।

इस प्रकार भारतवर्ष के विचारकों का एक वर्ग सौन्दर्यशास्त्र को काव्यशास्त्र, अलकारशास्त्र, साहित्यशास्त्र या साहित्यविद्या का पर्याय मानता है। किन्तु, ऐसा मानना दूसरे खेमे के विचारकों की दृष्टि में अनुचित है, क्योंकि काव्यशास्त्र केवल काव्य का शास्त्र है और उसके अध्ययन की सीमा केवल काव्य तक सीमित है,

1 रस और आनन्द की धारणा का समन्वय उपस्थित करते हुए मम्मट ने लिखा है—"सकल प्रयोजन मौलिभूत समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूत विगलित वेद्यान्तरमानन्दम्।"—काव्य-प्रकाश, चौखम्बा विद्याभवन, बनारस 1, 1955, प्रथम उल्लास, पृ 5

2. Dr Suryakant Ksemendra Studies, Poona, 1954, p 74

3 भोज ने 'शृङ्गार प्रकाश' के ग्यारहवें खण्ड मे अपने ग्रन्थ के महत्त्व को निर्दिष्ट करते हुए लिखा है कि इस ग्रन्थ मे उस औचित्य का भी निरूपण है, जो अखिल कला-काव्य के मूल मे सन्निविष्ट है—"एतस्मिन शृङ्गारप्रकाशे सुप्रकाशमेव अशेषशास्त्रार्थ सम्पदुपनिषदाम् अखिल कला-काव्य—औचित्य—कल्पना—रहस्याना च सन्निवेशो दृश्यते।" भोज की इस उक्ति से औचित्य-सिद्धान्त की स्थितिस्थापकता और कलाशास्त्रीय महत्त्व पर प्रकाश पडता है। सचमुच, औचित्य ही रस की भी परा उपनिषद् (परम रहस्य) है।

जबकि सौन्दर्यशास्त्र सभी ललितकलाओ का शास्त्र है और उसकी सीमा काव्य के साथ सभी काव्येतर कलाओ—स्थापत्य, मूर्ति, चित्र और सगीत तक फैली हुई है।[1] इसलिए सौन्दर्यशास्त्र मात्र काव्यशास्त्र नही, बल्कि कलाशास्त्र है। इस तथ्य को हम दूसरे ढग से भी उपस्थित कर सकते है कि काव्यशास्त्र सौन्दर्यशास्त्र की एक अगीभूत शाखा है, कारण, काव्यशास्त्र जहाँ केवल काव्य को प्रधानत दृष्टि मे रखकर उसकी आलोचना या अभिशसन प्रस्तुत करता है, वहाँ सौन्दर्यशास्त्र सभी ललितकलाओ के सर्वसामान्य, किन्तु, प्रधान तत्त्वो का आलोचन और विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अत सौन्दर्यशास्त्र के निष्कर्ष प्राय सभी ललित-कलाओं को दृष्टि मे रखकर निकाले जाते है, जबकि काव्यशास्त्र के निष्कर्ष केवल काव्य को लक्ष्य कर निकाले जाते है, यद्यपि काव्यशास्त्र अपनी मान्यताओ के स्थापन मे सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन और उसके निष्कर्षों का साहाय्य लेता है। ततोऽप्यधिक, काव्यशास्त्रीय अध्ययन भी तभी परिपूर्ण और उत्तम होना है जबकि वह सौन्दर्यशास्त्र के अधीत तत्त्वो और निर्धारित मान्यताओं स आलोक ग्रहण कर निष्पन्न होता है। इसलिए प्रस्तुत प्रबन्ध मे चार प्रमुख काव्य-तत्त्वों का मात्र काव्यशास्त्रीय अध्ययन नही, बल्कि सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन उपस्थित किया गया है, ताकि दृष्टिकोण की व्यापकता के साथ ही काव्य के अन्तर्गत समाहित सामान्य कला-तत्त्व की अधिकारपूर्ण समीक्षा हो सके।

तदनन्तर, काव्यशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र मे एक ध्यातव्य अन्तर यह है कि सौन्दर्यशास्त्र मे कलाओं के सूक्ष्म तात्त्विक सिद्धान्त-परिकल्पन पर विशेष बल दिया जाता है, जबकि काव्यशास्त्र मे रस-विवेचन, शब्द-शक्ति-विश्लेषण जैसे कुछ ही स्थलो पर सूक्ष्म-तात्त्विक सिद्धान्त-परिकल्पन की प्रसगवश आवश्यकता पडती है। इसीलिए एस. कुप्पुस्वामी शास्त्री ने जहाँ वामन के 'काव्यालंकारसूत्र' के 'सौन्दर्यमलकार' को ध्यान मे रखते हुए अलकारशास्त्र (काव्यशास्त्र) को सौन्दर्य-शास्त्र कहना चाहा है, *वहाँ उन्हें इसका खटका बना रहा है कि अलकारशास्त्र या* काव्यशास्त्र मे सौन्दर्यशास्त्र की सर्वोपरि विशेषता—सूक्ष्म तात्त्विक सिद्धान्त-परिकल्पन—का समावेश कर लेना कठिन है।[2] इस तरह अलंकारशास्त्र या काव्य-शास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र का एक ध्यातव्य अन्तर स्पष्ट हो जाता है। **शास्त्री की** तरह **एस. के. डे** ने भी सस्कृत काव्यशास्त्र को आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र का समीपी माना है,[3] किन्तु वे भी इसके प्रति सचेत हैं कि सौन्दर्यशास्त्र मे जिस दार्शनिक

1 *V Raghavan*, Some Concepts of the Alankar Sastra, p 263
2 S *Kuppuswami Sastri*, Highways And Byways of Literary Criticism In Sanskrit, Madras, 1945, p 4
3 S *K. De*, History of Sanskrit Poetics, Calcutta, 1960, Preface, p 2.

निरूपण की प्रधानता रहती है, वह काव्यशास्त्र मे नही रहता ।[1] इसी मान्यता को तूल देते हुए श्री डे ने सस्कृत काव्यशास्त्र पर आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से अपने दो निबन्धो मे विचार किया है, जो निबन्ध **'सम प्रॉब्लेम्स ऑव सस्कृत पोयटिक्स'** नामक पुस्तक मे सगृहीत है ।[2] इस प्रसग मे श्री डे ने सस्कृत काव्यशास्त्र और आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र के पार्थक्य को निरूपित करते हुए दो प्रमुख बातो की ओर विचारको का ध्यान आकृष्ट किया है । इनकी दृष्टि में पहली बात यह है कि सस्कृत काव्यशास्त्र का व्याकरण से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है,[3] जबकि आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र का व्याकरण से कोई सीधा सम्बन्ध नही है ।[4] विशेषकर, भामह और **वामन** की कृतियाँ सस्कृत काव्यशास्त्र पर व्याकरण के आधिपत्य की घोषणा करती है । दूसरी बात यह है कि सस्कृत काव्यशास्त्र म उस कल्पना-तत्त्व की विचारणाओं को उचित महत्त्व नही मिल सका, जिसे आधुनिक सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन मे सर्वोच्च स्थान दिया जाता है । कवि के कल्पना विधान में ही वह शक्ति रहती है जिसके कारण उसकी कृति को *एक पृथक् व्यक्तित्व और स्वतन्त्र महत्त्व* की उपलब्धि हो पाती है । किन्तु सस्कृत काव्यशास्त्र प्रतिभा विवेचन को छोडकर अन्य प्रसगो मे कल्पना तत्त्व की अवहेलना कर परम्परा और निर्धारित नियमो के उस आलोक मे काव्य कृतियो का अध्ययन करता रह गया, जो कवि तथा उसकी कृति के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को अनालोचित छोड देता है । फलस्वरूप, सस्कृत काव्यशास्त्र का विकास पूर्णाग सौन्दर्यशास्त्र के रूप मे नही हो सका ।[5]

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र और भारतीय काव्यशास्त्र के अन्तर को स्पष्ट करते हुए डॉ के सी पाण्डेय ने लिखा है कि भारतीय काव्यशास्त्र मे पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की तरह काव्येतर कलाओ के विवेचन की प्रवृत्ति नही है । किन्तु काव्य के क्षेत्र मे भारतीय काव्यशास्त्र को नाटक अधिक प्रिय है, जिसके कारण भारतीय काव्यशास्त्र मे अन्य कलाओ का प्रसगवश उल्लेख हो गया है, क्योकि नाटक तो

1 S K *De*, History of Sanskrit Poetics, Calcutta 1960, Preface, p 3

2 S K *De*, Some Problems of Sanskrit Poetics, Calcutta, 1959, pp 1 53

3 जैसे भामह के 'काव्यालकार' और वामन के 'काव्यालकार सूत्र' ऐसे काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो म व्याकरण का समावेश । भामह ने तो काव्यशास्त्र का ध्यान म रखते हुए व्याकरण की प्रशसा म यहाँ तक कह दिया है कि व्याकरण के दुरवगाह समुद्र को पार किये बिना कोई व्यक्ति शब्द रत्न तक पहुँचने म समर्थ नही हो सकता—

ना पारयित्वा दुर्गाधममुं व्याकरणार्णवम् ।
शब्दरत्न स्वयगम्यमल कर्तुमय जन ॥

—भामह, काव्यालकार, षष्ठ परिच्छेद 3

4 S K *De*, Some Problems of Sanskrit Poetics, Firma K L Mukhopadhyay, Calcutta, 1959, p 2.

5 Ibid, p 45

काव्य, सगीत, चित्र और स्थापत्य— सभी कलाओ का समुच्चय है। भरत की यह उक्ति प्रसिद्ध है—

न तज्ज्ञान न तच्छिल्प न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म यन्नाट्येऽस्मिन्न दृश्यते॥[1]

अतः भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की प्रारम्भिक सीमा नाट्यशास्त्र है।[2] इस प्रकार भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की विकास-रेखा को निर्दिष्ट करते हुए यह कहा जा सकता है कि यहाँ सबसे पहले नाट्यशास्त्र का विकास हुआ, दूसरी दशा मे काव्यशास्त्र (जिसमे नाट्यशास्त्र भी गतार्थ है) का, और अन्त मे इन विकास-दशाओ के समीकरण से सौन्दर्यशास्त्र का अवतरण हुआ। तदनन्तर, डॉ. के. सी. पाण्डेय ने भारतीय सौन्दर्यशास्त्र और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र मे एक प्रमुख अन्तर बतलाया है कि भारतीय विचारक मूर्तिकला और चित्रकला को उस रूप मे स्वतन्त्र महत्त्व नही देते, जिस रूप मे हीगेल या अन्य पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रियो ने दिया है। भारतीय विचारको ने प्राय मूर्तिकला और चित्रकला को स्थापत्य की अगीभूत कला के रूप मे स्वीकार किया है। अत के. सी. पाण्डेय का मत है कि भारतीय सौन्दर्यशास्त्र मे पाँच नही, तीन ही कलाओ (स्थापत्य, सगीत और काव्य) को महत्त्व दिया गया है।[3]

मेरे विचार से भारतीय काव्यशास्त्र मे पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की तरह सभी ललितकलाओ पर इसलिए विचार नही किया जा सका कि सस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य की गणना विद्या में की जाती रही और कलाओं की गणना उपविद्या में। निश्चय ही, काव्य और कला के इस वर्ग भेद ने सस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों को समग्र ललितकलाओं के विवेचन से पृथक् रखा। इसी कारण काव्यालकारसूत्र, ध्वन्यालोक, वक्रोक्तिजीवित, काव्यमीमासा, काव्यप्रकाश, साहित्य-दर्पण, रसगंगाधर इत्यादि ग्रन्थों में काव्येतर कलाओ पर विचार नही किया गया है। भारतीय काव्यशास्त्र में यह सिद्धान्तत कहा गया है कि कलाएँ क्रियात्मक है और विद्याएँ ज्ञानात्मक। किन्तु, विद्याओ की सूची देखने से वास्तविकता कुछ भिन्न मालूम पडती है। यो तो विद्याएँ चौदह मानी गयी हैं, जिनमें चार वेद, छह वेदाग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) तथा चार शास्त्र (पुराण, आन्वीक्षिकी, मीमासा और स्मृति) स्वीकृत है, किन्तु, कुछ आचार्य काव्य (जो अब ललितकलाओ में एक है) को भी इसमें पन्द्रहवाँ स्थान देते है। जसे, याया

1 नाट्यशास्त्र, भरत, 1 116
2 *Dr K C Pandey*, Comparative Aesthetics, Volume I, Banaras, 1950, p 1
3 *Dr K C Pandey*, Comparative Aesthetics, Volume II, Banaras 1956, p. 3-4

वरीय **राजशेखर** का मत है कि चौदह विद्याएँ भू, भुवर् और स्वर —तीनों लोकों में व्याप्त हैं, किन्तु, इन चौदह विद्याओं के अतिरिक्त काव्य पन्द्रहवाँ विद्या-स्थान है, क्योंकि यह सभी विद्याओं का एकमात्र आधार है। काव्य के गद्य-पद्यमय होने और हितोपदेशपरक रहने के कारण सभी शास्त्र इस काव्य-विद्या का अनुसरण करते हैं। अतः **राजशेखर** का कथन है—"सकल विद्या स्थानैकायतन पचदश काव्य विद्यास्थानम्।"[1] किन्तु, कला और विद्या के क्षेत्रीय अन्तर को स्पष्ट रखने के लिए विद्याओं की चतुर्दश सख्या ही मान्य होनी चाहिए। यों तो विद्याओं के सख्या-सप्रसारण में कई पुराने आचार्य **राजशेखर** से भी चार डग आगे हैं, जिनमें **भार्गव, बृहस्पति, कौटिल्य** और **गोभिल** उल्लेखनीय हैं। इन आचार्यों ने तर्क, त्रयी, वार्ता और अर्थशास्त्र को मिलाकर विद्याओं की सख्या अठारह घोषित कर दी है। इस प्रकार सस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों ने काव्य की गणना विद्या म करके और कलाओं की गणना उपविद्या मे करके काव्य तथा कलाओं के बीच एक ऐसी चौडी दीवार खडी कर दी कि यहाँ सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन या समग्र ललितकलाओं के तात्त्विक विचार का मार्ग ही अवरुद्ध हो गया। बाद मे हिन्दी के कुछ प्रमुख विचारकों ने भी इसी मार्ग का अनुसरण किया, जिसके कारण हिन्दी आलोचना साहित्य मे सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन का विकास बहुत दिनों तक बाधित रह गया। आधुनिक हिन्दी साहित्य के इन विचारकों मे **जयशकर प्रसाद** और आचार्य **रामचन्द्र शुक्ल** प्रधान हैं। **प्रसादजी** ने सस्कृत आचार्यों के अनुरूप काव्य की गणना विद्या मे और कलाओं की गणना उपविद्या मे की है। **प्रसादजी** के कला सिद्धान्त पर टिप्पणी देते हुए उनके विशिष्ट प्राक्कथन-लेखक आचार्य **नन्ददुलारे वाजपेयी** ने यह मत व्यक्त किया है कि "कला शब्द का भारतीय व्यवहार पाश्चात्य व्यवहार से भिन्न है। यहाँ कला केवल छन्द-रचना के अर्थ मे व्यवहृत हुई, इसीलिए काव्य की नही, समस्यापूर्ति की गणना कला मे की गयी। स्पष्ट ही काव्य केवल समस्यापूर्ति नही है, समस्यापूर्ति या छन्द तो उसका वाहनमात्र है —बिना सवार का घोडा।"[2] किन्तु **प्रसादजी** कलाओं मे काव्य के अन्तर्गणन का विरोध तर्क के बदले परम्परा की दृष्टि से करते हैं। उनका कहना है कि "यह वर्गीकरण परम्परागत विवेचनात्मक जर्मन दार्शनिक शैली का वह विकास है, जो पश्चिम मे ग्रीस की विचारधारा और उसके अनुकूल सौन्दर्य-बोध के सतत अभ्यास से हुआ है।"[3] अपने मत की पुष्टि मे **प्रसादजी** ने **दण्डी, अभिनवगुप्त** और **भामह** के उन स्थलों को उद्धृत

1 राजशेखर, काव्य मीमासा, द्वितीय अध्याय।

2 काव्य कला एव अन्य निबध जयशकर प्रसाद, भारती भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ सस्करण प्राक्कथन, पृ 19

3 वही, पृ 27।

किया है, जहाँ काव्य और कला को भिन्न वर्गों में उपस्थित किया गया है। इसी प्रकार आचार्य शुक्ल ने भी काव्य को कलाओं से भिन्न माना है। पाश्चात्य कला-विभाजन, विशेषकर हीगेलीय कला-सूची को आलोचित करते हुए उन्होंने लिखा है, "सौन्दर्यशास्त्र में जिस प्रकार चित्रकला, मूर्त्तिकला आदि शिल्पों का विचार होने लगा, उसी प्रकार काव्य का भी—सबसे बेढंगी बात तो यह हुई।"[1] शुक्लजी ने अभिव्यंजनावाद की चर्चा में भी काव्य को कलाओं के भीतर गिनने का घोर विरोध किया है—"सारा उपद्रव काव्य को कलाओं के भीतर लेने से हुआ है। इसी कारण काव्य के स्वरूप की भावना भी धीरे धीरे बेल बूटे और नक्काशी की भावना के रूप में आती गयी। हमारे यहाँ काव्य की गिनती चौंसठ कलाओं में नहीं की गयी है। इसी से यहाँ वाग्वैचित्र्य के अनुयायियों द्वारा चमत्कारवाद, वक्रोक्तिवाद आदि चलाये जाने पर भी इस प्रकार का वितण्डावाद नहीं खड़ा किया गया। इधर हमारी हिन्दी में भी काव्य समीक्षा के प्रसंग में 'कला' शब्द की बहुत उद्धरणी होने लगी है। मेरे देखने में तो हमारे काव्य-समीक्षा-क्षेत्र से जितनी जल्दी यह शब्द निकले, उतना ही अच्छा। इसका जड़ पकड़ना ठीक नहीं।"[2] इस तरह प्रसादजी और आचार्य शुक्ल के उपर्युक्त मन्तव्य में यद्यपि परम्परागत पूर्वाग्रह के सिवा कोई तर्क-पुष्ट तथ्य नहीं है, तथापि ऐसे मन्तव्य के प्रभाव से हिन्दी-आलोचना-साहित्य में सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन या समग्र ललितकलाओं के तात्त्विक विवेचन का मार्ग बहुत दिनों तक बाधित रह गया और केवल संस्कृत काव्यशास्त्र से ही मिलते जुलते ढंग पर हिन्दी आलोचना का विकास होने लगा। अतः पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की भाँति भारतीय साहित्य में (फलस्वरूप हिन्दी साहित्य में भी) कला के सामान्य स्वरूप और विभिन्न कलाओं के रूपों के निरूपण की कोई दीर्घ और सम्पन्न परम्परा नहीं है।[3] इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि सौन्दर्यशास्त्र का क्षेत्र काव्यशास्त्र की अपेक्षा अधिक व्यापक तथा विशाल है, क्योंकि काव्यशास्त्र केवल शब्दों के माध्यम से निर्मित काव्य का विवेचन विश्लेषण करता है, जबकि सौन्दर्यशास्त्र भास्कर्य, चित्र, संगीत आदि सभी ललितकलाओं में व्यक्त चारुत्व और नैपुण्य को अपनी विषय-सीमा में स्वीकार करता है।[4]

ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि सौन्दर्यशास्त्र का स्वतन्त्र विकास

1 आचार्य शुक्ल : चिन्तामणि भाग 2, पृ. 177-178
2 उपरिवत्, पृ. 180।
3 डॉ. रामानन्द तिवारी शास्त्री : सत्यं शिवं सुन्दरम् पी-एच. डी. की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध, राजस्थान विश्वविद्यालय, नवम्बर, 1957।
4 श्री बलदेव उपाध्याय ने भी सौन्दर्यशास्त्र और काव्यशास्त्र के अंतर को स्पष्ट करते हुए ऐसा ही विचार व्यक्त किया है। द्रष्टव्य—भारतीय साहित्यशास्त्र, बलदेव उपाध्याय, प्रथम खण्ड, प्रसाद परिषद्, काशी, संवत् 2007, पृ. 9।

सभी ललितकलाओं के अपने-अपने शास्त्र और विशेषकर काव्यशास्त्र के विकास के बाद हुआ है। इस प्रसग में यहाँ तक कहने का साहस किया जा सकता है कि सौन्दर्यशास्त्र काव्यशास्त्र का ही विकसित और कला-चैतन्य से समन्वित रूप है। पाश्चात्य और पौर्वात्य—दोनों प्रकार के काव्यशास्त्रों की परम्परा के आनुक्रमिक अध्ययन से पता चलता है कि काव्यशास्त्र के विश्लेषण का प्रधान विषय (काव्य की परिमिति में व्यक्त) वह सौन्दर्य ही है, जो सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन का भी मूलाधार है। जिस प्रकार पाश्चात्य काव्यशास्त्र मे हम 'ब्यूटी', 'एक्सेलेन्स', 'सब्लाइम' इत्यादि का अध्ययन पाते हैं, जो शब्द-भेद से 'सौन्दर्य' का ही अध्ययन है, उसी प्रकार हम भारतीय काव्यशास्त्र में भी (जिसे कभी-कभी 'क्रियाकल्प' या 'काव्यकल्प' कहा गया है[1]) सौन्दर्य, चारुता, चमत्कार, विच्छित्ति, वक्रता अथवा शोभा का तलस्पर्शी अध्ययन पाते हैं।[2]

तदनन्तर, भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में एक अन्तर यह है कि भारतीय काव्यशास्त्र मे रस, ध्वनि इत्यादि के नाम से काव्य के आत्म-तत्त्व की गवेषणा को प्रधानता दी गयी है, जबकि पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में सौन्दर्य के सवेदनात्मक पक्ष को प्रमुखता मिली है। अत पाश्चात्य कलाशास्त्र में सौन्दर्य के सवेदनात्मक पक्ष का विवेचन अधिक हुआ है। हम देख चुके हैं कि सौन्दर्यशास्त्र के यूरोपीय अभिधान 'एस्थेटिक' का अनुषग ऐन्द्रिय और सवेदनामय अधिक है। काण्ट ने सवेदनाओं के दार्शनिक विवेचन को ही 'एस्थेटिक' का नाम दिया है। इसलिए एक व्यापक शास्त्र के अभिधान के रूप में स्वीकृत हो जाने पर भी आज तक 'एस्थेटिक' शब्द का सवेदनात्मक अनुषग अवशिष्ट है। फलस्वरूप, अधिकाश पाश्चात्य कला-विचारक अद्यावधि कला में व्यक्त सौन्दर्य के सवेदनात्मक पक्ष को अधिक महत्त्व देते हैं, जिसे हम एक विशिष्ट प्रवृत्ति के रूप में भारतीय काव्यशास्त्र में नहीं पाते।

इस प्रकार काव्यशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र, विशेषकर भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के स्वरूप भेद को अच्छी तरह हृदयगम कर लेने के

1 डा० राघवन सम कन्सेप्ट्स ऑव द अलकार शास्त्र, द आडयार लाइब्रेरी 1942 पृ 267। इस प्रसग में यह स्मरणीय है कि डॉ० राघवन की इस मान्यता के साथ श्री पी० वी० काणे असहमत हैं। काणे महोदय काव्यशास्त्र को क्रियाकल्प या 'क्रियाविधि' कहना पसन्द नहीं करते। द्रष्टव्य—पी० वी० काणे, हिस्ट्री ऑव सस्कृत पोयटिक्स, गिरगाँव बम्बई 4 1951 पृ 330-331।

2 उदाहरणार्थ आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रयुक्त 'चारुत्वहेतु' या 'सन्निवेशचारुत्व अथवा रचना प्रपचचारुत्व', अभिनवगुप्त द्वारा प्रयुक्त 'रसावेशवैशद्य सौन्दर्य काव्य निर्माणक्षमत्वम्' या 'अपितु सुन्दरीभूत' और दण्डी, भोज तथा अप्पयदीक्षित द्वारा प्रयुक्त 'शोभा' को देखा जा सकता है।

किया है, जहाँ काव्य और कला को भिन्न वर्गों में उपस्थित किया गया है। इसी प्रकार आचार्य शुक्ल ने भी काव्य को कलाओं से भिन्न माना है। पाश्चात्य कला-विभाजन, विशेषकर हीगेलीय कला-सूची को आलोचित करते हुए उन्होंने लिखा है, "सौन्दर्यशास्त्र में जिस प्रकार *चित्रकला, मूर्तिकला आदि शिल्पों का विचार* होने लगा, उसी प्रकार काव्य का भी—सबसे बेढंगी बात तो यह हुई।"[1] शुक्लजी ने अभिव्यंजनावाद की चर्चा में भी काव्य को कलाओं के भीतर गिनने का घोर विरोध किया है—"सारा उपद्रव काव्य को कलाओं के भीतर लेने से हुआ है। इसी कारण काव्य के स्वरूप की भावना भी धीरे-धीरे बेल-बूटे और नक्काशी की भावना के रूप में आती गयी। हमारे यहाँ काव्य की गिनती चौसठ कलाओं में नहीं की गयी है। इसी से यहाँ वाग्वैचित्र्य के अनुयायियों द्वारा चमत्कारवाद, वक्रोक्तिवाद आदि चलाये जाने पर भी इस प्रकार का वितण्डावाद नहीं खड़ा किया गया। इधर हमारी हिन्दी में भी काव्य समीक्षा के प्रसग में 'कला' शब्द की बहुत उद्धरणी होने लगी है। मेरे देखने में तो हमारे काव्य-समीक्षा-क्षेत्र से जितनी जल्दी यह शब्द निकले, उतना ही अच्छा। इसका जड़ पकड़ना ठीक नहीं।"[2] इस तरह प्रसादजी और आचार्य शुक्ल के उपर्युक्त मन्तव्य में यद्यपि परम्परागत पूर्वाग्रह के सिवा कोई तर्क-पुष्ट तथ्य नहीं है, तथापि ऐसे मन्तव्य के प्रभाव से हिन्दी-आलोचना-साहित्य में *सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन या समग्र ललितकलाओं* के तात्त्विक विवेचन का मार्ग बहुत दिनों तक बाधित रह गया और केवल संस्कृत काव्यशास्त्र से ही मिलते-जुलते ढंग पर हिन्दी-आलोचना का विकास होने लगा। अतः पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की भाँति भारतीय साहित्य में (फलस्वरूप हिन्दी साहित्य में भी) कला के सामान्य स्वरूप और विभिन्न कलाओं के रूपों के निरूपण की कोई दीर्घ और सम्पन्न परम्परा नहीं है।[3] इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि सौन्दर्यशास्त्र का क्षेत्र काव्यशास्त्र की अपेक्षा अधिक व्यापक तथा विशाल है, क्योंकि काव्यशास्त्र केवल शब्दों के माध्यम से निर्मित काव्य का विवेचन-विश्लेषण करता है, जबकि सौन्दर्यशास्त्र भास्कर्य, चित्र, संगीत आदि सभी ललितकलाओं में व्यक्त चारुत्व और नैपुण्य को अपनी विषय-सीमा में स्वीकार करता है।[4]

ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि सौन्दर्यशास्त्र का स्वतन्त्र विकास

1 आचार्य शुक्ल चिन्तामणि भाग 2 पृ 177 178
2. उपरिवत्, पृ 180।
3 डॉ रामानन्द तिवारी शास्त्री, सत्य शिव सुन्दरम्, पी एच डी की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध, राजस्थान विश्वविद्यालय, नवम्बर, 1957।
4 श्री बलदेव उपाध्याय ने भी सौन्दर्यशास्त्र और काव्यशास्त्र के अन्तर को स्पष्ट करते हुए ऐसा ही विचार व्यक्त किया है। द्रष्टव्य—भारतीय साहित्यशास्त्र, बलदेव उपाध्याय, प्रथम खण्ड, प्रसाद परिषद्, काशी, सवत् 2007, पृ 9।

सभी ललितकलाओं के अपने-अपने शास्त्र और विशेषकर काव्यशास्त्र के विकास के बाद हुआ है। इस प्रसंग में यहाँ तक कहने का साहस किया जा सकता है कि सौन्दर्यशास्त्र काव्यशास्त्र का ही विकसित और कला-चैतन्य से समन्वित रूप है। पाश्चात्य और पौर्वात्य—दोनों प्रकार के काव्यशास्त्रों की परम्परा के आनुक्रमिक अध्ययन से पता चलता है कि काव्यशास्त्र के विश्लेषण का प्रधान विषय (काव्य की परिमिति में व्यक्त) वह सौन्दर्य ही है, जो सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन का भी मूलाधार है। जिस प्रकार पाश्चात्य काव्यशास्त्र में हम 'ब्यूटी', 'एक्सेलेन्स', 'सब्लाइम' इत्यादि का अध्ययन पाते हैं, जो शब्द-भेद से 'सौन्दर्य' का ही अध्ययन है, उसी प्रकार हम भारतीय काव्यशास्त्र में भी (जिसे कभी-कभी 'क्रियाकल्प' या 'काव्यकल्प' कहा गया है[1]) सौन्दर्य, चारुता, चमत्कार, विच्छित्ति, वक्रता अथवा शोभा का तलस्पर्शी अध्ययन पाते हैं।[2]

तदनन्तर, भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में एक अन्तर यह है कि भारतीय काव्यशास्त्र में रस, ध्वनि इत्यादि के नाम से काव्य के आत्म-तत्त्व की गवेषणा को प्रधानता दी गयी है, जबकि पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में सौन्दर्य के संवेदनात्मक पक्ष को प्रमुखता मिली है। अतः पाश्चात्य कलाशास्त्र में सौन्दर्य के संवेदनात्मक पक्ष का विवेचन अधिक हुआ है। हम देख चुके हैं कि सौन्दर्यशास्त्र के यूरोपीय अभिधान 'एस्थेटिक' का अनुपंग ऐन्द्रिय और संवेदनामय अधिक है। काण्ट ने संवेदनाओं के दार्शनिक विवेचन को ही 'एस्थेटिक' का नाम दिया है। इसलिए एक व्यापक शास्त्र के अभिधान के रूप में स्वीकृत हो जाने पर भी आज तक 'एस्थेटिक' शब्द का संवेदनात्मक अनुपंग अवशिष्ट है। फलस्वरूप, अधिकांश पाश्चात्य कला-विचारक अद्यावधि कला में व्यक्त सौन्दर्य के संवेदनात्मक पक्ष को अधिक महत्त्व देते हैं, जिसे हम एक विशिष्ट प्रवृत्ति के रूप में भारतीय काव्यशास्त्र में नहीं पाते।

इस प्रकार काव्यशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र, विशेषकर भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के स्वरूप भेद को अच्छी तरह हृदयंगम कर लेने के

1 डा॰ राघवन : 'सम कन्सेप्ट्स ऑव द अलंकार शास्त्र', द अड्यार लाइब्रेरी, 1942, पृ 267। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि डॉ॰ राघवन की इस मान्यता से म॰ म॰ पी॰ वी॰ काणे असहमत हैं। काणे महोदय काव्यशास्त्र को 'क्रियाकल्प' या 'क्रियाविधि' कहना पसन्द नहीं करते। द्रष्टव्य—पी॰ वी॰ काणे, 'हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोएटिक्स', [illegible], बम्बई 4, 1951, पृ 330-331।

2 उदाहरणार्थ, आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रयुक्त 'चारुत्व' या [illegible] अथवा [illegible], अभिनवगुप्त द्वारा प्रयुक्त [illegible] 'अविघ्नेन संवेद्यमान' [illegible] 'अनितु मुद्रीभूत' और इतना, भाव [illegible] द्वारा प्रयुक्त [illegible] को देखा जा सकता है।

बाद कविता के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की आवश्यकता और उसके प्रयोजन पर विचार करना वांछनीय है।

कविता के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की आवश्यकता इसलिए है कि कविता का काव्येतर कलाओं के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है[1] और कविता भी अन्य कलाओं की तरह मनुष्य के सृजनात्मक अन्तर्मन की एक रचनात्मक क्रिया है। इतना ही नहीं, कविता अपने भाव-निवेदन की व्यापकता एवं अन्य विशिष्टताओं के कारण सभी ललितकलाओं में सर्वोत्तम कला की श्रेष्ठता सिद्ध करती है। अतः कई आधुनिक विचारकों ने कविता को कला के व्यापक अर्थ में स्वीकार किया है।[2] किन्तु यह ध्यातव्य है कि उक्त कथन का आशय कविता को अन्य ललितकलाओं का पर्याय मान लेना नहीं है। उक्त कथन का आशय यह है कि जहाँ कविता एवं अन्य ललितकलाओं में रूप, शैली और अभिव्यक्ति के माध्यम से सम्बद्ध अनेक पार्थक्य हैं तथा इन सबकी अनेक निजी विशेषताएँ हैं, वहाँ कविता और अन्य ललितकलाओं के बीच ऐसा तात्त्विक साम्य और अन्य सम्बन्ध भी है, जिसे उपेक्षणीय नहीं माना जा सकता। कविता और अन्य ललितकलाओं के बीच इसी तात्त्विक साम्य और अन्य सम्बन्धों के कारण कविता का अध्ययन केवल काव्यशास्त्रीय दृष्टि से ही नहीं, बल्कि सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से भी किया जाना चाहिए, ताकि कविता के गुणावगुणों का परीक्षण समस्त कलाओं के व्यापक निकष पर हो सके और कविता की कुछ सम्य विशेषताएँ ललितकला के मानक के रूप में उद्घाटित हो सकें। तदनन्तर, भारतीय दृष्टि से यद्यपि काव्य कला के प्रकारों में परिगणित नहीं है, तथापि भारतीय दृष्टि से भी काव्य को उत्कर्ष प्रदान करने के लिए कवि को विभिन्न कलाओं से सहायता लेने का अधिकार प्राप्त है। अर्थात् भारतीय दृष्टि से भी कविता के कला-पक्ष में काव्येतर कलाओं का समावेश वर्जित नहीं है। अतः जिस सौन्दर्यशास्त्र में प्रायः सभी ललितकलाओं की सैद्धान्तिक पीठिका का समीक्षण-आलोचन रहता है, उसकी मान्यताओं के आलोक में काव्य का भी विवेचन-विश्लेषण अवश्य होना चाहिए। इस तथ्य को स्वीकार करने में किसी विप्रतिपत्ति की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती कि कविता पर अन्य कलाओं का प्रभूत प्रभाव है। इसलिए कविता को सर्वदा कला के व्यापक क्षेत्र से बहिष्कृत कर देखना

1 भामह ने भी कविता की इस व्यापकता का संकेत किया है। इन्होंने लिखा है कि वह शब्द नहीं, वह अर्थ नहीं, वह न्याय नहीं, वह कला नहीं, जो काव्य का अंग न बनती हो—

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः॥

— भामह, काव्यालंकार, पंचम परिच्छेद 4

2 *Jacques Maritain*, Creative Intuition In Art And Poetry The Harvill Press, London, 1954, p 3

ास्त्र ललितकलाओ के दार्शनिक विकल्पो और समस्याओ का सैद्धान्तिक निरूपण , क्योकि कला-जगत् की दार्शनिक समस्याएँ प्राय सौन्दर्य, आस्वाद, सवेग, पुन -त्यक्ष इत्यादि मे ही सम्बद्ध रहती है।

3 सौन्दर्यशास्त्र को कुछ विचारको ने तत्त्व-दर्शन या मनोविज्ञान के साथ मला दिया है, जो अनुचित है। कारण, सौन्दर्यशास्त्र का तत्त्व-दर्शन से उतना ही म्बन्ध है, जितना कि मानविकी के *एतादृश अन्य विपयो* का तत्त्व-दर्शन के साथ । इसी तरह सौन्दर्यशास्त्र मनोविज्ञान से उतना ही सम्बद्ध और भिन्न है, जितना क मनोविज्ञान से काव्यशास्त्र। यह सच है कि सौन्दर्यशास्त्र के कुछ सूत्रो की ववेचना में मनोविज्ञान की सहायता आवश्यक है, किन्तु मनोविज्ञान सौन्दर्यशास्त्र ी सीमा नही है।

4. सौन्दर्यशास्त्र के स्वरूप को अच्छी तरह समझने के लिए सौन्दर्यशास्त्र ाथा काव्यशास्त्र के अन्तर को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। काव्यशास्त्र केवल ाव्य का शास्त्र है और उसके अध्ययन का क्षेत्र केवल काव्य तक सीमित है, जबकि सौन्दर्यशास्त्र सभी ललितकलाओ का शास्त्र है और उसकी सीमा काव्य के साथ काव्येतर कलाओ—स्थापत्य, मूर्ति, चित्र और सगीत तक फैली हुई है। इसलिए सौन्दर्यशास्त्र मात्र काव्यशास्त्र नही, बल्कि कलाशास्त्र है। इस प्रकार काव्यशास्त्र जहाँ केवल काव्य को दृष्टि मे रखकर उसकी आलोचना या अभिशासन प्रस्तुत करता है, वहाँ सौन्दर्यशास्त्र सभी ललितकलाओ के सर्वसामान्य, किन्तु, प्रधान तत्त्वो का विवेचन और विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अत सौन्दर्यशास्त्र के निष्कर्ष प्राय सभी ललितकलाओं को दृष्टि मे रखकर निकाले जाते हैं, जबकि काव्यशास्त्र के निष्कर्ष केवल काव्य को लक्ष्य कर निकाले जाते हैं। यो काव्यशास्त्र कभी-कभी अपनी मान्यताओ के निरूपण मे सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन और उसके निष्कर्षों की सहायता लेता है।

5. काव्यशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र में दूसरा ध्यातव्य अन्तर यह है कि सौन्दर्य-शास्त्र मे कलाओं के सूक्ष्म तात्त्विक सिद्धान्त-परिकल्पन पर विशेष बल दिया जाता है, जबकि काव्यशास्त्र मे रस-विवेचन, शब्द-शक्ति-विश्लेषण इत्यादि के कुछ ही प्रसगो में सूक्ष्म तात्त्विक सिद्धान्त-परिकल्पन की आवश्यकता पडती है।

6. तीसरी बात यह है कि काव्यशास्त्र, विशेषकर सस्कृत-काव्यशास्त्र, का व्याकरण से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, जबकि आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र का व्याकरण से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है।

7. चौथी बात यह है कि काव्यशास्त्र में उस कल्पना-तत्त्व की विचारणाओं को उचित महत्त्व नहीं मिल सका, जिसे सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन में सर्वोच्च स्थान दिया जाता है। सस्कृत-काव्यशास्त्र में भी प्रतिभा-विवेचन को छोडकर अन्य प्रसगों में कल्पना-तत्त्व की अवहेलना कर दी गयी है। कुल मिलाकर सौन्दर्यशास्त्र

मे इसी का चित्रण देखा जाता है। कला के स्वरूप को सागोपाग जानने के लिए साहित्य से इन भावो और शब्दो का दोहन हिन्दी साहित्य का अत्यन्त आवश्यक कार्य है। कला के मार्मिक ज्ञान के बिना साहित्यिक अध्ययन और साहित्य की सूक्ष्म जानकारी के बिना कला की समीक्षा सकुचित रह जाती है क्योकि कला और साहित्य दोनो का समान भाव से योजक रस-तत्त्व एक ही है। जिस लोक-जीवन की उमग ने साहित्य और कला को एक साथ ही जन्म दिया, उसके समग्र रूप का परिचय साहित्य और कला के साथ-साथ अध्ययन पर ही निर्भर है।"[1] इस प्रकार आधुनिक हिन्दी आलोचना मे कविता के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की आवश्यकता अथवा उपयोगिता सर्वथा प्रकट है।

इधर कुछ पत्रिकाओ के प्रकाशन से भी इस रुचि-विकास का पता चलता है। जैसे, काशी से 'कला निधि' नामक पत्रिका का प्रकाशन हिन्दी के विद्वानो द्वारा काव्य और अन्य कलाओं में सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से समन्वय स्थापित करने का एक प्रयास था। इसी तरह 'आर्ट्स एनुअल' के नाम से निकलने वाली पत्रिका,[2] जिसका सम्पादन **ए कुमारस्वामी और ओ सी गागुली** करते थे ललितकलाओ के पारस्परिक अन्त सम्बन्ध को दृष्टि में रखते हुए कला के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन के निमित्त एक दिशा निर्देश थी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी ललितकलाओ के व्यापक तत्त्व निवेश की दृष्टि से काव्य का अध्ययन आवश्यक है जिसे हम काव्य का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन कहते है। अत प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के अन्तर्गत प्रथम और द्वितीय खण्ड में क्रमश, कविता के ऐसे चार प्रमुख तत्त्वो को, जो सभी ललितकलाओ के तत्त्व निवेश में प्रमुख स्थान रखते है, छायावादी कविता के विशेष सन्दर्भ में रखकर इसी सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से विवेचित करने का एक विनम्र प्रयास किया गया है।

इस प्रकार सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन के स्वरूप से सम्बद्ध प्रमुख स्थापनाओ को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

1 ऐन्द्रिय प्रत्यक्षो का ज्ञान के माध्यम की दृष्टि से किया गया अध्ययन सौन्दर्यशास्त्र की सीमा नही है, क्योकि सौन्दर्यशास्त्र मुख्यत ऐन्द्रिय बोध से प्राप्त सौन्दर्य भावन के मनोमय आनन्द का विश्लेषण करता है।

2 सौन्दर्यशास्त्र का सम्बन्ध ललितकलाओ के माध्यम से अभिव्यक्त सौन्दर्य के साथ है, अन्य माध्यमो से अभिव्यक्त सौन्दर्य के साथ नही। इस तरह सौन्दर्य-

1 डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल, भारतीय कला का अनुशीलन, कला निधि वर्ष 1 श्रावण 2005 विक्रम, अक 1 काशी पृ 18 19-20।

2 The 4 Arts Annual, 1936-37, edited by A. Coomarswamy, O C Ganguly, Corporation Street, Calcutta

शास्त्र ललितकलाओं के दार्शनिक विकल्पों और समस्याओं का सैद्धान्तिक निरूपण है, क्योंकि कला जगत् की दार्शनिक समस्याएँ प्राय सौन्दर्य, आस्वाद, सवेग, पुन -प्रत्यक्ष इत्यादि से ही सम्बद्ध रहती हैं।

3 सौन्दर्यशास्त्र को कुछ विचारकों ने तत्त्व दर्शन या मनोविज्ञान के साथ मिला दिया है, जो अनुचित है। कारण, सौन्दर्यशास्त्र का तत्त्व दर्शन से उतना ही सम्बन्ध है, जितना कि मानविकी के एतादृश अन्य विषयों का तत्त्व-दर्शन के साथ है। इसी तरह सौन्दर्यशास्त्र मनोविज्ञान से उतना ही सम्बद्ध और भिन्न है, जितना कि मनोविज्ञान से काव्यशास्त्र। यह सच है कि सौन्दर्यशास्त्र के कुछ सूत्रों की विवेचना में मनोविज्ञान की सहायता आवश्यक है, किन्तु मनोविज्ञान सौन्दर्यशास्त्र की सीमा नहीं है।

4 सौन्दर्यशास्त्र के स्वरूप को अच्छी तरह समझने के लिए सौन्दर्यशास्त्र तथा काव्यशास्त्र के अन्तर को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। काव्यशास्त्र केवल काव्य का शास्त्र है और उसके अध्ययन का क्षेत्र केवल काव्य तक सीमित है, जबकि सौन्दर्यशास्त्र सभी ललितकलाओं का शास्त्र है और उसकी सीमा काव्य के साथ काव्येतर कलाओं—स्थापत्य, मूर्ति, चित्र और सगीत तक फैली हुई है। इसलिए सौन्दर्यशास्त्र मात्र काव्यशास्त्र नहीं, बल्कि कलाशास्त्र है। इस प्रकार काव्यशास्त्र जहाँ केवल काव्य को दृष्टि में रखकर उसकी आलोचना या अभिशसन प्रस्तुत करता है, वहाँ सौन्दर्यशास्त्र सभी ललितकलाओं के सर्वसामान्य, किन्तु, प्रधान तत्त्वों का विवेचन और विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अत सौन्दर्यशास्त्र के निष्कर्ष प्राय सभी ललितकलाओं को दृष्टि में रखकर निकाले जाते हैं, जबकि काव्यशास्त्र के निष्कर्ष केवल काव्य को लक्ष्य कर निकाले जाते हैं। या काव्यशास्त्र कभी-कभी अपनी मान्यताओं के निरूपण में सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन और उसके निष्कर्षों की सहायता लेता है।

5 काव्यशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र में दूसरा ध्यातव्य अन्तर यह है कि सौन्दर्यशास्त्र में कलाओं के सूक्ष्म तात्त्विक सिद्धान्त परिकल्पन पर विशेष बल दिया जाता है, जबकि काव्यशास्त्र में रस-विवेचन, शब्द शक्ति विश्लेषण इत्यादि के कुछ ही प्रसगों में सूक्ष्म तात्त्विक सिद्धान्त-परिकल्पन की आवश्यकता पडती है।

6 तीसरी बात यह है कि काव्यशास्त्र, विशेषकर सस्कृत-काव्यशास्त्र, का व्याकरण से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, जबकि आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र का व्याकरण से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है।

7. चौथी बात यह है कि काव्यशास्त्र में उस कल्पना-तत्त्व की विचारणाओं को उचित महत्त्व नहीं मिल सका, जिसे सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन में सर्वोच्च स्थान दिया जाता है। सस्कृत-काव्यशास्त्र में भी प्रतिभा-विवेचन को छोडकर अन्य प्रसगों में कल्पना-तत्त्व की अवहेलना कर दी गयी है। कुल मिलाकर सौन्दर्यशास्त्र

का क्षेत्र काव्यशास्त्र की अपेक्षा अधिक व्यापक तथा विशाल है, क्योंकि काव्यशास्त्र केवल शब्दो के माध्यम से निर्मित कला (काव्य) का विवेचन-विश्लेषण करता है, जबकि सौन्दर्यशास्त्र भास्कर्य, चित्र, सगीत आदि सभी ललितकलाओ मे व्यक्त चारुत्व और नैपुण्य को अपनी विषय-सीमा मे स्वीकार करता है।

8 *कविता के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की आवश्यकता इसलिए है कि कविता* का काव्येतर कलाओ के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है और कविता भी अन्य कलाओ की तरह मनुष्य के सृजनात्मक अन्तर्मन की एक रचनात्मक क्रिया है। इतना ही नहीं, कविता अपने भाव-निवेदन की व्यापकता एव अन्य विशिष्ट क्षमताओ के कारण सभी ललितकलाओ के सर्वोत्तम गुणो को स्वायत्त किये रहती है। इस तरह कविता एव अन्य ललितकलाओ मे जहाँ रूप, शैली और अभिव्यक्ति के माध्यम से सम्बद्ध अनेक पार्थक्य हैं तथा इन सभी कलाओ की अनेक निजी विशेषताएँ हैं, वहाँ कविता और अन्य ललितकलाओ के बीच ऐसे तात्त्विक साम्य और अन्त सम्बन्ध भी हैं, जिन्हे उपेक्षणीय नही माना जा सकता है। कविता और अन्य ललितकलाओ के बीच इन्ही तात्त्विक साम्य और अन्त सम्बन्धो के कारण कविता का अध्ययन केवल काव्यशास्त्रीय दृष्टि से ही नही, बल्कि सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से भी किया जाना चाहिए, ताकि कविता के गुणावगुणो का परीक्षण समग्र ललितकलाओ के व्यापक निकष पर हो सके और कविता की कुछ गण्य विशेषताएँ ललितकला के मानक के रूप मे उद्घाटित हो सकें।

(ख) ललितकलाओ का तात्त्विक अन्त.सम्बन्ध

कविता के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की आवश्यकता और औचित्य को प्रतिपादित करने का मुख्य आधार है—ललितकलाओ का तात्त्विक अन्त सम्बन्ध। इस तात्त्विक अन्त सम्बन्ध पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह प्रतीत होता है कि शैली, शिल्प, अभिव्यक्ति भगिमा और प्रेषणीयता के माध्यम की दृष्टि से कलाओ मे चाहे जितनी भिन्नता हो, किन्तु, तत्त्व-समास की दृष्टि से सभी कलाएँ समान हैं और इनमे एक तात्त्विक अन्त सम्बन्ध अनिवार्य रूप मे विद्यमान है। कल्पना, बिम्ब, प्रतीक, प्रेषणीयता, विषय, विधान इत्यादि अनेक ऐसे प्रमुख और गौण तत्त्व हैं, जो स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, काव्य और सगीत—सभी ललितकलाओ मे समान रूप से

समाविष्ट हैं। इन सभी तत्त्वो के विनियोग मे विविध कलाओं के क्षेत्र मे मात्रा-भेद अवश्यम्भावी है, जैसे—काव्य म कल्पना की अधिकता, सगीत मे प्रेषणीयता की अधिकता, चित्र मे चाक्षुष सौन्दर्य की प्रचुरता, मूर्ति और स्थापत्य में विषय-रूप स्थूल साधनो की अधिकता—किन्तु, इन तत्त्वा की अनिवार्य उपस्थिति में किसी निषेध की गुजाइश नही है। अत इन तत्त्वा की अनिवार्य उपस्थिति ही ललितकलाओं के पारस्परिक अन्त सम्बन्ध को प्रमाणित करती है तथा कविता के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की आवश्यकता और औचित्य को न्याय्य घोषित करती है।

कविता का अध्ययन इन दो उत्कृष्ट दृष्टिकोणा से किया जा सकता है—काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण और सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण। काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण म किय गये अध्ययन में कविता की उत्कृष्टता-अपकृष्टता का विश्लेषण कविता को अन्य ललितकलाओं के सन्दर्भ से पृथक् रखकर किया जाता है और उसके मूल्य-निर्धारण तथा परीक्षण के सभी मान एव निकष केवल काव्य को लक्ष्य में रखकर प्रस्तुत किये जाते है। इसलिए कविता के काव्यशास्त्रीय अध्ययन में सगीत-चेतना का विचार छन्द-बन्धन की जाँच में सीमित हो जाता है, सौन्दर्य की परख वर्ण-मैत्री और अलकारो के अन्वेषण में बँध जाती है, प्रेषणीयता की धारणा शब्द-शक्ति, गुण, रीति और वृत्ति तक आकर रुक जाती है तथा कल्पना-विधान, बिम्ब और प्रतीक की विशिष्टताओं की खोज केवल अप्रस्तुतो एव उपमानो की गवेषणा बन जाती है। दूसरी ओर, सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से किये गये अध्ययन में कविता को अन्य ललितकलाओं के व्यापक सन्दर्भ में रखकर देखा जाता है और उसका तात्त्विक विश्लेषण उन सामान्य या सर्वनिष्ठ सिद्धान्तो के आलोक में किया जाता है, जो काव्येतर ललितकलाओ के भी तत्तत् तात्त्विक अध्ययन में उपयोगी सिद्ध हो सकें। जैसे—किसी कविता में व्यक्त सौन्दर्य-चेतना का उस व्यापक सौन्दर्य-तत्त्व की दृष्टि से अध्ययन, जो सौन्दर्य-तत्त्व, वर्ण-मैत्री और अलकारो से परे रहकर भी काव्येतर कलाओं में समाविष्ट रहता है अथवा किसी कविता में न्यस्त उपमानो और अप्रस्तुतो का उस व्यापक मूर्त्त विधान की दृष्टि से अध्ययन, जो काव्येतर कलाओं मे भी कल्पना के प्रत्यक्षीकरण अथवा तन्मात्राओं की ऐन्द्रिय प्रतीति के रूप मे बिम्ब बनकर उपस्थित होता है। साराश यह है कि कविता का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन कविता को काव्येतर ललितकलाओं के तात्त्विक सन्दर्भ मे रखकर किया जाता है और कविता का काव्यशास्त्रीय अध्ययन कविता को काव्येतर कलाओं के तात्त्विक सन्दर्भ से पृथक् रखकर या उस तात्त्विक सन्दर्भ की उपेक्षा कर किया जाता है। कविता का काव्यशास्त्रीय अध्ययन हिन्दी और हिन्दीतर साहित्य मे बहुत बडे परिमाण में किया जा चुका है, किन्तु कविता का सौन्दर्य-शास्त्रीय अध्ययन तत्त्व-चिन्तन-प्रधान होने और दार्शनिक निरूपण-पद्धति के

निकटस्थ होने के कारण अब तक उस परिमाण में नहीं किया जा सका है। हिन्दी साहित्य में ऐसे अध्ययन का और भी अभाव है। अत प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध इसी अभाव की पूर्ति के लिए किया गया एक विनम्र प्रयास है।

उक्त दोनों प्रकार के अध्ययन के सम्बन्ध में कुछ और बातें ध्यातव्य हैं। पहली बात यह है कि कविता के काव्यशास्त्रीय अध्ययन और सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन में अन्योन्याभाव सम्बन्ध नहीं है। कारण जहाँ यह सच है कि कविता का काव्यशास्त्रीय अध्ययन कविता के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन का पर्याय या मानक नहीं हो सकता, वहाँ यह देखा जाता है कि कविता के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन में प्रसंगानुसार काव्यशास्त्रीय उपपत्तियों और निष्पत्तियों का भी उपयोग किया जाता है यद्यपि इसके विलोम से काव्यशास्त्र का स्वतन्त्र व्यक्तित्व अपहृत हो जाता है। अत प्रस्तुत प्रबन्ध म भी काव्यशास्त्र की उपलब्धियां को वर्जित नहीं माना गया है। दूसरी बात यह है कि कविता का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन करते समय काव्येतर ललितकलाओं के तात्त्विक सन्दर्भ को ही ध्यान में रखा जाता है, क्योंकि एक व्यक्ति के लिए सभी ललितकलाओं के सभी सन्दर्भों को ध्यान में रखना तथा उनका प्रामाणिक विवेचन करना कठिन है। यह कार्य तो वही विपश्चित् विद्वान् कर सकेगा, जो सभी कलाओं के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक—दोनों ही पक्षों में माहिर हो। अत एक ओर विचारक या अनुसन्धाता की शक्ति की सीमा का ध्यान रखकर तथा दूसरी ओर अनावश्यक झोझ और लपेट स बचने के लिए किसी कला का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन करते समय अन्य कलाओं के केवल तात्त्विक सन्दर्भ को ध्यान में रखा जाता है। सचमुच, इस तात्त्विक पक्ष को छोड़कर कलाओं के अन्य पक्ष इतने विविध और भिन्न हैं कि उनके समवेत अध्ययन से कोई लाभ नहीं हो सकता। इसलिए किसी कला का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करते समय अन्य भगिनी कलाओं के तात्त्विक सन्दर्भमात्र को दृष्टिपथ में रखना चाहिए।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि ललितकलाओं का तात्त्विक अन्त सम्बन्ध ही वह मुख्य कारण है, जिसके कारण कविता या अन्य किसी कला के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन का औचित्य प्रतिपादित होता है अथवा ऐसे अध्ययन की आवश्यकता प्रतीत होती है। इसलिए प्रस्तुत प्रबन्ध में किये गये सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन को एक तर्कपुष्ट आधार और सन्धिबन्ध प्रदान करने के लिए हम इस अध्याय में ललितकलाओं के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध का विस्तृत और प्रामाणिक विश्लेषण उपस्थित करेंगे। इस क्रम में हम ललितकलाओं के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए उपस्थापन की तीन पद्धतियों से काम लेंगे, ताकि यह विश्लेषण अधिकाधिक वैज्ञानिक और सुनिर्णीत हो सके। सबसे पहले हम इसके सैद्धान्तिक पक्ष पर विचार करेंगे और देखेंगे कि किस प्रकार सभी श्रव्य और दृश्य कलाएँ तात्त्विक दृष्टि से आपाततोभिन्न होकर भी अन्त सम्बद्ध हैं। तदनन्तर, हम

ललितकलाओं के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध का व्यावहारिक दृष्टि से सोदाहरण अध्ययन करेंगे, ताकि सैद्धान्तिक दृष्टि से निकाले गये निष्कर्षों की जाँच प्रयोग के निकष पर हो सके। अन्त मे हम कुछ इतिहास-प्रसिद्ध कवियों और कलाकारों की उत्कृष्ट कृतियों के आधार पर कलाओं के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध का परीक्षण करेंगे।

उक्त योजना के अनुसार अब हम ललितकलाओं के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध के सैद्धान्तिक पक्ष पर विचार करेंगे। ललितकलाओं मे तात्त्विक अन्त सम्बन्ध का मूलाधार स्वर-बोध और वर्ण-बोध का पारस्परिक सम्बन्ध है। यह सर्वविदित है कि दृश्यकलाओं मे वर्ण-बोध (कलर परसेप्शन) की प्रधानता रहती है और श्रव्य कलाओं मे स्वर-बोध की। अर्थात् कलाओं के बीच मुख्य पार्थक्य उनके श्रव्य और दृश्य होने पर निर्भर है। किन्तु, जब हम यह पाते हैं कि एक ऐसी सामान्य भूमि है, जहाँ दृश्यकलाओं और श्रव्यकलाओं के मुख्य व्यावर्त्तक गुण, क्रमश, चाक्षुष प्रत्यक्ष और स्वर-बोध परस्पर मिल जाते हैं (जिसे मनोविज्ञान की भाषा मे 'सिनेस्थेसिया'[1] कहते हैं) तब यह स्वत प्रतिपादित हो जाता है कि सभी ललितकलाओं के बीच किसी तात्त्विक अन्त सम्बन्ध की स्थिति अवश्य है।

उक्त 'सिनेस्थेसिया' का सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि के अलावा वैज्ञानिक दृष्टि से भी समर्थन मिलता है, क्योंकि वैद्युतिक सहायता से दोलनवीक्ष के द्वारा स्वर, ध्वनि या स्वन सम्पदा को तरंगित रेखाओं के सहारे चित्रात्मक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है।[2] इस तरह श्रव्य (अर्थात् स्वर-बोध) को दृश्य (चाक्षुष प्रत्यक्ष या चाक्षुष बोध) बनाया जा सकता है। आशय यह है कि मनोविज्ञान या सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से ही नहीं, वैज्ञानिक और औद्योगिक साधनों से भी यह सिद्ध होता है कि शब्द-तन्मात्रा को हम वर्णात्मक प्रत्यक्ष या रूपतन्मात्रा मे बदल सकते हैं और वर्णात्मक प्रत्यक्ष या रूपतन्मात्रा को हम शब्दतन्मात्रा के सहारे व्यक्त कर सकते हैं। अत

1 'सिनेस्थेसिया' नन्दतिक अभिशमन का एक सिद्धान्त है जिसका उद्भावन अंग्रेज-मनोवैज्ञानिकों ने किया है। द्रष्टव्य—A Critical History of Modern Aesthetics, George Allen and Unwin, London, 1933, page 102

2 "Tones can be made visible The oscilloscope, through electrical processes, transforms vibrations of the air into a picture that appears on an illuminated screen It is the picture of a wave line The different tones appear as wave lines of different dimensions and shapes Everything that characterizes the tone as an acoustical phenomenon is represented in a particular feature of the picture. An experienced observer can accurately read the acoustical qualities of the tone from the outline of the curve Looking at the picture of the curve he could accurately represent the tone to himself—pitch, loudness, colour, everything' —*Victor Zuckerkandl*, Sound and Symbol, 1956, p 22

इस विधि से भी 'सिनेस्थेसिया' का प्रकारान्तर समर्थन स्पष्ट है।

सामान्यत स्वर-बोध और वर्णात्मक प्रत्यक्ष (कलर-पर्सेप्शन) का एक विशुद्ध प्राथमिक सवेदन के रूप मे परस्पर कोई सम्बन्ध नही है। किन्तु, कभी-कभी किसी वर्ण और किसी स्वर के द्वारा विशेष आसग-प्रक्रिया के कारण समान सवेगात्मक प्रत्यर्थता का उद्बोध हो जाया करता है। मनोविज्ञान से सम्बन्धित प्रायोगिक परीक्षणो के क्रम मे यह पाया गया है कि अनेक व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अनायास ही किसी स्वर का अनुरग किसी विशिष्ट रग के साथ जोड लेते हैं। स्वर और रग के इस अनुरग-निर्भर सम्बन्ध को मनोविज्ञान मे 'सिनेस्थेसिया'[1] कहा जाता है। इसके दो प्रकार होते हैं—स्वर-श्रवण से वर्ण-बिम्ब की प्राप्ति और वर्णात्मक प्रत्यक्ष मे ध्वनि बिम्ब की प्राप्ति। स्वर-बोध और वर्ण-बोध के इस विनिमय या पारस्परिक विपर्यय का कारण कोई निश्चित आसग हुआ करता है। यह ऐन्द्रिय प्रतीति का मिश्रण प्रधानत तीन प्रकार का होता है —प्रत्यक्षात्मक धारणात्मक और मानसिक। वर्ण-व्युत्पन्न वर्णात्मक प्रत्यक्ष के इस बारीक विश्लेषण का श्रेय मनोविज्ञान को है तथा कला-विवेचन के प्रसग म स्वर-व्युत्पन्न वर्णात्मक प्रत्यक्ष की चर्चा का श्रेय *जे एल. होफमान को है, जिन्होने अठारहवी शताब्दी मे ही यह प्रतिपादित किया* कि प्रत्येक स्वर-वैशिष्ट्य का किसी-न-किसी निश्चित रग से सम्बन्ध जोडा जा सकता है।[2] जे एल. होफमान की स्थापना के बहुत वर्षो बाद जब स्वच्छन्दतावादी

1 'An interpretation of the senses conveying an effect of oneness'—*J Chairi*, Symbolisme from Poe to Mallarme, Rockliff Salisbury Square, London, 1956, p 51

2 भारतीय काव्यशास्त्र मे रस का, जो काव्य का चरम लक्ष्य है, रग से जो चाक्षुप कलाओ का उपादान है सम्बन्ध जोडा गया है। भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार रग-विचार का मात्र विधानगत महत्त्व या प्रसाधन निमित्त प्रयोजन नही है, बल्कि वह काव्य के चरमोद्देश्य —रसोपलब्धि से सम्बन्धित है। इस प्रकार यहाँ रग भी काव्य गुण की तरह रसोपकारक *माना गया है। उदाहरणाथ, शृगार के लिए श्याम, हास्य के लिए श्वेत,* रौद्र अथवा वीर रस के लिए रक्तवर्ण, करुण के लिए भूरा, भयानक के लिए काला बीभत्स के लिए नील और अद्भुत के लिए पीत रग की योजना की गयी है

श्यामो भवति शृगार: सितो हास्य प्रकीर्तित ।
कपोत करुणश्चैव रक्तो रौद्र प्रकीर्तित ॥43॥
गौरो वीरस्तु विज्ञेय कृष्णश्चैव भयानक ।
नील वर्णस्तु बीभत्स पीतश्चैवाद्भुत स्मृत ॥44॥

—नाट्यशास्त्रम् भरत छठा अध्याय, बम्बई संस्करण।

सारांश यह है कि भारतीय कला मे रग-योजना के सहारे रस चवणा को प्रतीकधर्मी और व्यजनागर्भी बनाकर अधिक कलात्म [illegible] की गयी है। विशेषकर चित्रकला मे रगो से रसोपकारी मण्डनशिल्प का [illegible] । काव्यशास्त्र मे निरूपित यह रस रग-सम्बन्ध भी [illegible] अन्त सम्बन्ध द्योतक है।

धारा चली, तब ललितकलाओं के बीच संगीत-कला को इस 'सिनेस्थेसिया' में सर्वाधिक महत्त्व दिया गया। तदनन्तर, अनेक कलाकारों ने अपनी रचनाओं के सांगीतिक प्रभाव की व्याख्या वर्ण बोध के माध्यम से प्रस्तुत की। कवि और साहित्यकारों के बीच हाइने,[1] गोतिये, रिम्बॉ, बॉदलेयर, मोपासाँ और बाल्ज़ाक,[2] इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इन सबने अपनी सौन्दर्यानुभूति को विविध प्रकार के बोध विपर्यय से व्यक्त करने की चेष्टा की है। पॉल वर्लें भी इसी कोटि का कवि था, जो चाक्षुष अनुभूतियों को श्रव्य बिम्बों के माध्यम में और नादानुभूतियों को चाक्षुष बिम्बों के माध्यम से उपस्थित करने की कला में दक्ष था।[3]

'सिनेस्थेसिया' के सदृश ही 'कॉरेस्पाण्डेन्स' के सिद्धान्त से ललितकलाओं का तात्त्विक अन्तः सम्बन्ध प्रतिपादित होता है। तदनुरूपता या संवादिता (कॉरेस्पाण्डेन्स) का यह सिद्धान्त पहले दर्शनशास्त्र का विषय था। साहित्य या कला-जगत् में इसे प्रतिपादित करने का श्रेय बॉदलेयर को है, यद्यपि बॉदलेयर ने भी इस सिद्धान्त के लिए अपने को स्वेडनबर्ग का ऋणी घोषित किया, क्योंकि स्वेडनबर्ग ने बहुत पहले इस सिद्धान्त का मूलाधार उपस्थित किया था।[4] बॉदलेयर ने इस सिद्धान्त को कला-जगत् के लिए उपयोगी बनाकर उपस्थित किया और उसने 'कॉरेस्पाण्डेन्स' शीर्षक एक छोटी सी, किन्तु ऐसी महत्त्वपूर्ण कविता लिखी, जिसे उसके प्रतीक-सिद्धान्त का मूल सूत्र कहा जा सकता है। इतना ही नहीं, यह सिद्धान्त फ्रेंच और अंग्रेजी साहित्य के प्रतीकवादी आन्दोलन का मूलाधार माना जाता है। सचमुच, प्रतीकवादियों ने इस सिद्धान्त को बहुत व्यापक फलक प्रदान किया था।[5]

उपरिविवेचित 'सिनेस्थेसिया' या 'कॉरेस्पाण्डेन्स' के सिद्धान्त का समर्थन

1 Selected Lyrics of Heine, translated by Humbert Wolfe, The Bodley Head, London, 1950
2 *J. Chairi*, Symbolisme from Poe to Mallarme, Rockliff Salisbury Square, London 1956, pp 160 161
3 *Arthur Symons*, The Symbolist Movement in Literature, E P Dutton and Co , New York, 1958, p 48
4 स्वेडेनबर्ग ने लिखा था—
"Comparisons, metaphors and epithets are drawn from the inexhaustible depths of universal analogy"—*Charles Baudelaire*, translated by Geoffrey Wagner, and an Introduction by Enid Starkie, London, 1946
5 "Every element of life and nature is covered by the law of correspondences therefore every fitting metaphor which arouses a response is necessarily a correspondence, the poet is the one who has the gift of pointing out analogies and of finding the exact and truely alive metaphors, the greater the poet, the wider his range of apprehension in space and time and also the greater the fitness and force of his metaphors"—*J Chairi*, Symbolisme from Poe to Mallarme, London, 1956, p 46

कुमारिलभट्ट के 'श्लोकवार्तिक' में निरूपित 'सामान्य ज्ञान-लक्षण-सन्निकर्ष' से भी होता है। हम किसी तप्त लौहखण्ड को देखकर उसका स्पर्श किये बिना ही कह देते हैं कि यह तप्त है, जबकि ताप का अनुभव करना चक्षु का नहीं, चर्म का धर्म है—नेत्रेन्द्रिय का नहीं, स्पर्शेन्द्रिय का कार्य है। इसका उत्तर हमें ज्ञान-लक्षण-सन्निकर्ष के आधार पर मिलता है। उदाहरणार्थ, किसी विकच सुगन्धित प्रसून को देखकर (बिना सूंघे हुए ही) हम उसे सुवासित पुष्प कह देते हैं। स्पष्ट है कि सुगन्ध को पाना घ्राण—नासिका का काम है, जिसका भान हमने यहाँ चक्षु से ही कर लिया। अतः प्रश्न है कि यह प्रातीतिक भान कैसे होता है? इसका समाधान भारतीय प्रमाणवाद का अनुमान यह है कि हमारे पूर्वानुभूत संस्कार मन में बने रहते हैं, जिनके कारण इन्द्रियों के बोध का परस्पर विनिमय-सा हो जाता है। यह इसलिए कि एक इन्द्रिय के काम करते समय अन्य इन्द्रियाँ निष्क्रिय नहीं रहती हैं, बल्कि वे भी अपनी धारणा बनाने में निमग्न रहती हैं—सूंघते समय आँखें भी काम करती हैं और देखते समय स्पर्शेन्द्रिय भी। अतः स्पर्शेन्द्रिय के आलम्बन तप्त लौह-खण्ड को हम चक्षुरिन्द्रिय से देखकर ही उष्ण कह देते हैं, घ्राणेन्द्रिय के आलम्बन चन्दन खण्ड या सुवासित पुष्प को देखकर ही हम उसे सुगन्धित कह देते हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि इन्द्रियों का ऐसा भावन 'संवृति-सत्य' नहीं होता, क्योंकि यह भावन एक प्रकार से ज्ञात सम्बन्ध के आधार पर किया हुआ अनुमान होता है और 'सत् सम्प्रयोग' (प्रत्यक्ष वस्तु का सम्पर्क) से प्राप्त भावन या प्रत्यक्षसम्मत भावन की तरह ही विश्वसनीय होता है। इसी ज्ञात सम्बन्ध के आधार पर बहुधा हमारी इन्द्रियाँ वस्तुओं की 'जाति' या 'आकृति' से ही उनके गुण-वैशिष्ट्य का अनुमान कर लेती हैं और ऐसा करने में हमारी इन्द्रियों को वस्तुओं के साथ उनके गुणानुसारी सन्निकर्ष या तत्काल अनुभावन की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसे हम 'शाबर भाष्य' की शब्दावली में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि ऐसे स्थलों पर हमारी इन्द्रियाँ 'प्रत्यक्षतोदृष्ट सम्बन्ध' के बदले 'सामान्यतोदृष्ट सम्बन्ध' से ही काम चला लेती हैं।[1] इस प्रकार भावन की आवृत्ति से बने संस्कारों के कारण हमारी इन्द्रियों के बोध में विनिमय या विपर्यय-सा होता रहता है। यह विनिमय या विपर्यय ही 'सिनेस्थेसिया' या 'कॉरेस्पाण्डेन्स' के सिद्धान्त का मूल है, जिसके चलते श्रवणेन्द्रिय का विषय चक्षुरिन्द्रिय का विषय बन जाता है। सारांश यह है कि अपने पूर्वसंचित संस्कारों के उद्बोध के कारण हम सामान्य लक्षण से विशेष लक्षण तक पहुँच जाते हैं। ऐन्द्रिय ज्ञान की दृष्टि में यह पद्धति हमारे 'उपनय' का मूल है, जिस पर 'शाबर

1 *Dr Jwala Prasad*, History of Indian Epistemology, Munshiram Manoharlal, Delhi 6, p 271

भाष्य'[1] और कुमारिलभट्ट के 'श्लोकवार्तिक' में विस्तार से विचार किया गया है।[2] इस सस्कारोसिक्त उपनय के कारण ही हमारी इन्द्रियों के भावन में वह धर्म-विनिमय होता रहता है, जो 'सिनेस्थेसिया' या 'कॉरेस्पाण्डेन्स' का आधार कहा जा सकता है। ऐन्द्रिय बोधा का यह विनिमय या इन्द्रिया का यह गुण-विपर्यय हमार सचित सस्कारा स निर्मित एक प्रकार का 'सम्बन्ध क्षेत्र' है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि ऐन्द्रिय सवेदनो के बीच केवल वर्ण-बोध और स्वर-बोध ही परस्पर सम्बद्ध नहीं हैं, वल्कि सभी प्रकार के ऐन्द्रिय बोध एक-दूसरे म सम्बद्ध रहते हैं तथा उनका अधिकरणगत पारस्परिक विनिमय या विपर्यय चलता रहता है। हां, सौन्दर्यशास्त्रीय विवेचन में श्रव्यकला और दृश्यकला जैसा प्रमुख विभाजन रहने के कारण स्वर-बोध और वर्ण-बोध को प्रधानता मिलती रही है। दृष्टि चेतना से सम्बद्ध होने के कारण रगो का प्रभाव बहुत व्यापक होता है। चित्रकला विशारदा का कहना है कि वे सुगन्ध और दुर्गन्ध को भी रगो के द्वारा व्यक्त कर सकते हैं। इसी प्रकार भाव व्यजना की दृष्टि से पीला रग प्रकाश और प्रसन्नता का द्योतक है। इतना ही नही, श्वत रग से सात्विक भावनाओ का, नीले रग स प्रतिष्ठा तथा कुलीनता का और लाल रग से युयुत्सा, मन्यु तथा खतरे का व्यजन होता है। रगा के द्वारा व्यक्त हानेवाली एवविध भाव व्यजना प्रधानत हमारी वर्ण-सवेदना पर निर्भर करती है। दृष्टि चेतना स मिलनेवाले वर्ण-सवेदन को हम शरीर विज्ञान की मान्यताओ के आलोक म भी समझ सकते हैं। शरीर-विज्ञान के अनुसार पुतलियो के द्वारा प्रकाश आंखा मे प्रवेश करता है और अक्षि-गोलक की पश्चाद्वर्ती झिल्ली पर, जिसे 'रेटिना' कहते हैं, जाकर केन्द्रित होता है। अक्षिगोलक की इस पश्चाद्वर्ती झिल्ली म दो प्रकार के बहुत छोटे-छोटे कोष होते हैं, जिन्हें शलाका और शकु कहते हैं। इन कोषा का सम्बन्ध दृष्टि चेतना के स्नायुआ स होता है। अक्षिगोलक की पश्चाद्वर्ती झिल्ली के परिवृत्त मे शलाका नामक कोष पर्याप्त मात्रा में रहते हैं और उन पर केवल प्रकाश तथा छाया का ही प्रभाव पड़ता है। दूसरे प्रकार के शकु नामक कोष अक्षि-कोटर मे अधिक रहते हैं, अक्षि-परिवृत्त म कम। इन शकुआ को उनके गुणा के अनुसार तीन प्रकारा मे विभाजित किया गया है—1 वे जो लाल और हरे रग से प्रभावित होते है, 2 वे जिन पर नीले और पीले रग का प्रभाव पड़ता है, और 3 वे जो काले तथा सफेद रग की चेतना को ग्रहण करते हैं। किसी वस्तु के द्वारा विकीर्ण होकर जब प्रकाश अक्षिगोलक की पश्चाद्वर्ती झिल्ली पर केन्द्रित होता है, तब शलाका और

1 Shabar Bhasya, translated into English by Ganganath Jha, Oriental Institute, Baroda, 1933

2 Sloka Vartika of Kumaril Bhatta, translated by Ganganath Jha, Allahabad, 1905, p 68, Aphorism IV

के लिए लनार्द द विन्शी का ग्रन्थ 'पैरेगन' एक प्रकाश-स्तम्भ का काम करता है। इस ग्रन्थ मे सभी ललितकलाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इस प्रसग मे यह स्मरणीय है कि अन्य कलाओ के ज्ञान पर अधिकार रखते हुए भी लनार्द द विन्शी प्रधानत चित्रकार थे। अत उक्त ग्रन्थ मे ललितकलाओं के तुलनात्मक अध्ययन या इन कलाओ के पारस्परिक अन्त सम्बन्धो के विवेचन मे विन्शी ने चित्रकला को ही एकागी प्रधानता दे दी है।

'पैरेगन' के दूसरे अध्याय मे विन्शी ने चित्रकला और काव्यकला का सुन्दर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। चित्रकला और काव्यकला का साम्य बहुत प्राचीन काल से विचारको द्वारा निर्दिष्ट किया जाता रहा है। भारतीय विचारको मे क्षेमेन्द्र ने इसी दृष्टि से कवियो के लिए चित्रकला के ज्ञान को आवश्यक माना है। 'कविकण्ठाभरण' के छठे-सातवें श्लोक मे क्षेमेन्द्र ने इस ओर सकेत किया है। क्षेमेन्द्र ने तो कवियो से यह निवेदन किया है कि उन्हे कविता के साथ विविध ललितकलाओ मे परिचित होना चाहिये—

> लोकाचार परिज्ञान विविक्ताख्यायिका रस।
> इतिहासानुसरण चारुचित्र निरीक्षणम्॥
> शिल्पिना कौशलप्रेक्षा वीर युद्धावलोकनम्।
> शोकप्रलाप श्रवण श्मशानारण्य दर्शनम्॥[1]

पश्चिम मे बहुत पहले से यह उक्ति प्रचलित है कि चित्र मूक कविता है और कविता सवाक् चित्र है। प्लेटो ने भी एकाधिक सन्दर्भों मे इन दोनो के साम्य को निर्दिष्ट किया है। अरस्तू का भी यही हाल है। इन्होंने अपने 'पोयेटिक्स' मे काव्य-कला का तात्त्विक साम्य चित्रकला के साथ कई बार दिखलाया है। तदनन्तर, सिसेरो, क्विण्टिलियन, होरेस इत्यादि ने इन दोनो के साम्य-निरूपण को सवर्द्धित किया है। प्राचीन चित्राक्षरो मे भी काव्य और चित्र का अन्त सम्बन्ध द्योतित होता है, क्योकि काव्य-रचना जिन वर्णों या अक्षरो मे अकित होती है, उन वर्णों या अक्षरो का प्रारम्भ इन चित्राक्षरो से ही हुआ है। सचमुच वर्णों से काव्य की चित्रोपम मूर्त्तता प्रमाणित होती है, क्योकि वर्ण तो एक प्रकार का चित्र है और चित्र का आधार कुछ मूर्त्त होता है—यह प्रसिद्ध है। भारतवर्ष मे भी काव्य के वर्ण-लेखन को चित्रकला-जैसा महत्त्व मिला था और विशेषकर मुगल-काल मे यहाँ इस विशिष्ट लेखन-कला के क्षेत्र मे अब्दुलरशीद, दयालमीर तथा बहादुरशाह जैसे माहिर कलाकार हो चुके थे। काव्य म प्रयुक्त वर्णों की चित्रकलावत् मूर्त्तता सिद्ध करने के लिए उस काल मे तैयार की गयी 'गीतगोविन्द' आदि की पाण्डुलिपियाँ

1. क्षेमेन्द्र, कविकण्ठाभरणम्, काव्यमाला चतुर्थगुच्छक, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1899, पृ 127

प्रमाणस्वरूप हैं, जिनमें इन चार प्रकार की हस्तलिपियों के प्रयोग मिलते हैं—1. कूफी अर्थात् कोणवाली, 2. नस्ख—मुड़े हुए अक्षरवाली, 3 नस्तालीक—जिसमें अक्षर नस्ख से अधिक मुड़े हुए हों, और 4 शिकस्त—नस्तालीक का एक दूसरा प्रकार।[1] इतना ही नहीं, आलेखन, चित्रलिपि या 'चित्रलिखा', मुसव्विर[2] और राक़िम ऐसे अनेक शब्द हैं, जो काव्य और चित्र की निकटता को सूचित करते हैं। अतः प्रोफेसर रैन्सेल्येर, कार्ल बोरिन्सिकी इत्यादि ने काव्यकला और चित्रकला के अन्तःसम्बन्ध या पारस्परिक साम्य पर उल्लेखनीय कार्य किया है। आधुनिक विचारकों में आई. ए. रिचर्ड्स ने भी काव्यकला और चित्रकला की तात्त्विक एकता का निर्देश किया है।[3]

शास्त्रीय परम्परा के अनुसार काव्य और चित्र—दोनों का आधार 'अनुकरण' है, जिस अनुकरण के सिद्धान्त को प्रवर्तित करने में अरस्तू अग्रणी हैं। अतः आधार—अनुकरण—की एकता रहने के कारण इन दोनों कलाओं में साम्य का रहना स्वाभाविक है। इसी प्रकार शास्त्रीय (क्लासिकल) परम्परा के अनुसार 'सकलनत्रय' का नियम काव्यकला और चित्रकला—दोनों के लिए अनिवार्य माना जाता था। ड्राइडन तक ने इन दोनों कलाओं में उत्कृष्टता के आधान के लिए 'सकलनत्रय' को आवश्यक माना था।[4]

तदनन्तर, काव्यकला और चित्रकला का सादृश्य या पारस्परिक अन्तःसम्बन्ध इससे भी पुष्ट होता है कि इन दोनों की विषय-वस्तु में प्रायः कई दृष्टियों से समानता रहती है। और, कला का इतिहास हमें कई ऐसे उदाहरण देता है, जहाँ काव्य के विषय ने चित्र को और चित्र के विषय ने काव्य को प्रभावित किया है। 'वीनस' पर लिखी गयी कई कविताएँ विभिन्न चित्रकारों की चित्र-कृतियों में प्रस्तुत 'वीनस' के रूप वैभव से प्रेरित होकर रची गयी हैं। इसी तरह यह प्रसिद्ध है कि रैफेल काव्य में लिये गये विषयों को चित्र में प्रस्तुत करने की कला में अद्वितीय था। ऐसी ही समानताओं और आधारगत एकता के कारण अनेक कला-विचारकों ने ऐसी सूक्ति गढ़ने की चेष्टा की है कि चित्र वैसी कविता है, जिसे हम

1. असितकुमार हालदार, भारतीय चित्रकला, चन्द्रलोक प्रकाशन, इलाहाबाद, 1959, पृ 22-23, और श्री नानालाल चिमनलाल मेहता, भारतीय चित्रकला, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, 1933, पृ. 44-45
2. द्रष्टव्य : Ain i Akbari, Abul Fazl, translated into English by H Blochmann, Aadiesh Book Depot, Delhi 7, 1965, pp 102-113. अकबर के समय नस्तालीक शैली को विशेष प्रतिष्ठा मिली। अकबर ने इस शैली के सर्वश्रेष्ठ लिपिकार को ही 'जरीं कलम' की उपाधि दी।
3. *I A. Richards*, Principles of Literary Cristicism, London, 1955, p. 160
4. Paragone, Leonardo Da Vinci, translated by I A. Richter, London, p 40

'सुनते' नहीं, 'देखते' है और कविता वह चित्र है, जिसे हम 'देखते' नहीं, 'सुनते' हैं। अर्थात्, अभिव्यक्ति-पद्धति और भावन के समय माध्यमस्वरूप ऐन्द्रिय-प्रतीति के भेद के अलावा इन दोनों कलाओं में कोई तात्त्विक भेद या पार्थक्य नहीं है। इस प्रकार कविता और चित्रकला के अन्त सम्बन्ध की दृष्टि से काव्य और चित्रकला में विषय-वस्तु का प्रभूत साम्य विचारणीय महत्त्व रखता है। भारतीय साहित्य में भी हम एक ओर कृष्ण के उलूखल-बन्धन या रास-लीला को सूर या अन्य अनेक कवियों की कविताओं में पाते हैं और दूसरी ओर उसी भगिमा के साथ उलूखल-बन्धन या रास-लीला को अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी की पहाड़ी शैली के चित्रों में पाते हैं। इस तरह कविता की विषय-वस्तु को चित्रों में बाँधने का अविरल प्रयास मिलता है, जो इन दो कलाओं की पारस्परिकता का प्रमाण है। भारत कला-भवन, काशी के एक विशिष्ट सग्रह में बिहारी[1] और केशवदास[2] की कुछ पंक्तियों की विषय-वस्तु को बड़ी मार्मिकता के साथ चित्र में उपस्थित किया गया है। तदनन्तर, मेवाड़-शैली और बसौली-शैली के अनेक चित्रों में कई चुटीली कविताओं की विषय-वस्तु को अंकित किया गया है। इन शैलियों के अतिरिक्त पहाड़ी-शैली और कम्पनी-शैली में भी कविताओं से ली गयी विषय-वस्तु का कलात्मक अकन मिलता है। इस दृष्टि से 'तूतीनामा' भी एक उल्लेखनीय चित्रमाला है, जिसके अन्तर्गत अकबर-काल की लोक-शैली में एक कथानक को चौबीस चित्रों में अंकित किया गया है।[3] अकबर के काल में काव्य की विषय-वस्तु को चित्रकला में बाँधने की विशेष प्रवृत्ति मिलती है।[4]

काव्य और चित्र—दोनों कलाओं में 'सगति' का तात्त्विक महत्त्व है। काव्य में वह सगति रहती है, जो ध्वनियों और वर्णों के उच्चारण-सौन्दर्य से निर्मित होती है और श्रवण का विषय होती है तथा चित्रकला में वह 'सगति' रहती है, जो विभिन्न आकृतियों या रग-रेखाओं के अनुपात से निर्गत होती है और चक्षु का

1. कहा भयो जो बीछुरे, मो मनु तो मनु साथ।
   उड़ी जाउ कितहूँ तऊ, गुड़ी उड़ाइक हाथ॥

   द्रष्टव्य—भारत-कला-भवन का चित्र-सग्रह, फलक 2, क

2. देखनि उदधि जात देखि देखि निज गात,
   चम्पक के पास कछू लिख्यो है बनाई कै।
   . . . .
   मोसो कर जोर दूनो दूनो दुख पाइ कै॥

   द्रष्टव्य—भारत-कला-भवन का चित्र-सग्रह, फलक 4.

3. कलानिधि, काशी, वर्ष 1, अक 2, पृ. 148

4. कलानिधि, काशी, अक 3, पृ 27, 'अकबरकालीन चित्रित ग्रन्थ और उनके चित्रकार' शीर्षक निबन्ध, ले. रायकृष्ण दास।

विषय होती है।[1] तदनन्तर, काव्य और चित्र मे एक तात्त्विक सम्बन्ध इससे भी प्रमाणित होता है कि चित्रकला के छह अगो मे से तीन अग या तत्त्व काव्य-कला मे विद्यमान रहते है। वात्स्यायन कृत कामसूत्र के प्रथम अधिकरण के तृतीय अध्याय की टीका लिखते समय यशोधर पण्डित ने चित्रकला के इन षडगो पर विचार किया है। कामसूत्र मे चित्रकला के ये षडग वर्णित हैं—

रूपभेदा प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम्।
सादृश्य वर्णिकाभग इति चित्रम् षडगकम्॥

इन षडगो मे तीन—भाव, लावण्य-योजना और सादृश्य—काव्य में भी प्रमुख महत्त्व रखते हैं। अत चित्रकला और काव्य की तात्त्विक समानता उक्त ग्रन्थ से समर्थित होती है। चित्रकला के षडगो पर विचार करते समय अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने तत्त्व ही नही, सृजन प्रक्रिया के आधार पर भी काव्य और सगीतकला से लेकर मूर्तिकला तक मे समानता का प्रतिपादन किया है। इनका कथन है कि "चित्र तब बनता है, जब चित्रकार की अन्तर्हित उदयकामना या अभिव्यक्ति-वेदना छन्द के नियमो से अपने को बाँधकर अन्तर्बाह्य दो प्रकार से अपने को रसोदय में परिणत करती है। शब्दचित्र, सगीत, वाच्यचित्र, कविता, दृश्यचित्र, पट और मूर्ति आदि कोई भी सृजन की इस स्वाभाविक प्रक्रिया का अनुसरण किये बिना अभिव्यक्त हो ही नही सकते। अगर कुछ इस स्वाभाविक प्रक्रिया का अतिक्रमण कर उदय होता है तो उसे सगीत, कविता या चित्र नहीं कहूँगा।"[2] इस तरह ललितकलाओं के तात्त्विक अन्तःसम्बन्ध और पारस्परिक सादृश्य के प्रति अवनीन्द्रनाथ ठाकुर कम सजग नही थे, किन्तु इस सन्दर्भ मे इनकी दृष्टि 'बौद्धिक' से अधिक 'भावुक' थी। जैसे, इन्होंने छन्द को ललितकलाओं के अन्तःसम्बन्ध का सर्वाधिक प्रतिपादक साधन या तत्त्व माना है और छन्द की ऐसी व्यापक व्याख्या भावुक भाषा मे कर दी है कि कोई भी गद्य-कवि मात हो सकता है। उदाहरणार्थ, अपने विवेचन मे प्रयुक्त छन्द के स्वरूप की विवृति करते हुए इन्होंने लिखा है—"....छन्द को कहा गया है 'छन्दयति इति छन्द'। क्योंकि वे आनन्दित करते हैं। इनके उदय के उन्मेष और उदय की समाप्ति इन दोनों की शुभ दृष्टि के द्वार प्रच्छदपट की भाँति

3 यहाँ यह ध्यातव्य है कि चित्रकला ही नहीं सभी दृश्य कलाओं में सगति, विशेषकर अनुपात की सगति, विद्यमान रहती है। दृश्य कलाओं में सगति पैदा करनेवाले अनुपात को हम वास्तु अनुपात कह सकते हैं और अन्य कला, जिसका सगीत, में 'सगति' पैदा करनेवाले अनुपात को हम सारगम अनुपात कह सकते हैं। स्वर के अन्तरालों पर निर्भर इसी सारगम अनुपात को लक्ष्य करके पिथागोरस ने अपने प्रसिद्ध सिद्धान्त—Theory of Numerical Proportion—को प्रवर्तित किया था।

1 अवनीन्द्रनाथ ठाकुर भारत शिल्प के षडग, अनुवादक—महादेव साहा, नया हिन्दुस्तान प्रकाशन, 2 डी मिन्टो रोड, इलाहाबाद, 1958 पृ 1

दोदूल्यमान है, इसीलिए कहा गया है, 'आच्छादयति इति छन्द'। रूप के अन्दर जैसे उदय या अभिप्राय निहित रहता है, उसी तरह छन्द के अन्दर से चित्रकार का मनोभिप्राय अपने को व्यक्त करता है; इसीलिए छन्द को ही अभिप्राय कहा जाता है। अब हम देखते हैं कि छन्द आनन्दकारी, छन्द आच्छादनकारी होता है, छन्द अभिप्राय को वाहित करनेवाला सुपथ है, छन्द नदी के जल की भाँति तरंगमाला की शोभा है। 'छन्दस्तु नानाविधम्'। छन्द बहुविध होता है, रूप का, प्रमाण का, भाव का, लावण्य का, सादृश्य का, वर्णिका-भंग का छन्द।'''छन्द किसमें नहीं है? कहाँ नहीं है? छन्द अन्ट-सन्ट बाना में है, छन्द नववधू के टांड (बाहु-भूषण) और कंगण के रुनझुन में है, छन्द समुद्र और चन्द्र के पुनर्मिलन में है, छन्द दिनमणि के विरह में है, कमलिनी के म्लान मुख पर है 'अन्तर से पिचकारी छूटकर बाहर को रँग रही है, बाहर पिचकारी छूटकर अन्तर को रँग रही है, यह दौड़कर निकलने और दौड़कर भीतर आने में जो हिन्दोल या होली-लीला होती है, उसी को छन्द कहते हैं।"[1] ऐसी कवि-दृष्टि से विवृत छन्द स्वरूप को लेकर ही अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने ललितकलाओं के पारस्परिक अन्त सम्बन्धों का विवेचन किया है। अत इनके द्वारा प्रस्तुत किया गया ललितकलाओं के तात्त्विक एकत्व या पारस्परिक अन्त सम्बन्ध का निरूपण लनार्दो द विन्शी के 'पैरेगन' में उपलब्ध एतादृश निरूपण से भी अधिक भावुक है और एक सृजनशील कलाकार की आत्मानुभूति-मात्र से उत्थित है। इस तरह प्रकट है कि यद्यपि अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की मान्यता हमारे अध्येतव्य विषय के अनुकूल है, तथापि इनकी उपपत्ति कवि-सुलभ भावुकता के कारण इतनी अशास्त्रीय हो गयी है कि वह कला-तत्त्व के शास्त्रीय विवेचन में बहुत महत्त्व नहीं रखती है।

उपरिविवेचित 'छन्द' को यदि संगति के अर्थ में लिया जाय तो उससे काव्य और चित्रकला के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है, क्योंकि संगति के अर्थ में 'छन्द' रंगों में भी रहता है, जिसे 'कलर-हार्मनी' कहते हैं। बंगला में इसके लिए 'वर्ण-छन्द' शब्द का प्रयोग होता है। हम जानते हैं कि वर्ण चित्रकला का उपादान है और छन्द काव्य का एक विख्यात अंग। किन्तु, वर्ण-छन्द ऐसी चीज मान लेने से यह स्वत सिद्ध हो जाता है कि वर्ण और छन्द के समीकरण की एक सम्मिलनभूमि भी है, जहाँ पहुँचकर चित्र काव्यधर्मी और काव्य चित्रधर्मी बन जाते हैं। तदनन्तर, कविता में वर्ण या रंग (जो दृश्य कलाओं का उपादान है) का महत्त्व भी इसे प्रतिपादित करता है कि कविता का दृश्य कलाओं, विशेषकर चित्रकला, के साथ तात्त्विक अन्त सम्बन्ध है। शेली ने रंग को कविता का 'इन्स्ट्रूमेण्ट

1 अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, भारत शिल्प के षडंग, अनुवादक—महादेव साहा, नया साहित्य प्रकाशन, 2 डी मिण्टो रोड, इलाहाबाद, 1958, पृ 25 26

एण्ड मैटीरियल' कहा है।[1] सचमुच, रग प्रधानत चित्रकला का उपादान होकर भी इसलिए काव्य के निमित्त महत्त्वपूर्ण है कि एक सुदीर्घ अवधि से कलाओ मे प्रयुक्त होते होते विविध प्रकार के रगा ने अपनी एक निश्चित अर्थवत्ता अर्जित कर ली है।[2]

अब काव्य और चित्रकला की तात्त्विक अन्त सम्बद्धता पर इस सैद्धान्तिक निरूपण के बाद व्यावहारिक दृष्टि से सोदाहरण विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है ताकि सैद्धान्तिक दृष्टि से निकाले गये निष्कर्षों की परीक्षा प्रयोग के निकष पर हो सके।

भारतीय साहित्य के अवलोकन से भी काव्य और चित्रकला के बीच तात्त्विक अन्त सम्बन्ध तथा प्रभावों के विनिमय का प्रमाण मिलता है। विशेषकर भारतीय काव्य म निबद्ध कृष्ण और राधा की प्रेमकथाओ ने चित्रकला को भूरिश प्रभावित किया है। यह कहना अधिक उचित होगा कि काव्य मे वर्णित राधा कृष्ण ने चित्र-कला के राधाकृष्ण को प्रभावित किया है तथा चित्रकला मे अकित राधाकृष्ण ने काव्य मे वर्णित राधाकृष्ण को प्रभावित किया है। डब्ल्यू जी आर्चर ने लगभग उनतालीस प्लेटो के द्वारा, जो प्राय पन्द्रहवी शताब्दी स अठारहवी शताब्दी के बीच की मुगल, कांगडा, बसोली, गढवाल, बिलासपुर, राजस्थान, जौनपुर, इत्यादि कलमा और स्थानो से प्राप्त चित्रकृतियाँ हैं उक्त मान्यता को प्रतिपादित करन की चेष्टा की है।[3] इन कृतिया को देखने के बाद यह पता चलता है कि जिस प्रकार जयदव, विद्यापति, चण्डीदास, मीराबाई, कृष्णदास, सूरदास, परमानन्द दास, कुम्भनदास इत्यादि की कविताओ के माध्यम स कृष्ण कथा ने भारतीय काव्य को प्रभावित किया, उसी तरह कृष्ण कथा ने भारतीय चित्रकला पर भी अपना आधिपत्य स्थापित किया। विशेषकर, कांगडा कलम के चित्रो पर कृष्ण काव्य का सर्वाधिक प्रभाव लक्षित होता है। मानो कृष्ण-काव्य के कलात्मक निदर्शनो को ही कांगडा-कलम मे चित्रो द्वारा उपस्थित करने की चेष्टा की गयी हो। लगभग 1450 ईस्वी मे ही कृष्ण-काव्य के उत्कृष्ट भावो को चित्रकला मे उपस्थित करने की परिपाटी चल पडी। सबसे पहले 'गीतगोविन्द' के कुछ मार्मिक भावो को चित्रो मे उपस्थित किया गया।[4] बाद म चलकर 'भागवत पुराण' के कुछ रोचक स्थलो

1 *Shelley* A Defence of Poetry, collected in English Critical Essays (19th Century) edited by Edmund D Jones London, 1950 p 106
2 *Walter Sargent*, The Enjoyment and Use of Colour, New York, 1923, p 50
3 *W G Archer*, The Loves of Krishna in Indian Painting and Poetry, London 1957
4 *M R. Majumdar*, The Gujarati School of Painting, Journal of the Indian Society of Oriental Art, 1942, Volume X, Plates 3-4

को चित्र में दिखलाने की चेष्टा की गयी। तदनन्तर, जैन चित्रकला, मुस्लिम चित्रकला—सबको कृष्ण-काव्य ने भूरिश प्रभावित किया। इस तरह अत्याधुनिक काल तक कृष्ण-काव्य के चित्र-विचित्र भाव चित्रकला में स्थान पाते रहे हैं। यह इसी से प्रमाणित होता है कि आधुनिक भारतीय चित्रकला के चार प्रमुख कलाकारों—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अमृता शेरगिल, जामिनी राय और जार्ज कीट—में अन्तिम दो—जामिनी राय और जार्ज कीट ने भारतीय काव्य में वर्णित कृष्ण-सम्बन्धी भावों को ही अपनी चित्रकला का विषय बनाया। जार्ज कीट ने अपनी चित्रकृतियों में विशेषकर 'गीतगोविन्द' के भाव चित्रों को प्रस्तुत किया है। उसके चित्रों पर कृष्ण-काव्य का निविड प्रभाव इससे भी सिद्ध होता है कि उसने 'गीतगोविन्द' का अनुवाद किया था। फलस्वरूप, 'गीतगोविन्द' के अनेक हृदयहारी भाव उसके संस्कार में समा गये थे, जिनकी सतत अभिव्यक्ति उसके चित्रों में पायी जाती है।[1] इतना ही नहीं, भारत की ग्राम्य, आंचलिक या जानपदिक चित्रकला को भी कृष्ण-काव्य ने प्रभावित किया है। डब्ल्यू जी आर्चर ने बंगाल के ग्रामों में बसनेवाली एक पेशेवर 'जदुपटुआ' जाति का उल्लेख किया है, जिसके सदस्य घूम-घूमकर कृष्ण-कथा को गीतबद्ध कर गाते चलते हैं और उसके भावों का समानान्तर प्रदर्शन अपने रंगीन चित्रों द्वारा करते जाते हैं।[2]

जिस तरह भारतीय कला के इतिहास में हम काव्य और चित्रकला के बीच इनके तात्त्विक अन्तःसम्बन्ध को समर्थित करनेवाला पारस्परिक प्रभाव-विनिमय पाते हैं, उसी तरह पाश्चात्य कला-साहित्य में भी इस पारस्परिक प्रभाव-विनिमय के अनेक उदाहरण मिलते हैं। कहा जाता है कि स्पेन्सर के कई काव्यात्मक स्थल चित्रित यवनिकाओं और स्वांगलीलाओं पर निर्भर हैं तथा अठारहवीं शताब्दी की भूदृश्यांकन-सम्बन्धी कविताओं पर क्लोद लोरें तथा Salvatore Rosa के चित्रों का गहरा प्रभाव है। यह भी कहा जाता है कि कीट्स की प्रसिद्ध कविता 'ओड ऑन ए ग्रेसियन अर्न' की सम्पूर्ण प्रेरणा और परिवेश क्लोद लोरें के एक विशेष चित्र से गृहीत है।[3] इसी तरह स्टिफेन ए लाराबी ने इस तथ्य का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है कि किस प्रकार ग्रीक मूर्तिकला ने अंग्रेजी कविता को विषय वस्तु और प्रेरणा की दृष्टि से प्रभावित किया है।[4] रेने वेलक और ऑस्टिन वारेन ने

1 George Keyt by *Martin Russel*, Bombay, 1950
2 *W G Archer*, The Loves of Krishna in Indian Painting and Poetry, London, 1957, p 112
3 John Keats by S r *Sidney Colvin*, London, 1917
4 *Stephen A Larrabee*, English Bards and Grecian Marbles, The Relationship between Sculpture and Poetry specially in the Romantic Period, New York, 1943

अल्बेयर थिबॉडे के ग्रन्थ[1] के आधार पर यह उल्लेख किया है कि मुलार्मे की अपनी एक प्रसिद्ध कविता[2] की विषय-वस्तु लन्दन नेशनल गैलरी में प्राप्त बाउचर के एक चित्र पर्यवेक्षण से मिली थी।[3] चार्ल्स बॉद्लेयर ने अपनी कविताओं में जिस यथार्थवाद की यदा-कदा अभिव्यक्ति की है, उसकी प्रेरणा उसने कुर्बे की चित्रकृतियों से ग्रहण की थी।[4] इतना ही नहीं, स्वयं बॉद्लेयर ने ऐसे कुछ चित्र भी बनाये हैं, जो उसके काव्य के कला-पक्ष की मूर्त पीठिका प्रस्तुत करते हैं। इन चित्रों में ये विशेष उल्लेखनीय हैं—'चार्ल्स बॉद्लेयर सेल्फ पोर्ट्रेट', 'पोर्ट्रेट ऑव ए वूमैन' और 'चार्ल्स बॉद्लेयर सेल्फ पोर्ट्रेट ड्रॉन अण्डर द इन्फ्लुयेन्स ऑव हशिश'। सम्भव है, कुछ लोगों की दृष्टि से बॉद्लेयर की कला में चित्र और काव्य का यह तात्त्विक सम्मिश्रण या प्रभाव-विनिमय घुणाक्षर न्याय से हो गया हो, किन्तु, वास्तविकता ऐसी नहीं है। वह सिद्धान्ततः कलाओं का पारस्परिक प्रभाव विनिमय और तात्त्विक समीकरण चाहता था। बॉद्लेयर के विशेषज्ञ एनिड स्टार्की ने भी इस तथ्य पर विशेष बल दिया है।[5]

इसी तरह रोजेटी के चित्रों और दान्ते के काव्यगत भावों के तुलनात्मक विवेचन से काव्य और चित्रकला के तात्त्विक अन्तःसम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है। रोजेटी ने 1862 ई. के पूर्व दान्ते की कविता के कुछ भावों के अनुरूप चित्र बनाये थे तथा कुछ अपनी कविताओं के भावों को भी मूर्त पीठिका प्रदान करने के लिए उसने अनेक चित्र प्रस्तुत किये थे, जिन्हें आधार मानकर निकोलेट ग्रे ने एक ही विषय पर रचित काव्य और चित्रकला का अच्छा तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। प्रसंगानुसार ग्रे ने काव्य और चित्रकला के तात्त्विक अन्तःसम्बन्ध का जो

1 La Poesie de Stephane Mallarme (Paris 1925)
2 L' Apris midid urn faume '
3 *Rene Welleck* and *Austin Warren*, Theory of Literature, Harcourt Brace and Company, New York, 1946, p 124
4 Charles Baudelaire (Selected Poems), translated by *Geoffrey Wagner* and an introduction by *Enid Starkie*, London, 1946, p 11
5 "Baudelaire imagined that it might be possible to find one art which would compromise all the languages, would appeal to all his senses . In his poetry he endeavoured to use the idiom of all the arts, to render what his eyes saw not merely in line and colour, what his ear perceived not only in harmony, but to glide imperceptibly from one mode of expression to the other. Since 'les parfums, les couleur set les sons se repondent' then he could render colour by means of harmony and sound by means of colour and line "—*Enid Starkie*, Charles Baudelaire (Selected poems), translated by Geoffrey Wagner, London, 1946, p 15.

निरूपण किया है, वह अध्येतव्य है।[1] काव्य और चित्रकला के तात्त्विक अन्त-सम्बन्धों के उद्घाटन-क्रम में इस पर भी विचार किया जाना चाहिए कि कुछ प्रसिद्ध कवियों द्वारा प्रस्तुत काव्य वर्णित छवि को स्वयं कवि ने अपनी चित्रकला में या अन्य चित्रकारों ने अपने चित्रों में किस तरह अभिव्यक्त किया है। इस दृष्टि से डी. जी. रोजेटी, हल्मन हन्ट तथा मिलेस विशिष्ट और उल्लेखनीय हैं। ये तीनों काव्य-रसिक चित्रकार थे। रोजेटी को कीट्स की कविताओं से अत्यधिक प्यार था। अतः इसने कीटस की कविताओं में प्राप्त अनेक छटाओं को अपनी तूलिका से आँकने का सफल प्रयास किया है। इसी तरह हल्मन हन्ट और मिलेस, शेक्सपीयर की कविताओं से प्रभावित थे। फलस्वरूप इन दोनों ने शेक्सपीयर के काव्य में प्रस्तुत कई छवियों को चित्र में आँकने की चेष्टा की है।[2] काव्य और चित्र के इस प्रभाव-विनिमय और पारस्पर्य से *इन दोनों कलाओं का अन्तःसम्बन्ध समर्थित होता है।*

हम देख चुके हैं कि अंग्रेजी के रोमाण्टिक कवियों के बीच काव्य और चित्र-कला की अन्तरंगता की दृष्टि से डी. जी. रोजेटी की कृतियाँ और विचार उल्लेख-नीय महत्त्व रखते हैं। रोजेटी की दृष्टि में श्रेष्ठ कविता के लिए चित्रात्मक होना आवश्यक है।[3] सम्भव है, रोजेटी कवि और चित्रकार—दोनों थे, अतः इन्होंने काव्य की चित्रात्मकता और चित्र की काव्यात्मकता पर बल दिया। इनके अनुसार चित्र के विषय में काव्यात्मक भाव-निवेदन रहना चाहिए और कविता के भाव-निवेदन में एक चित्रोपम चाक्षुष भंगिमा होनी चाहिए। इस प्रकार रोजेटी *काव्य-तत्त्व और चित्रात्मकता की युगपद् स्थिति के व्याख्याता थे। अतः मॉरिस बाउरा* ने रोजेटी की कला पर विचार करते समय उनकी कला के एतादृश तत्त्व समास को विशेष महत्त्व दिया है।[4] इस तरह रोजेटी शब्द और लय के माध्यम से वह प्रभाव पैदा करना चाहते थे, जो प्रायः रंग और रेखाओं से सम्भव हुआ करता है। रोजेटी ने 'द हिल सम्मिट'-जैसी कविताओं में ऐसी ही समन्वित कला का निदर्शन प्रस्तुत किया है। अतः विद्वानों का कथन है कि रोजेटी के व्यक्तित्व और कला में

1 *Nicolette Gray*, Rossetti, Dante and Ourselves, Faber and Faber, London, 1945, p 17

2 अमितकुमार हाजरा : यूरोपेर शिल्प कथा (स्थापत्य भास्कर्य ओ चित्रकला) कलकत्ता विश्व-विद्यालय प्रकाशन पृ 109 110।

3 रोजेटी ने अपनी मान्यता को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"Picture and Poem must bear the same relation to each other as beauty in man and woman, the point of meeting where the two are most identical is the supreme perfection "—*D G Rossetti*, Collected Works of Dante Gabriel Rossetti, p 15

4 *Sir Maurice Bowra*, The Romantic Imagination, Oxford University Press, London, 1961, p 207

हम चित्र और काव्य का अद्भुत समन्वय पाते है।[1]

जिन अनेक कवियो के चित्रकार होने से काव्य और चित्रकला का तात्विक अन्त सम्बन्ध समर्थित होता है, उन चित्रकार-कवियो मे, विशेषकर अग्रेजी के रोमाण्टिक कवियो के बीच, विलियम ब्लेक का बहुत ऊँचा स्थान है। अत इनके काव्य और चित्रकला पर कुछ विस्तार मे विचार करना समीचीन प्रतीत होता है।[2] ब्लेक की चित्रकला की सर्वश्रेष्ठ विशिष्टता है उसकी प्रतीकात्मकता, कारण, ब्लेक की दृष्टि म किसी भी कलाकृति के उत्कृष्ट होने के लिए उसका प्रतीकात्मक होना अनिवार्य है। इसीलिए ब्लेक ने कला मे विनियोग पानेवाली कई प्रकार की कल्पनाओं के बीच प्रतीकात्मक कल्पना को ही सर्वोच्च स्थान दिया और प्रतीकात्मक कल्पना की ऊँचाई को निर्दिष्ट करने के लिए उसे 'विजन' कहना अधिक पसन्द किया। फलस्वरूप, ब्लेक की चित्रकला मे हमे उसके काव्य की तरह कल्पना और आध्यात्मिकता की अधिकता मिलती है। इतना ही नही, अन्य दृष्टियो से भी ब्लेक की कविता और चित्रकला मे सैद्धान्तिक समानता है, जो दोनो कलाओ के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध को महत्त्वपूर्ण सिद्ध करती है। जैसे, ब्लेक ने कविता की तरह चित्रकला मे व्यर्थता के बहिष्कार और अर्थवत्ता के आधान को पार्यन्तिक महत्त्व दिया है।[3] किन्तु, ब्लेक की चित्रकला के प्रसग मे हमे महादेवी की चित्रकला की तरह यह स्वीकार करना पडता है कि ब्लेक ने चित्रकला के शिल्प-पक्ष की कोई विधिवत् शिक्षा नही पायी थी। अत ब्लेक की चित्रकला मे भी शिल्प नैपुण्य नही है, जिस अभाव की पूर्ति उन्होने महादेवी के सदृश अपने सहज ज्ञान और कल्पनाशक्ति की समृद्धि से की है।[4]

ललितकलाओ का तात्त्विक मिश्रण या विशेषकर काव्य, चित्र और सगीत को परस्पर निकट लाकर उनके कुछ तत्त्वो का मिश्रण स्वच्छन्दतावाद (रोमाण्टिसिज्म) की एक विशिष्ट प्रवृत्ति है। अग्रेजी की रोमाण्टिक कविता या हिन्दी की छायावादी कविता मे ही नही, अन्यत्र भी जब जब साहित्य जगत् मे स्वच्छन्दतावाद (रोमाण्टिसिज्म) की हवा चली है, तब-तब वहाँ के साहित्य सृजन मे ललित-

1 *Lucien Pissarro*, Rossetti, published by T C and E C Jack, London, pp 11-12

2 William Blake and his Illustrations to the Divine Comedy, collected in Essays and Introductions by *W B Yeats*, London, 1961, p 116

3 "As poetry admits not a letter that is insignificant, so painting admits not a grain of sand or a blade of grass insignificant, much less an insignificant blot or blur"—quoted on p 122, Essays and Introductions by W *B Yeats*, London, 1961

4 महादेवी के काव्य और चित्रकला का तुलनात्मक अध्ययन, जो काव्य और चित्रकला के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध को उदाहृत करता है, प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के द्वितीय खण्ड के प्रथम अध्याय म उपस्थित किया जायेगा।

धनाओं की परस्परोपकारिता देखी गयी है। जर्मनी के रोमाण्टिक साहित्य का यही हाल रहा है।[1] अत हम काव्य और चित्रकला के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध को निरूपित करते समय ब्लेक के काव्य और चित्रकला को इसी सन्दर्भ मे रखकर देखना है।

ब्लेक की चित्रकला पर डी एच लॉरेन्स ने भी विचार किया है। लॉरेन्स का *कहना है कि ब्लेक इगलैण्ड के चित्रकारो के बीच एक अपवाद था, क्योंकि* ब्लेक ने भूदृश्यांकन (लैण्डस्केप) और जलरग चित्रण (वाटर कलर), जो इगलैण्ड की चित्रकला के प्रधान अग हैं, स भिन्न कल्पना-निगूढ चित्रो का सृजन किया। यद्यपि ब्लेक ने अपने चित्रो को कृत्रिम ढग से प्रतीकात्मक बना दिया और चित्रो की तथोक्त अतिशय कृत्रिम प्रतीकात्मकता ने कुछ विचारको की दृष्टि मे ब्लेक की चित्रकला को दोषपूर्ण बना दिया, तथापि ब्लेक के चित्रो मे सहजानुभूति और अन्त प्रेरित भावुकता की प्रचुरता मिलती है[2] जिसे हम उसकी रोमाण्टिक प्रवृत्ति का प्रतिफलन कह सकते हैं। इतना ही नहीं, कल्पना सहजानुभूति और अन्त प्रेरित भावुकता की अधिकता के कारण उसकी अधिकाश चित्र कृतियाँ यहाँ तक कि चित्रो मे अकित मानव-आकृतियाँ भी मात्र भावचित्र बनकर रह गयी हैं। और, यह जगजाहिर बात है कि ब्लेक के चित्रो की यह आत्मनिष्ठ भावुकता उसके काव्य म भी प्रचुर मात्रा मे मिलती है।

कुल मिलाकर ब्लेक की सबसे बडी कलात्मक उपलब्धि है—काव्य-कला और चित्रकला का समन्वय, *जिसे हम 'सिन्थेसिस ऑव लिटररी एण्ड विजुअल फॉर्म्स'* कह सकते हैं। तदनन्तर, यह ध्यान देने की बात है कि ब्लेक की कविताएँ और चित्र परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं तथा पारस्पर्य के आधार पर एक दूसरे की अर्थवत्ता का उद्घाटन करते हैं।[3] प्रो एन्थोनी ब्लण्ट की तो यह धारणा है कि ब्लेक का एकमात्र जीवनव्यापी उद्देश्य था काव्य और चित्रकला के बीच समीकरण तथा तात्त्विक सामजस्य उपस्थित करना। अत ब्लेक न केवल कवि या केवल चित्रकार था, बल्कि वह कवि चित्रकार था।

ब्लेक ने चित्रो के द्वारा अपने काव्य की तरह अन्तर्मन के धार्मिक और दार्शनिक

1 *Charles Edwyn Vaughan* The Romantic Revolt London, 1907, p 186
2 *D H Lawrence*, A Propos of Lady Chatterley's Lover and Other Essays, Penguin Books, p 26
3 Title page to the Songs of Innocence, Title page to the Songs of Experience (Plate No 14a-145), Infant Joy (Plate 15a), The Sick Rose (Plate 155), The Shepherd (Plate 175), The Divine Image (18a), The Blossom (185) The Echoing Green (19a), Holy Thursday (195), Title page to the Marriage of Heaven and Hell (Plate 22a),—The Art of William Blake by *Anthony Blunt*, New York, 1959.

विचारो को व्यक्त करने की चेष्टा की है।[1] अत ब्लेक की कविता और चित्र दोनो म हम एक प्रकार का रहस्यात्मक प्रतीकवाद मिलता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि मौलिक होते हुए भी ब्लेक ने काव्य और चित्र—दोना क्षेत्रो में अपने पूर्ववर्तियो से प्रभाव ग्रहण किया है। किन्तु, इन गृहीत प्रभावो के वजूद मे भी अपनी समृद्ध कल्पना के कारण ब्लेक मौलिकता से वचित नही हो सके है। इनकी चित्रकला के प्रसग मे यह जान लेना आवश्यक है कि कवि बनने के बहुत बाद इन्होने चित्रकार के रूप मे अपना विकास किया। कविता के क्षेत्र मे जहाँ इन्हाने बीस वर्ष की उम्र तक आते आते ऐसी अनेक उत्तम कविताओ की रचना की, जिनकी श्रेष्ठता को ये अपनी परवर्त्ती रचनाओ के द्वारा अतिक्रान्त नही कर सके, वहाँ चित्रकार के रूप म इनका विकास तीस वर्ष की उम्र के बाद प्रारम्भ हुआ। किन्तु इनके कवि रूप और चित्रकार रूप के आरम्भ और विकास मे जो भी काल भेद रहा हो इनके उक्त दोनो रूप एक दूसरे के पूरक रहे हैं। 'साग्स ऑव इन्नोसेन्स' से प्रारम्भ कर 'इल्युमिनेशन्स टु जेरूजलम', 'द बुक ऑव जॉब' और 'दान्ते वाटर-कलर्स' की चित्रावलिया तक सर्वत्र इनके काव्यगत भावा की ही ऋजु या प्रकारान्तर अभिव्यक्ति हुई है। अत इनकी कलाकार-आत्मा ने कवि और चित्रकार -इन दोनो रूपो मे अपनी अभिव्यक्ति पायी है। फलस्वरूप, इनकी कला को पूर्णत समझने के लिए इनके ये दोनो रूप अक्षुण्ण महत्त्व रखते है। सचमुच, जैसा कि एन्थौनी ब्लण्ट ने कहा है, ब्लेक का स्थान चित्रकार के रूप मे उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना कि कवि के रूप मे।[2] इतना ही नही, ब्लेक ने समान सिद्धान्तो के आधार पर काव्य और चित्र—दोनो की सृष्टि की है। उदाहरण के लिए, ब्लेक ने इन दोनो कलाओ के मूल म 'कल्पना' या 'डिवाइन विजन' को प्रधान स्थान दिया है। अत इनकी स्पष्ट धारणा है कि काव्य और चित्र (सगीत भी) कल्पनात्मक कलाएँ हैं तथा इनका पारस्परिक अन्त सम्बन्ध कल्पना की उभयनिष्ठता पर मुख्यत निर्भर है।[3] फलस्वरूप, ब्लेक ने इन कल्पनात्मक कलाओ के अन्त सम्बन्ध के कारण इनसे सम्बद्ध कलाकारो—यथा, कवि, चित्रकार, सगीतज्ञ, स्थापत्यकार प्रभृति को एक

1 *Sherman E Lee*, 'Les Ulhona and Blake's Illustrations to Dante', collected in 'Art and Thought' (issued in honour of Dr Anand K Coomarswamy on the occassion of his 70th birthday) edited by A

Anthony Blunt,

1959

ही कोटि का मनुष्य माना है।[1] इसी तरह रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं और चित्रों के अध्ययन में इन दोनों कलाओं का तात्त्विक अन्त सम्बन्ध प्रतिपादित होता है, क्योंकि उनकी चित्रकला रेखाओं में रची हुई उनकी कविता सिद्ध होती है।[2]

काव्य और चित्रकला की तरह चित्रकला और संगीतकला में भी प्रभूत तात्त्विक साम्य है। प्रभाव की अन्विति, विधान की चारुता और सानुपातिक सौन्दर्यात्मक उपनयन के लिए एक प्रकार के 'गणित' का निर्वाह, जिन्हें हम ललित-कलाओं की तात्त्विक विभूति कह सकते हैं, चित्रकला और संगीतकला में समान रूप से विनियोग पाते हैं। उदाहरणार्थ, अनुपात-रक्षा जिस तरह संगीतकला के स्वर-सामंजस्य में अपेक्षित है, उसी तरह अनुपात रक्षा चित्र-जगत् के रूपांकन में लालित्य सृष्टि के लिए अनिवार्य है। इस प्रकार 'अनुपात' को हम 'लय' की तरह समग्र ललितकलाओं की नींव कह सकते हैं।

इसी 'अनुपात' पर कलाओं का संयोजन-सिद्धान्त निर्भर करता है। यह सर्व-विदित है कि कला की सभी कृतियाँ 'संयोजन' से सौष्ठव प्राप्त करती हैं। विविध कलाओं में समानरूपेण समादृत इस संयोजन-तत्त्व को सिद्ध करनेवाले कुछ प्रमुख साधन इस प्रकार हैं—अनुपात, सन्तुलन और समप्रवाह अथवा छन्दगति। सन्तुलन द्वारा संयोग में स्थायित्व का आधान होता है। स्थापत्यकला और मूर्तिकला को छोड़कर शेष कलाओं में यह 'सन्तुलन' भौतिक पदार्थों का न होकर प्रधानतः भावनाओं का होता है। भौतिक दृष्टि से सन्तुलन की उपलब्धि के लिए समान माप की वस्तुओं को समान अन्तर पर रखा जाता है अथवा असम माप की वस्तुओं को विषम अन्तर पर उपस्थित किया जाता है। इस प्रकार स्थापत्यकला और मूर्तिकला में सन्तुलन की स्थापना के लिए दृष्टि चेतना का विशेष सहारा लिया जाता है। दृष्टि-चेतना पर निर्भर सन्तुलन प्रधानतः दो प्रकार का होता है—सम सन्तुलन और असम सन्तुलन। सम सन्तुलन में एक मध्य बिन्दु से समान अन्तर पर समान आकार अथवा समान तौल की वस्तुओं का अभिविन्यसन किया जाता है। तदनन्तर असम सन्तुलन में किसी मध्य बिन्दु से असम पार्थक्य पर विषम, माप अथवा तौल की वस्तुओं का विन्यास किया जाता है। इस असम सन्तुलन से कभी

1 A Poet a Painter, a Musician, an Architect,
the Man or Woman who is not one of these is not a Christian
You must leave Father and Mother
and Houses and lands if they stand in the way of Art
--Blake s Works, edited by *Geoffrey Keynes*,
Nonesuch Press, 1925, p 765

2 Fragment from a Letter by Rabindranath Tagore, 4 Arts Annual, 1936-37, edited by *A Coomarswamy, O C Gangoly*, Corporation Street, *Calcutta*,

कभी कलाओं मे रस-वैविध्य अथवा भाव-शबलता का सचार होता है।

तदनन्तर, सगीतकला जिन दृश्य-अदृश्य सूक्ष्मताओ का निबन्धन ध्वनि या लय के सहारे करती है, उन्हे चित्रकला रग-रेखाओ के द्वारा व्यक्त करती है।[1] इसी पृथुल साम्य के कारण लनार्द द विन्शी ने चित्र और सगीत को भगिनी कला के रूप मे स्वीकार किया है।[2] विन्शी स भी बहुत पहले प्लूटार्क ने सम्भवत चित्र-कला और सगीतकला के साम्य को निर्दिष्ट करन क लिए चित्रकला की तुलना मे सगीतकला के एक विशेष अग—नृत्यकला को उपस्थित कर दिया था।

भारतीय कला-साहित्य के अवलोकन स सगीतकला और चित्रकला का तात्त्विक अन्त सम्बन्ध इस कारण प्रतिपादित होता है कि यहाँ प्राय सभी राग-रागिनियो के वैशिष्ट्यबोधक चित्र रग-रेखाओ मे बँधे मिलते हैं। य रागमाला चित्र सगीतकला और चित्रकला की पारस्परिकता के द्योतक है। विशेषकर राज-स्थानी चित्र तो रागमाला के अकन स भरे पडे हैं। रागमालाओ की कल्पना का प्रादुर्भाव-काल 15वी शती के आस-पास माना जाता है। राजस्थान शैली के अलावा रागमाला चित्रावलियाँ दक्नी शैली, वसोहली शैली, पहाडी शैली और मुगल शैली मे भी पायी जाती है। किन्तु, कला-दृष्टि स राजस्थानी रागमाला ही महत्त्वपूर्ण है। राजस्थानी चित्रकला मे प्रचलित ये रागमाला-चित्र ललितकलाओं के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध और उनकी पारस्परिकता के अद्भुत प्रमाण है, कारण, इन राज-स्थानी रागमाला चित्रो मे उस नायिकाभेद की भी अभिव्यक्ति हुई है, जो काव्य-कला का विषय है और जिसका प्रचार राजस्थान शैली मे 'रसिकप्रिया' की रचना के बाद हुआ।[3] इस प्रकार रागमाला चित्रो के माध्यम से नायिका-भेद के चित्रण ने भारतीय कला मे काव्य, चित्र और सगीत की त्रिवेणी प्रस्तुत कर दी। अत सैद्धान्तिक धरातल पर ही नहीं, व्यवहार मे भी चित्रकला और सगीतकला का तात्त्विक अन्त सम्बन्ध स्पष्ट है।

कुछ विचारक चित्रकला और सगीतकला की पृथकता को प्रतिपादित करते हुए कहते है कि चित्रकला मुख्यत वर्ण-सयोजन और रूप विधान है, जबकि सगीत-कला मुख्यत स्वर-योजना और भावाभिव्यक्ति है। साथ ही, उनका यह मत है कि काव्य-रचना के जिस युग म दृश्य गुण की प्रधानता रहती है, उस युग की काव्य-रचना मे चित्रात्मकता बढती जाती है और सगीतात्मकता घट जाती है। इसके विलोमस्वरूप जिस युग की काव्य-रचना मे सगीतात्मकता अधिक रहती है, उसमे

1 Paragone by *Leonardo Da Vinci*, with an introduction and English translation by *Irma A Richter*, London, p 73

2 Ibid, p 74

3 कला-भवन का एक विशिष्ट चित्र सग्रह, राय आनन्दकृष्ण, कला-निधि, काशी, अक 6, पृ. 69

चित्रात्मकता पड़ जाती है। किन्तु यह धारणा नितान्त भ्रान्तिपूर्ण है, क्योंकि प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के द्वितीय खण्ड के प्रथम अध्याय में हम यह पायेंगे कि छायावाद युग की कुछ उत्कृष्ट रचनाओं में किस प्रकार संगीतात्मकता और चित्रात्मकता —दोनों का एक साथ पूर्ण निर्वाह हुआ है। इस दृष्टि से 'राम की शक्ति पूजा' विशेष प्रशंसनीय है। इतना ही नहीं, पाश्चात्य संगीत में भी वर्ण-राग को बजाकर महत्त्व देकर बेरलियोज ने व्यावहारिक धरातल पर चित्र और संगीत के सान्निध्य अन्तःसम्बन्ध को सिद्ध कर दिया है। दार्शनिक धरातल पर हीगेल ने इन दोनों कलाओं के अन्तःसम्बन्ध को बहुत स्पष्टता के साथ स्वीकार किया है और यह माना है कि ये दोनों कलाएँ अत्यन्त निकट हैं।[1] इसी तरह गिलसन ने भी आधार, आलम्बन तथा प्रेषणीयता की दृष्टि से इन दोनों कलाओं के सान्निध्य अन्तःसम्बन्ध का उद्घाटन किया है।[2]

तदनन्तर, कई चित्रकारों की चित्रकला पर विचार करने से चित्र और संगीत के अन्तःसम्बन्ध का पता चलता है। उदाहरण के लिए हम कान्डिन्स्की की चित्रकला पर विचार कर सकते हैं। कान्डिन्स्की अमूर्त अभिव्यंजनावाद या नैरूप्यवाद के प्रथम कर्ता शिल्पी माने जाते हैं।[3] इन्होंने सर्वत्र अपनी कृतियों में चित्रकला और संगीतात्मकता के बीच अद्भुत सादृश्य और तात्त्विक साम्य दिखलाने की चेष्टा की है। कहा जाता है कि आधुनिक कलाओं, विशेषकर चित्रकला के नैरूप्यवादी विधान में संगीतात्मकता भरने की जैसी चेष्टा कान्डिन्स्की ने की है, वैसी चेष्टा कोई अन्य चित्रकार अब तक नहीं कर सका है।[4] कान्डिन्स्की की यह कला-प्रवृत्ति एक तात्त्विक सिद्धान्त पर निर्भर है। इस तात्त्विक सिद्धान्त का मूलाधार है—रंगों का मनोवैज्ञानिक प्रभाव।[5] रंगों के इस मनोवैज्ञानिक प्रभाव के द्वारा ही नाद और वर्ण (रंग) के समीकरण को उपस्थित कर चित्रों में संगीतात्मकता भरी जाती है।

तदनन्तर, चित्रकला और मूर्तिकला का तात्त्विक अन्तःसम्बन्ध सहज अनुमेय है। ये दोनों कलाएँ दृश्य हैं, चाक्षुष प्रत्यक्ष पर अधिक निर्भर हैं, स्थूल साधनों के द्वारा अभिव्यक्ति और प्रेषणीयता को सम्पन्न करती हैं तथा भाव के किसी आस्पद को देशीय अन्तराल (स्पेस) में रखकर उपस्थित करती हैं।[6] अतः चित्रकला और

1 *Hegel*, The Philosophy of Fine Art, Volume III, London, 1920, p 347-348
2. *Etienne Gilson*, Painting and Reality, London, 1957, p 18
3. श्री अर्द्धेन्दुकुमार गंगोपाध्याय, रूपशिल्प, प्रथम संस्करण, कला परिचिति होम, धर्मतल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता, पृ 21, 29
4 *E H Ramsden*, An Introduction to Modern Art, London, 1940, p. 34.
5 Ibid, p 36-37
6 *Hegel*, The Philosophy of Fine Art, translated by *Osmaston*, London, 1920, Volume III, p. 348.

मूर्तिकला का तात्त्विक अन्त सम्बन्ध उतना ही स्पष्ट है, जितना त्रि काव्य और संगीत का।

दृश्य कलाओ के बीच चित्रकला और स्थापत्यकला के अन्त सम्बन्धों पर कुछ विस्तार मे विचार करने की आवश्यकता है, क्योंकि चित्रकला आधार और माध्यम की दृष्टि से दृश्य कलाओ के बीच सर्वाधिक सूक्ष्म है और स्थापत्यकला सर्वाधिक स्थूल। तथापि कलाओ के बीच तात्त्विक अन्त सम्बन्ध की व्याप्ति के कारण इन दोनो कलाओ मे भी पर्याप्त पारस्परिकता है। विशेषकर, 'कन्स्ट्रक्टिविज्म' के उदय के बाद चित्रकला और स्थापत्यकला की निकटता और भी महत्त्वपूर्ण हो गयी है। चित्रकला मे इस 'वाद' के प्रवर्त्तको ने स्थापत्य से आगे बढकर अभियान्त्रिकी के समावेश को वाछनीय माना है। इस प्रकार चित्रकला के क्षेत्र मे लगभग 1917 ई के पश्चात् त्रिपार्श्ववाद (क्युबिज्म) को अपूर्ण मानकर इस नये 'वाद' का प्रवर्त्तन चित्रकला म स्थापत्य के तत्त्वो की स्वीकृति का प्रमाण है।[1] सच तो यह है कि स्थापत्यकला सभी कलाओ की जननी है। अग्रेजी मे एक पुरानी कहावत प्रचलित है—'आर्किटेक्चर इज दँ मदर ऑव दँ आर्ट्स।' अत कई विचारको, जैसे आर. एच विलेन्स्की ने चित्रकला और स्थापत्य के तात्त्विक अन्त सम्बन्धो पर विस्तृत विचार किया है।[2] त्रिपार्श्ववाद या घनवाद की उद्भावना के प्रमुख कारणो म चित्रकला पर स्थापत्य का प्रभाव भी एक है। जाँ गोर्दो ने तो घनवाद को 'पेण्टर्स इक्विवैलेंट टु आर्किटेक्चर' कहा है।[3] अत जाँ गोर्दो, आर. एच विलेन्स्की इत्यादि ने घनवाद का मूल्याकन स्थापत्य के प्रभावो और स्थापत्य की रुचि के अनुसार किया है। विलेन्स्की ने स्थापत्य रुचि क आधार पर वान गॉग, गॉगिन और रेनियर की कृतियो को दृष्टिगत रखते हुए घनवाद क दो नूतन भेद प्रस्तुत किये हैं— फ्लैट पैटर्न क्युबिज्म' और 'माउण्टेन ऑव ब्रिक्स क्युब्रिज्म।'[4] प्रथम प्रकार का समर्थन करनेवाला चित्रकार चपटी सतह पर कुछ प्रतीको के सहारे अभीप्सित वस्तु को उपस्थित करता है, जिसम चित्रात्मक सघटन (डायग्रामेटिक ऑर्गेनाइजेशन) रहता है। दूसरे प्रकार का चित्रकार भी अपने को 'वास्तु चित्रकार' (आर्किटेक्चर पेण्टर) कहता है, किन्तु वह एक धारणा के लिए एक ही प्रतीक का समर्थक नही है। उसके अनुसार एक धारणा मे अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ और

1 *Sheldon Cheney*, The Story of Modern Art, New York, 1947, pp 474-76
2 *R H Wilenski*, The Modern Movement in Art, London, 1956,
3 *Jan Gordon*, Modern French Painters, 134— 'Cubism is the painter's equivelent to architecture, or we may say architecture is a variety of Cubist sculpture "
4 *R H Wilenski*, The Modern Movement in Art, London, 1956, pp 165-66

अर्थ-छवियाँ अंकित रहती हैं। अत उनमें इनके लिए प्रतीकों का वैविध्य चाहिए। इस प्रकार उक्त विश्लेषण से यह संकेतित होता है कि चित्रकला और स्थापत्यकला में केवल शास्त्रीय दृष्टि से पारस्परिक अन्त सम्बन्ध नहीं है, बल्कि इन दोनों में प्रभावों का विनिमय चलता रहता है।

चित्रकला की तरह काव्य पर भी कहीं-कहीं स्थापत्य का तात्त्विक प्रभाव पाया जाता है। उदाहरण के लिए विलियम मॉरिस की कविताओं पर स्थापत्य का प्रभाव।[1] इतना ही नहीं, अंग्रेजी आलोचना में कविता का विश्लेषण स्थापत्यकला के रूपकों के आधार पर होता रहा है, जो उक्त दोनों कलाओं की पारस्परिकता का निदर्शक है।[2] संस्कृत नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में निरूपित प्रेक्षागृह और रंगमंच के विधान भी इस ओर प्रकारान्तर से संकेत करते हैं। भरत के नाट्यशास्त्र, शिल्परत्न,[3] संगीतरत्नाकर[4] और मानसार शिल्पशास्त्र[5] में रंगमंच और प्रेक्षास्थल का जैसा निरूपण किया गया है, वह काव्य के एक विशिष्ट अंग—नाटक के साथ स्थापत्यकला की तात्त्विक निकटता को घोषित करता है।

तदनन्तर, संगीतकला और स्थापत्य में जो तात्त्विक अन्त सम्बन्ध है, वह उपेक्षणीय नहीं है। यद्यपि संगीत श्रव्य कला है और कुछ विचारकों की दृष्टि में सूक्ष्मतम कला है तथा स्थापत्यकला दृश्यकला है और सर्वाधिक स्थूल कला है, तथापि इन दोनों का तात्त्विक अन्त सम्बन्ध अक्षुण्ण है। इसीलिए हेगेल ने स्थापत्य-कला को 'फ्रोजेन म्युजिक' कहा है। अत इसके विलोम को स्वीकार करते हुए हम संगीत को 'फ्लोइंग आर्किटेक्चर' कह सकते हैं। स्थापत्यकला की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें सम्बन्ध-संगति रहती है और इसमें सन्तुलन, परस्पराश्रित संयोजन और विनियुक्त उपादानों का घनत्व अन्य ललितकलाओं की अपेक्षा अधिक मिलते हैं। *संगीतकला भी अपनी उत्कृष्टता के निमित्त स्थापत्यकला के उक्त तत्त्वों* को स्वीकार करती है। संगीतकला के क्षेत्र में स्वीकृत विधानों के बीच हम स्वर-सन्तुलन, स्वरों के आरोह-अवरोह का परस्पराश्रित संयोजन और स्वर-दोलन की

1 *Graham Hough*, The Last Romantics, London, 1961, p 83

2 जैसे, कॉलरिज ने वर्ड्सवर्थ की आलोचना करते हुए लिखा है .

" the style of architecture of Westminster Abbey is essentially [illegible] had been built with [illegible] Coleridge's [illegible] *Humphrey Milford*, London, 1938, p 50

3 शिल्परत्न, श्रीकुमार, सम्पादक गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज न. 85, 1922.

4 संगीतरत्नाकर, शारंगदेव, सम्पादक मंगेश रामकृष्ण तैलंग, गायकवाड़ संस्कृत ग्रन्थावली, न 35 1897

5. मानसारशिल्पशास्त्र, सम्पादक पी. के. आचार्य, ऑक्सफोर्ड, 1933.

घनता का सचेष्ट निर्वाह मिलता है। विक्टर त्सुकेरकाण्डल ने अपने प्रसिद्ध प्रबन्ध मे संगीत और स्थापत्यकला के इस तात्विक अन्त सम्बन्ध का तर्कपुष्ट निर्देश किया है।[1] संगीत और स्थापत्य मे, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सम्बन्धो की संगति का समान महत्त्व है। संगीत मे यह सम्बन्ध संगति स्वरो के विधान पर निर्भर करती है और स्थापत्य मे यह सम्बन्ध संगति स्थान-सम्बन्धी अन्तराल (स्पेस), प्राचीरो की पक्तिबद्धता और स्थूल द्रव्यो के भार या नाप पर कायम रहती है।[2] अत हीगेल का मत है कि संगीत और स्थापत्य मे प्रभूत साम्य है।[3]

अब हम काव्य और संगीतकला के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध पर विचार करेंगे। ये दोनो श्रव्य कलाएँ है और इन दोनो की निकटता सर्वथा विख्यात है। यह सच है कि अत्याधुनिक कविता ने संगीत से पृथक् होकर अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व का निर्माण किया है और अब वह राग-रागिनियो मे बाँधकर नही रची जाती है, किन्तु, अब भी कविता मे उस लय[4] का महत्त्व सुरक्षित है, जो संगीत का प्रधान तत्त्व है। अत अत्याधुनिक कविता संगीत से रहित नही है, बल्कि वह प्राचीन काव्य के मुखर और आवेष्टित संगीत से दूर है। यह कहना अधिक समीचीन होगा कि अत्याधुनिक कविता मे संगीत का आभ्यन्तरीकरण हो गया है। लय के सहयोग से कविता की आवृत्ति सुगम हो जाती है और उसकी प्रेषणीयता का प्रभाव क्षेत्र बढ जाता है। कविता का नाद सौन्दर्य, भाव प्रकाश अथवा अर्थ वैभव बहुत दूर तक कवियो की संगीत चेतना और लय-निर्वाह पर निर्भर करता है। कविता की यह संगीतात्मकता प्रधानत दो रूपो मे व्यक्त होती है, जिन्हे हम शब्द-संगीत और भाव संगीत या अर्थ-संगीत कह सकते हैं। तदनन्तर, शब्द और स्वर की घनिष्ठता भी काव्य और संगीत के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध का निर्देश करती है। भारतीय परम्परा मे वाणी की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती के हाथ मे (संगीतप्रियता के द्योतन के लिए) वीणा है। इस तरह भारतीय साहित्य मे निरूपित सरस्वती का यह

1 *Victor Zuckerkandl*, Sound and Symbol, translated from the German by *Willard R Trask*, Pantheon Books 1956 p 240
2 S *Alexander*, Beauty and other Forms of Value, London, 1933, p 104
3 'Philosophy of Fine Art', 34

4 काव्य मे प्रयुक्त लय के कई प्रकार होते हैं। जैसे नॉथ्रप फ्रे ने काव्योपयुक्त लय के इतने प्रकार निरूपित किये हैं—(क) छान्दस लय (Prosodic rhythm) जिसका प्रयोग मात्रिक छन्दो मे होता है (ख) उच्चरित लय (accentual rhythm) जिसका प्रयोग वर्णिक छन्दो मे होता है (ग) अर्थनिर्भर लय (semantic rhythm) जिसके द्वारा अत्याधुनिक काव्य में संगीत का आभ्यन्तीकरण हुआ है। अनुकृत अथवा स्वागयुक्त लय (mimetic

पौराणिक स्वरूप भी काव्य (वाणी) और संगीत के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध का निदर्शक है। सचमुच दोनो के सयोग से आकृति की व्यंजना निखर उठती है और कविता आत्मा का मुखर सगीत बन जाती है।[1]

अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र मे कविता के छह प्रमुख तत्त्वो मे 'म्यूजिक'[2] और 'डिक्शन'[3] की गणना की है और इन दोनो को प्रधानता दी है। सचमुच, कविता मे ध्वनि और लय—दो ऐसे तत्त्व हैं, जिनका सगीत से निकट सम्बन्ध है। प्रधानत. इन्ही दो तत्त्वो के कारण काव्य मे सगीत का आधान होता है। अत हम जब 'काव्य मे सगीत' की चर्चा करते हैं, तब हमारा आशय सगीत की सम्पूर्ण शास्त्रीयता से नही रहता। जैसाकि नॉर्थ्रप फ्रे का कथन है, काव्य का स्वर-सौन्दर्य या उसकी स्वर सम्पदा ही काव्य का सगीत है।[4]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कविता मे छन्द और लय की स्वीकृति काव्य और सगीत की तात्त्विक निकटता का प्रमाण है। लय तो कविता के लिए छन्द से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योकि कविता छन्द का तिरस्कार कर सकती है, किन्तु लय का बहिष्कार नही कर पाती।[5] यही कारण है कि हिन्दी की छायावादी कविता मे जो मुक्त छन्द वर्णिक-मात्रिक बन्धनो के विरुद्ध विद्रोह का हरकारा बनकर उपस्थित हुआ, वह लय की विद्यमानता के कारण ताल छन्द बन गया। इस तरह कविता और सगीत ही नही, सभी ललितकलाओ मे लय सयोजन के अन्तर्भूत तत्त्वो मे महत्त्वपूर्ण है। स्थापत्य जैसी स्थूल कला मे लय का स्थान अक्षुण्ण रहता है। कलाशास्त्रियों ने स्थापत्यकला मे प्रयुक्त लय को 'आर्किटेक्टोनिक रिद्म' कहा है।[6] अत उपर्युक्त विश्लेषण मे यह स्पष्ट होता है कि लय की सार्वत्रिक विद्यमानता सभी ललितकलाओ के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध के निदर्शक कारणो मे एक है। फलस्वरूप, अनेक आधुनिक पाश्चात्य विचारको ने लय की तात्त्विक सर्वनिष्ठता के कारण सभी ललितकलाओ के तत्त्वगत अन्त सम्बन्ध को अत्यधिक

1 भारतीय काव्यशास्त्र में कही-कही काव्योत्कर्ष के विश्लेषण में नृत्य (जो सगीत का एक विशेष अग है) का सहारा लिया गया है। उदाहरणार्थ 'अग्निपुराण मे जब चतुष्पष्टि कलाद्वेधा कर्माद्यैर्गीतिकादिभि' कहकर काव्य की सहायिका भगिनी कलाओं के सकेत से पुराणकार को सन्तोष नही हुआ, तब 'अग्निपुराण' मे नृत्यादावगकर्मनिरूपणम्' के नाम से नृत्यकला पर एक अध्याय ही लिख दिया गया।—द्रष्टव्य अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली 1959 पृ 51
2 *Melos*
3 Lexis
4 *Northrop Frye*, Sound and Poetry, New York, 1957, pp 10-11
5. Two Lectures on an Aesthetic of Literature by *B S Mardhekar*, Karnatak Publishing House Bombay 2, 1944, p 27
6 *Elie Faure*, History of Art, Vol 5, translated from French by *Walter Pach*, London, 1930, p 78

महत्व दिया है। कलाओं के बीच इस सर्वसमादृत लय को हम दो मुख्य प्रकारों में बाँट सकते हैं—क्रमसंगत लय और क्रमहीन लय। क्रमसंगत लय में कला-निबद्ध इकाई की निश्चित क्रम से पुनरावृत्ति होती है और क्रमहीन लय में कला-निबद्ध इकाई की आवृत्ति अनिश्चित क्रम में होती है। अर्थात्, क्रमहीन लय में इकाइयों की पुनरावृत्ति विभिन्न प्रकार से होती है। इसका सुन्दर उदाहरण आर्केस्ट्रा के विभिन्न वाद्यों द्वारा उत्पन्न संगीत प्रवाह में पाया जा सकता है।

जिस प्रकार काव्य और संगीत में तात्त्विक दृष्टि से अन्तःसम्बन्ध और प्रभूत साम्य है, उसी प्रकार तुलनात्मक अध्ययन करने पर कुछ कवियों और संगीतकारों में पर्याप्त साम्य दिखायी पड़ता है। पाश्चात्य विचारकों ने कुछ कवियों और संगीतकारों को एक साथ लेकर ऐसे तुलनात्मक अध्ययन का अच्छा प्रयास किया है। **डब्ल्यू आर एस मेण्डल** का कहना है कि बीसवीं शताब्दी में जिस तरह कवियों के बीच **टेनिसन** रचना शिल्प की दृष्टि से असाधारण हैं, उसी तरह बीसवीं शताब्दी में संगीतकारों के बीच **मेण्डलसन** शिल्प नैपुण्य की दृष्टि से अप्रतिम हैं। **शेक्सपीयर, टेनिसन, कीट्स और ब्राउनिंग** के अलावा भी अनेक ऐसे कवि हैं, जो संगीतकारों की तुलना में भले ही कुछ संगीतकला-विषयक विशिष्टताएँ न रखते हों, किन्तु, कवि होने के नाते संगीत जैसी काव्येतर कला से काफी रुचि रखते थे। उदाहरण के लिए हम **बायरन** का स्मरण कर सकते हैं। 1818 ई में **बायरन** की 'द वाल्ज़ एन एपोस्टोफिक हिम्' शीर्षक कविता[1] छपी थी, जबकि 'वाल्त्स' के नाम से प्रसिद्ध इस जर्मन चक्रनृत्य का प्रवेश इंगलैण्ड में 1818 ईस्वी से मात्र एक दशक पूर्व हुआ होगा। पाश्चात्य संगीत में 'रोमाण्टिक म्युज़िक' का अन्य भगिनी ललितकलाओं, विशेषकर, काव्य और चित्रकला से घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रायः ऐसा पाया जाता है कि प्रत्येक कला अपने रोमाण्टिक युग में अधिक प्रभावित रहती है। इसीलिए रोमाण्टिक युग की कविता भी काव्येतर कलाओं से विशेष सम्बन्ध रखती है। फलस्वरूप, प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में ललितकलाओं के तात्त्विक विवेचन को हिन्दी की रोमाण्टिक कविता (छायावाद) के विशेष सन्दर्भ में प्रस्तुत किया गया है।

साराश यह है कि रोमाण्टिक युग की कला में अन्य भगिनी कलाओं के प्रमुख तत्त्वों को अपने आपमें समाविष्ट करने की विशेष प्रवृत्ति रहती है। उदाहरण के लिए रोमाण्टिक युग के पाश्चात्य संगीत में हम काव्यकला की तत्कालीन समस्त प्रवृत्तियों का आधान पाते हैं। **लनार्द जी रैट्नर** ने पाश्चात्य संगीत कला का सर्वेक्षण प्रस्तुत करते हुए रोमाण्टिक युग के इस कला-संगम की चर्चा की है।[2]

1 The Selected Poetry of Lord Byron, edited by *Leslie A Marchand*, New York, 1951, pp 399-406

2 *Leonard G Ratner*, Music—The Listner's Art, New York, 1957, p. 200

रोमाण्टिक युग का प्रमिक सगीत इस दृष्टि से और भी महत्त्वपूर्ण है। यो उन्नीसवी शताब्दी से पूर्व भी सगीतकला म काव्यात्मकता और चित्रात्मकता का समावेश होता रहा था, किन्तु उन्नीसवी शताब्दी म काव्य चित्र और सगीत के तात्त्विक समीकरण को सिद्धान्तत महत्त्व दिया गया।[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पाश्चात्य सगीतकला के रोमाण्टिक युग म सगीत, काव्य और चित्र का बहुत गाढा अन्तर-ग्रथन था। इतना ही नही, इस युग म अनेक सगीतकार, कवि और आलोचक थे। अत इन सगीतकारा की रचना म हम सगीत और काव्य के सयुक्त धरातल की अनुभूति और अभिव्यक्ति मिलती है। इसी युग म वेबर, बर्लियाज, शुमान और वाग्नेर-जैस सगीत विशारद हुए, जिनकी कारयित्री प्रतिभा साहित्य सृजन की ओर भी उन्मुख रहती थी। दूसरी ओर ई टी ए हॉफमान जैस स्वच्छन्दतावाद के प्रबल पक्षधर लेखक थे जो साहित्य सृजन के साथ ही सगीतकला के क्षेत्र म नवीन प्रयोग और नयी रचनाएँ प्रस्तुत कर रहे थे। इस तरह इस युग मे सगीत और काव्य अत्यन्त निकट आ गये (जैस, हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल मे) तथा कवि और सगीतकार एक दूसरे की विशेषताआ के विनिमय मे तल्लीन हो गये। फलस्वरूप, सगीत के काव्यात्मक और काव्य के सगीतात्मक होने की एक विशेष प्रवृत्ति परवान पर पहुँच गयी। कविया ने शब्दा की शय्या सगीत के आधार पर निर्मित की और सगीतकारा ने शब्दा को सगीत का वाहक बना लिया। इस युग मे काव्य और सगीत ही नहीं, बल्कि सभी ललितकलाआ के तात्त्विक सगम का प्रकर्ष वाग्नेर की रचनाओ म मिलता है। वाग्नेर ने अपनी प्रसिद्ध कृति द आर्ट वर्क ऑव द फ्यूचर' मे ललितकलाआ के इस तात्त्विक समागम का सैद्धान्तिक निरूपण किया है।

इसी तरह पाश्चात्य सगीत मे सवादी वर्ण को महत्त्व देने के बाद जिस प्रभाववादी सगीत का श्रीगणेश हुआ, उसका प्रभाववादी चित्रकला और प्रतीकवादी कविता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। तात्त्विक और प्रवृत्तिगत साम्य की बात अलग रही पाश्चात्य प्रभाववादी सगीत का नामकरण ही चित्रकला की उस धारणा के अनुकरण पर किया गया है जिसका नेतृत्व प्रभाववादी चित्रकार कर रहे थे। ये चित्रकार जिस प्रकार अपनी कृतियो म बिन्दुचित्रण के द्वारा धूपछाँही छाया छवि को पैदा करते थे उसी प्रकार प्रभाववादी सगीतकार भी छोटे छोटे स्वन वृत्तो और विरल खण्डित स्वर-सगतियो के द्वारा नाद-सौन्दर्य की प्रभावान्विति का सृजन कर रहे थे। इसी तरह प्रतीकवादी कविया की कविताआ ने प्रभाववादी सगीत को पर्याप्त सामग्री प्रदान की। कहा जाता है कि वर्लेन मलार्मे मेटरलिंक इत्यादि की प्रतीकवादी रचनाआ ने प्रभाववादी सगीतकारो के लिए प्रेरणास्रोत का काम

1 *Leonard G Ratner*, Music—The Listner's Art, New York, 1957, p 230

किया। इनके द्वारा प्रयुक्त व्यंजनाप्रधान छायार्थवाली शैली प्रभाववादी संगीतकारों के लिए बहुत प्रभावक सिद्ध हुई। प्रभाववादियों की संगीत शैली और प्रतीकवादियों की काव्य-शैली ने मिलकर स्वन-सम्पदा के द्वारा शब्द-बिम्बों में अर्थातिशय भरने की नवीन सम्भावनाएँ प्रस्तुत कीं। फलस्वरूप, काव्य संगीत का अलंकार बन गया और संगीत काव्य का शोभादायक गुण।

हिन्दी से सम्बद्ध भारतीय साहित्य और कला की परम्परा में भी हम काव्य और संगीत के बीच तात्त्विक अन्तःसम्बन्ध के कारण पर्याप्त निकटता पाते हैं। विशेषकर तेरहवीं से सोलहवीं शताब्दी तक अमीर खुसरो, गोपालनायक, हरिदास, बैजू बावरा और तानसेन-जैसे अनेक संगीतज्ञ कवि हुए, जिन्होंने अपनी रचनाओं से काव्य और संगीत का बड़ा ही मधुर मेल उपस्थित कर दिया। हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल काव्य और संगीत की दृष्टि से अभूतपूर्व है। भगवान् की लीला के अनुगायन में भक्त कवियों द्वारा रचे गये लीला के पद संगीतज्ञ कवियों के 'ध्रुपद' की तरह ही अपने-आपमें संगीत-सौष्ठव लिये हुए हैं।[1]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यद्यपि संगीत में स्वर और ताल-साधना प्रधान होती है और काव्य में शब्द-साधना के साथ वर्ण एवं मात्रा-गणना प्रधान होती है, तथापि इन दोनों में अनेक तात्त्विक सम्बन्ध हैं। इसीलिए यह कहा जाता रहा है कि 'कविता शब्दों के रूप में संगीत और संगीत स्वर के रूप में कविता है।' सचमुच काव्य और संगीत ही नहीं, प्रत्येक कला अपने चरम विकास के क्षणों में अन्य भगिनी कलाओं का आश्रय ग्रहण करती है। कलाओं के इस पारस्परिक आश्रय की दृष्टि से भारत की मध्यकालीन कलाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं।[2]

यहाँ यह ध्यातव्य है कि काव्य और संगीत का एक-दूसरे के अभाव में भी स्वतन्त्र व्यक्तित्व सम्भव है। जिस तरह इन दिनों हम (अपेक्षाकृत) संगीत से मुक्त

1 नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएँ, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, 1955, पृ 12।

2 'कलाओं के अपूर्व समन्वय द्वारा भावों की जैसी सूक्ष्म तीव्रतम अभिव्यंजना भारत में उस समय (मध्यकाल में) हुई विभिन्न कलाओं का वैसा मणिकांचन संयोग विश्व के इतिहास में अन्यत्र प्राय देखने को नहीं मिलता है। संगीत और साहित्य के इस अपूर्व समन्वय के फलस्वरूप जहाँ एक ओर विपुल पदावली साहित्य तथा 'ध्यान रूपों' की सृष्टि हुई वहीं चित्रकला के अन्तर्गत संगीत की विभिन्न स्वर लहरियों के मनोवैज्ञानिक संकेत 'रागमाला' चित्रों के द्वारा प्रदर्शित किये गये। रागमाला चित्रों में राग-रागिनियों से सम्बद्ध वातावरण दृश्य, विषय, रस, समय तथा भाव आदि का चित्रण होता है, जिनके द्वारा चित्र के देखने मात्र से ही राग अथवा रागिनी के स्वरूप, प्रकृति, रस, समय आदि का पूर्ण ज्ञान हो जाता है।"—डॉ उषा गुप्ता, 'हिन्दी के कृष्णभक्तिकालीन साहित्य में संगीत', लखनऊ विश्वविद्यालय, विक्रमाब्द 2016, भूमिका भाग, पृ ण-त।

कविता को पाते हैं उसी तरह संगीत भी काव्य से सर्वथा मुक्त और पृथक् हो सकता है। संगीत का शास्त्रीय पक्ष इसे सिद्ध करता है कि संगीत शब्द (जो काव्य की सम्पत्ति है) से रहित होकर भी भावाभिव्यक्ति में सफल होता है। गायकों में प्रचलित तराना-शैली से यह बात समर्थित होती है। अर्थहीन तोम् तननन् देरेना-जैसे स्वर वर्ण-समूहों में गायक भावोद्दीपक संगीत की सृष्टि कर लेते हैं। किन्तु, यह तो संगीत का आंशिक और अपेक्षाकृत अमूर्त रूप है। अतः हमारा आशय यह नहीं है कि काव्य के बिना संगीत और संगीत के बिना काव्य की स्थिति सम्भव नहीं है, बल्कि हमारा आशय यह है कि प्रभाववृद्धि के लिए दोनों का पारस्परिक सम्प्लवन अत्यावश्यक है। अर्थात् भावपूर्ण शब्द योजना (जो काव्य की निधि है) के अभाव में संगीत उसी प्रकार कम प्रभावोत्पादक होता है, जिस प्रकार संगीत के अभाव में काव्य।

हिन्दी साहित्य में काव्य और संगीत के तात्त्विक अन्तःसम्बन्ध पर अन्य कलाओं के पारस्परिक अन्तःसम्बन्ध की अपेक्षा अधिक विचार किया गया है। जैसे, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कविता को विवेचित करते समय इसके साथ संगीत के सम्प्लवन को निर्दिष्ट करते हुए लिखा है—"काव्य एक बहुत ही व्यापक कला है। जिस प्रकार मूर्त विधान के लिए कविता चित्रविद्या की प्रणाली का अनुसरण करती है, उसी प्रकार नाद-सौष्ठव के लिए वह संगीत का कुछ कुछ सहारा लेती है। नाद-सौन्दर्य कविता की आयु बढ़ाता है। ' अतः नाद सौन्दर्य का योग भी कविता का पूर्ण स्वरूप खड़ा करने के लिए कुछ न कुछ आवश्यक होता है।"[1] इसी प्रकार हिन्दी की कई कृतियों में काव्य और संगीत के तात्त्विक अन्तःसम्बन्ध का प्रसंगानुसार उल्लेख मिलता है जिनमें निम्नलिखित कृतियाँ उल्लेखनीय महत्त्व की हैं—'पल्लव' की भूमिका, 'परिमल' की भूमिका, प्रसाद कृत 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', श्यामसुन्दर दास कृत 'साहित्यालोचन', रामनरेश त्रिपाठी कृत 'तुलसी-दास और उनकी कविता' (दूसरा खण्ड), 'कविता-कौमुदी' (पाँचवाँ तथा छठा भाग), डॉ. विश्वम्भरनाथ भट्ट-कृत 'रत्नाकर उनकी प्रतिभा और कला', डॉ. दीनदयाल गुप्त-कृत 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय', डॉ. मुंशीराम शर्मा 'सोम'-कृत 'सूर सौरभ', डॉ. हरवंशलाल शर्मा कृत 'सूर और उनका साहित्य', नर्मदेश्वर चतुर्वेदी-कृत 'संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएँ', नर्मदेश्वर चतुर्वेदी कृत 'कवि तानसेन और उनका काव्य', डॉ. उषागुप्त कृत शोध प्रबन्ध 'हिन्दी के कृष्णभक्ति-कालीन काव्य में संगीत', तथा डा. उमामिश्र-कृत 'काव्य और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध।'[2] इन कृतियों में भी अन्तिम दो शोध-प्रबन्ध काव्य और संगीत के

1. रामचन्द्र शुक्ल: चिन्तामणि, प्रथम भाग, पृ. 179-180।
2. डॉ. रामेश्वरलाल खण्डेलवाल ने भी अपने शोध प्रबन्ध के परिशिष्ट में कविता और संगीत

अन्त सम्बन्धो के उद्घाटन की दृष्टि से हिन्दी साहित्य मे विशेष महत्त्वपूर्ण है।

अब हम काव्य और सगीत के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध के उपर्युक्त सैद्धान्तिक निरूपण को प्रयोग के निकष पर जाँचने के लिए किसी इतिहास-प्रसिद्ध कवि की कृतियों का व्यावहारिक अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। ऐसे अध्ययन के लिए **रवीन्द्रनाथ ठाकुर** हमारे समक्ष सर्वाधिक उपयोगी सिद्ध होते है।[1] पहला कारण यह है कि इनकी कृतियो का अध्ययन काव्य और सगीत के अन्त सम्बन्ध की दृष्टि से करने पर हमारे सामने उक्त विषय से सम्बद्ध भारतीय चिन्ताधारा की एक पीठिका उपस्थित हो जाती है। दूसरा कारण यह है कि प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मे कला तत्त्वो का सौन्दर्यशास्त्रीय विवेचन जिस छायावादी कविता के विशेष सन्दर्भ मे किया गया है, उस छायावादी कविता पर **रवि बाबू** की कृतियो का ऋजु या प्रकारान्तर से प्रभाव माना जाता है। अत इस प्रसग मे **रवि बाबू** के काव्य का अध्ययन हमे वह सैद्धान्तिक आधार भी प्रदान करेगा, जिसे ध्यान मे रखकर हम इस शोध-प्रबन्ध के द्वितीय खण्ड के प्रथम अध्याय मे छायावादी कवियो की सगीत-चेतना पर अच्छी तरह विचार कर सकेंगे।

रवि बाबू के काव्य मे सगीत का तत्त्व इतना अधिक है कि इनके काव्यसगीत पर निबन्ध ही नही, प्रबन्ध भी लिखे गये है। जैसे—**शान्तिदेव घोष** का **'रवीन्द्र सगीत'** नामक प्रबन्ध। रवि बाबू की काव्य-चर्चा मे इनके सगीत को इतना महत्त्व मिलने का एक कारण यह है कि काव्य-चेतना के सदृश इनकी सगीत-चेतना मे भी पर्याप्त मौलिकता है। निस्सन्देह, इनकी सगीत चेतना पुरानी मान्यताओ से कई अर्थो मे पृथक् है। उदाहरणार्थ, इनका सगीत भावो के सवाद पर निर्भर है, पुराने सगीत की तरह उस सुर विस्तार पर नही, जिसे प्राय लोग रागिनी की रूप-कल्पना कहते हैं। अर्थात्, रवि बाबू का सगीत उन्मुक्त और निर्वैयक्तिक भाव-सगीत है। इसी तथ्य को हम शब्दान्तर से कह सकते हैं कि इनके सगीत मे स्वर-गठन की अपेक्षा भाव रस की प्रधानता है। अत इन्होने अपने सगीत को राग-रूप

की अन्त सम्बद्धता पर सक्षेप म विचार किया है। द्रष्टव्य—आधुनिक हिन्दी कविता मे प्रेम और सौन्दर्य, डॉ. रामस्वरूलाल खण्डेलवाल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम सस्करण, परिशिष्ट न. 2, पृ 487-489।

1 रवि बाबू ने काव्य के साथ सगीत का बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध माना है। इनकी दृष्टि मे सगीत ललितकला का विशुद्धतम सर्वोच्च रूप है क्योकि सगीत में सौन्दर्य की सर्वाधिक ऋजु अभिव्यक्ति होती है। इसलिए सच्चा कवि सगीत का आश्रय लेकर ही सृष्टि मे व्याप्त सौन्दर्य का शब्दो के माध्यम स प्रेषण करता है—

"Music is the purest form of art, and therefore the most direct expression of beauty Therefore the true poets seek to express the universe in terms of music"—*Rabindranath Tagore*, Sadhana, London, 1961, pp 141-142.

या सुर-विस्तार से नहीं, बल्कि भाव-समृद्धि से रसोत्तीर्ण बनाया है।[1] फलस्वरूप, रवीन्द्र-संगीत में हमें राग-रूप पर विशेष बल नहीं मिलता है। इन्होंने राग-रागिनी की रूप-सृष्टि से भाव को अधिक महत्त्व दिया है और भाव की तुलना में रूप-सृष्टि को गौण स्थान दिया है।[2] इस तरह रवीन्द्र-संगीत में हमें न रागिनी की मूल स्वर-गठन-प्रणाली की ओर कोई विशेष अभिनिवेश मिलता है और न राग-रागिनी के व्याकरणगत शास्त्रीय नियमों का कठोर निर्वाह।

ऊपर कहा गया है कि रवि बाबू की संगीत-चेतना शास्त्रीय संगीत की पुरानी मान्यताओं से कई अर्थों में पृथक् है। किन्तु इसका आशय यह नहीं है कि इनके काव्य-संगीत पर शास्त्रीय संगीत का तिल-भर भी प्रभाव नहीं था। उपर्युक्त कथन का आशय इतना ही है कि इन्होंने शास्त्रीय संगीत का अन्धानुसरण नहीं किया, बल्कि ग्रहण और वर्जन—दोनों से जहदजहत्स्वरूपा रीति पर काम लिया। इन्होंने शास्त्रीय संगीत की कुछ मान्यताओं को स्वीकार किया और कुछ को नहीं। उदाहरणार्थ, एक ओर इन्होंने कई शास्त्रीय रागों और ठुमरी की गाढ़ उपेक्षा की और दूसरी ओर इन्होंने भैरवी को अपने काव्य संगीत में इतना स्थान दिया कि भैरवी के सुर की प्रधानता के कारण कुछ लोग इन्हें 'भैरवी-सिद्ध' कहने लगे। तथापि कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि रवि बाबू ने अपने गीतों में संगीत के व्याकरण का निर्वाह नहीं किया है। मतलब यह कि प्राचीन भारतीय संगीत के प्रति इनकी धारणा दोलाचल स्थिति में है। एक ओर इनकी रचनाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि इन्होंने प्राचीन भारतीय संगीत के नियमों पर निर्मम भाव से आघात किया है, किन्तु दूसरी ओर इन्होंने 'संगीत और भाव' शीर्षक निबन्ध में अपने संगीत-सिद्धान्त को जिस प्रकार उपस्थित किया है, उससे यह सिद्ध होता है कि *रवीन्द्र-संगीत को भारतीय प्राचीन संगीत से पृथक् मानकर देखना उचित नहीं* है। उपर्युक्त सैद्धान्तिक स्वीकृति के अलावा इन्होंने व्यवहार में भी गीत-रचना में *कहीं कहीं भारतीय संगीत-शास्त्र से सहायता ली है*। जैसे, इन्होंने कई गीतों की सुर-योजना और छन्द-वैचित्र्य के आधान में उच्चांग संगीत की राग-रागिनी से पर्याप्त सहायता ली है। विशेषकर हिन्दी प्रदेश में प्रचलित ध्रुपद के अनुकरण पर इन्होंने कई गीतों का स्वर-मंडान बाँधा है। इन्हें भारतीय राग रागिनियों में भैरवी की तरह ध्रुपद में भी प्यार था। कारण, ध्रुपद भारतीय संगीत की एक ऐतिह्यसम्मत गायन-पद्धति है और, दूसरे, ध्रुपद जोड़ासाँको के ठाकुर-परिवार को अत्यन्त प्रिय रहता आया है। यों, विपुल राशि में गीतों की रचना करने के

1 रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जीवन स्मृति, विश्वभारती ग्रन्थालय, कलकत्ता, द्वितीय सुलभ संस्करण, पृ 115।

2 'गुरुदेव रागिनीर रूपसृष्टिते भाव के करलेन मुख्य आर रूप के करलेन गौण"—शान्तिदेव घोष, रवीन्द्र-संगीत, विश्वभारती ग्रन्थालय, कलकत्ता, पृ. 44।

कारण इन्होंने संगीत के क्षेत्र में भी अनेक प्रयोग किये हैं। अतः भैरवी और ध्रुपद के साथ कुछ और राग इनके प्रिय रागों की सूची में गिने जा सकते हैं, जैसे—विहाग, लम्प्राज और इमन। तदनन्तर, संगीत-सचेत कवि होने के कारण इन्होंने अपनी मौलिक प्रतिभा के द्वारा संगीतशास्त्र की राग-रागिनियों से सहायता लेकर नूतन प्रयोग के रूप में अनेक मिश्र सुरों की सृष्टि की है। जैसे, इन्होंने 'उर्वशी' शीर्षक कविता का स्वयं ही मिश्र कानड़ा रागिनी में सम्स्करण किया था। इसी प्रकार इन्होंने 'आजिशरत तपने प्रभात स्वपने' से प्रारम्भ होनेवाले गीत में योगिया-विभास राग का मिश्रित प्रयोग किया है। सामान्यतः योगिया और विभास भिन्न प्रकृति के राग हैं, किन्तु, रवि बाबू ने अपनी संगीत-प्रतिभा के योग से इन दोनों को मिलाकर एक अपूर्व सुर-सौन्दर्य की सृष्टि की है।[1]

इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ठाकुर के काव्य-संगीत पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से काव्य और संगीत का तात्त्विक अन्तःसम्बन्ध और भी स्पष्ट हो जाता है। कविता में संगीत जब काव्यत्व की रक्षा करते हुए सुनियन्त्रित ढंग से समाहित हो जाता है, तब कविता की प्रेषणीयता और मण्डन-शिल्प में एक चमत्कार आ जाता है। इसीलिए रवि बाबू कविता और संगीत के उत्कर्ष विधायक अन्तःसम्बन्ध को स्वीकार करते हुए भी काव्य में संगीत के सुनियन्त्रित आगम के प्रति सचेत थे। यही नहीं काव्य संगीत के विषय में इनकी कई सुचिन्तित मान्यताएँ थीं। जैसे, काव्य-संगीत के अन्तर्गत ये तान-विस्तार के संयम के पक्षपाती थे और राग-संगीत के क्षेत्र में पुनरुक्ति वर्जन के हिमायती थे। काव्य संगीत के विषय में इनका यह आदर्श था कि काव्य का संगीत ऐसा होना चाहिए, जिसमें उसके सुर के भीतर से काव्य का भाव सम्पूर्ण रूप में प्रस्फुटित हो सके। इस बारीक संगीत-चेतना के कारण इन्होंने कई गीतों में छन्द के साथ ताल का विधिवद्ध निर्वाह किया है। जैसे—'हेलाफेला सारा वेला ए कि खेला आपन मने' से प्रारम्भ होनेवाले गीत में इन्होंने आड़ खेमटा ताल का सफल प्रयोग किया है।[2] इसी प्रकार 'ऊ केन चूरि करे चाय' या 'दू जने देखा हल मधु यामिनी रे' जैसे गीतों में इन्होंने छन्द के साथ ताल के जिस समप्रयोग का परिचय दिया है, वह इनकी संगीत-चेतना का प्रमाण है। किन्तु, तान के प्रति स्नेह रखते हुए भी इन्होंने काव्य के काव्यत्व को सुरक्षित रखने के लिए तान के परिमाण के औचित्य का ध्यान रखा है। अतः इन्होंने अपनी तालयोजना को गुन, दोगुन, चौगुन, वाँट इत्यादि से बोझिल नहीं बनाया है। आशय यह है कि ताल-वैचित्र्य या तान-वैविध्य को इन्होंने अपने गीतों के भाव-

1. श्री प्रफुल्ल कुमार दास, रवीन्द्रनाथेर संगीतचिन्तार सूचनाय ज्योतिरिन्द्रनाथेर प्रभाव, रवीन्द्रायन सम्पादक पुलिनविहारी सेन, वाक् साहित्य, कलकत्ता, पृ. 201।
2. राजेश्वर मित्र रवीन्द्रनाथेर संगीत चिन्ता, रवीन्द्रायन, सम्पादक, पुलिनविहारी सेन, वाक् साहित्य, कलकत्ता, पृ. 210।

प्रकाश को समृद्ध करने के लिए ही स्वीकार किया है।

प्राचीन भारतीय संगीत के ग्रहण-वर्जन और अनेक नूतन प्रयोगों के कारण **रवि बाबू** के काव्य-संगीत को **राज्येश्वर मित्र** ने बहुत अंशों में 'रोमाण्टिक' अर्थात् 'नव्यतान्त्रिक' माना है।[1] सचमुच, **रवि बाबू** ने काव्य-संगीत को जिस आत्मगत और आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण से देखा, उसे रोमाण्टिक कहना ही उचित प्रतीत होता है।[2] कुल मिलाकर हम **रवि बाबू** की काव्य-संगीत-सम्बन्धी उन प्रमुख मान्यताओं को निम्नलिखित ढंग से उपस्थित कर सकते हैं, जिनसे व्यावहारिक धरातल पर काव्य और संगीत का तात्त्विक अन्तःसम्बन्ध प्रमाणित होता है—

क—काव्य-संगीत के तान-विस्तार को संयत होना चाहिए।

ख—काव्य संगीत का सौन्दर्य 'परिमिति' में ही निखार पाता है।

ग—काव्यगत संगीत का उद्देश्य काव्य के भाव-प्रकाश को सुषमा प्रदान करना है।

इस तरह सभी ललितकलाओं के तात्त्विक अन्तःसम्बन्ध और पारस्परिक समागम का सैद्धान्तिक विवेचन सोदाहरण समाप्त हुआ। इस विवेचन में हमने पाया कि चित्र, संगीत और काव्य में तात्त्विक समागम की क्षमता उत्तरोत्तर बढ़ती गयी है। स्थापत्यकला और मूर्तिकला अपनी स्थूलता के कारण तात्त्विक समागम के इस उच्च धरातल पर पहुँचने में पश्चात्पद रह जाती है। अतः प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में व्यर्थता से अलग रहकर सुनिर्णीत मूल्यांकन के लिए चित्र, संगीत और काव्य को ही अधिकतर ध्यान में रखा गया है तथा स्थापत्य एवं मूर्तिकला का केवल प्रसंगवश उल्लेख किया गया है। इस सन्दर्भ में यह स्मरणीय है कि 'लाऑकून' के प्रसिद्ध लेखक **लैसिंग** और **'न्यू लाऑकून'** के लेखक **इर्विंग बैबिट** जैसे अनेक कला-विचारक उक्त विश्लेषण के विपरीत यह धारणा रखते हैं कि इस पारस्परिक प्रभाव और तत्त्व संगम की दृष्टि से कलाओं पर विचार करना उचित नहीं है, क्योंकि इससे अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ पैदा होती हैं। किन्तु, कला का इतिहास इसका साक्षी है कि किस प्रकार भगिनी ललितकलाओं ने अपने रूप और तत्त्व से

1. 'रवीन्द्रनाथेर संगीत प्रथाके के रक्षणशील वा क्लासिकल बला जावे ना नव्यतान्त्रिक अर्थात् रोमाण्टिक बला जावे, तानिये अनेकेर मने द्वन्द्व आछे। रवीन्द्र संगीते येमन उदाहरण यथेष्ट आछे यार परिप्रेक्षिते तारे रक्षणशील मने करा जाय किन्तु तार सृष्टि के सम्यक् भावे देखले तिनि जे रोमाण्टिक एटाई स्वीकार करते हय।'—राज्येश्वर मित्र : रवीन्द्रनाथेर संगीत चिन्ता, रवीन्द्रायन, सम्पादक पुलिनबिहारी सेन, वाक् साहित्य कलकत्ता पृ 212।
2. इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि रवि बाबू के संगीत को काव्य संगीत ही कहना चाहिए, राग संगीत नहीं क्योंकि राग संगीत और काव्य संगीत में पर्याप्त भेद है। राग संगीत में सुर का अवलम्बन प्रधान रहता है और काव्य संगीत में भाव का।

एक-दूसरे को प्रभावित किया है। अत मेरा विनम्र मत है कि इस तात्त्विक अन्त सम्बन्ध की दृष्टि से कलाओं पर अवश्य विचार किया जाना चाहिए।

हिन्दी साहित्य मे अब तक ललितकलाओं के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध या पारस्परिक अन्तरावलम्बन पर कोई व्यवस्थित कार्य नहीं हो सका है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि संस्कृतकाव्यशास्त्र या हिन्दी के अलावा अन्य आधुनिक भारतीय भाषा-साहित्य म ऐसे तात्त्विक सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की कोई तगडी परम्परा नहीं है। प्राचीन आचार्यों के बीच भरत के 'नाट्यशास्त्र', राजशेखर की 'काव्य मीमांसा' और अभिनव गुप्त की कृतियो मे प्रसगवश ललितकलाओं के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध का निर्देश मिलता है। संस्कृत काव्यशास्त्र मे ललितकलाओं के अन्त सम्बन्ध पर कम विचार किये जाने का प्रधान कारण यह है कि यहाँ काव्य की गणना विद्या म और कलाओं की गणना उपविद्या मे की जाती थी। इस वर्ग-भेद के कारण यहाँ काव्यशास्त्रीय विचारणा मे कलाओ के विवेचन को उचित स्थान नहीं मिल सका। तथापि शास्त्रीय और व्यावहारिक—दोनो धरातलो पर संस्कृत साहित्य मे भी अन्य कलाओ के साथ काव्य के अन्त सम्बन्ध का संकेत मिलता है। शास्त्रीय धरातल पर राजशेखर के विचार बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। राज-शेखर का मन्तव्य है कि यद्यपि काव्य या साहित्य विद्या है और कलाएँ उपविद्या है, तथापि काव्य और कलाओ के बीच एक अन्त सम्बन्ध है, क्योकि कलाओ के सन्निवेश से काव्य को जीवन मिलता है —'शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्य विद्या। उपविद्यास्तु चतु षष्टि। ताश्च कला इति विदग्धवाद। स आजीव काव्यस्य।"[1] अत राजशेखर ने कवि-चर्चा का विवेचन करते समय कवियो को कलाओ के अनिवार्य अध्ययन का निर्देश दिया है—"इति विद्योपविद्य. काव्यक्रियायै प्रयतेत। नामधातुपारायणे, अभिधानकोश, छन्दोविचिति, अलकार-तन्त्र च काव्यविद्या। कलास्तु चतु षष्टिरुपविद्या।"[2] इसी तरह आचार्य वामन ने भी 'काव्यालकारसूत्रवृत्ति' म काव्य के उत्कर्ष के लिए अन्य कलाओ के साहाय्य का निर्देश किया है—'कलशास्त्रेभ्य कलातत्त्वस्य संवित्। कला गीतनृत्यचित्रादि-कास्तासामभिधायकानि शास्त्राणि विशाखिलादिप्रणीतानि कलाशास्त्राणि। तेभ्य

1 अर्थात् शब्द और अर्थ के सहभाव को बतानेवाली विद्या साहित्य-विद्या कहलाती है। इस विद्या की चौंसठ उपविद्याएँ हैं जिन्हें विद्वान् कला कहते हैं। ये उपविद्याएँ या कलाएँ काव्य का जीवन हैं —राजशेखर, काव्यमीमांसा अनुवादक पण्डित केदारनाथ शर्मा सारस्वत, बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, 1954 पृ 12।

2. काव्य विद्या के जिज्ञासुओं को चाहिए वह काव्यरचनाविनी विद्याओं और काव्य की उपविद्याओं का भलीभाँति अध्ययन करके काव्य रचना की ओर प्रवृत्ति करें। व्याकरण, कोश, छन्द और अलंकार ये चार काव्योपयोगी मुख्य विद्याएँ हैं। चौंसठ कलाएँ काव्य की उपविद्याएँ हैं। दशम अध्याय, पृ 121।

कलातत्त्वस्य सविन् सवेदनम् । न हि कलातत्त्वानुपलब्धौ कलावस्तु सम्यक् निबद्धु शक्यमिति ।"[1] तदनन्तर, व्यावहारिक या लोकप्रचलित धरातल पर संस्कृत साहित्य मे अनेक ऐसी उक्तियाँ मिलती है, जिनसे काव्येतर कलाओं के साथ काव्य का अन्त सम्बन्ध समर्थित होता है। भर्तृहरि की इस पंक्ति—साहित्य संगीत कलाविहीन से लेकर दण्डी के **'दशकुमार चरित'** के अष्टम उच्छ्वास की इस पंक्ति—'बुद्धिश्च निसर्गपट्वी कलासु नृत्यगीतादिषु चित्रेषु काव्यविस्तरेषु प्राप्त विस्तारा'—तक काव्य और कलाओं का यही अन्त सम्बन्ध ध्वनित हुआ है। इसीलिए **भामह** ने काव्य को सभी शिल्पो और कलाओं का समवाय सिद्ध करते हुए यह घोषणा की है—"न तच्छास्त्र न सा विद्या न तच्छिल्प न सा कला। जायते यन्न काव्यागम् ।" इस विषय पर छोटी छोटी चलटिप्पणियाँ **के. एस. रामस्वामी शास्त्री, डॉ राघवन, एस. कुप्पुस्वामी शास्त्री, बलदेव उपाध्याय** इत्यादि ने अपने ग्रन्थों में लिखी हैं। इधर आचार्य **हजारीप्रसाद द्विवेदी** ने ललितकलाओं के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध को उद्घाटित करनेवाले कई विचारोद्बोधक निबन्ध लिखे हैं।[2] आधुनिक हिन्दीतर लेखको के बीच प्रयास की दृष्टि से **असित कुमार हालदार** की **यूरोपेर-शिल्पकथा** नामक पुस्तक उल्लेखनीय है, क्योंकि विवेचन के एक ही फलक पर इसमे कई ललितकलाओं (विशेषकर स्थापत्य, भास्कर्य और चित्रकला) के इतिहास को देखने की लघु चेष्टा की गयी है। निश्चय ही इस पुस्तक मे ललितकलाओं के आन्तरिक सम्बन्धो के उद्घाटन का तात्त्विक निवेश नही है, किन्तु, इसका प्रास्थानिक प्रयत्न इस दृष्टि से महत्त्वाकांक्षी है।[3] तदनन्तर, **हरिदास मित्र** के शोध-कार्य मे भारतीय कला और सौन्दर्यशास्त्र से सम्बद्ध सामग्रियों की सूचीमात्र मिलती है।[4] इसी तरह **मर्ढेकर** ने अपनी पुस्तक मे कलाओं के तात्त्विक अन्त-सम्बन्ध का संकेत-मात्र प्रस्तुत किया है, कोई तात्त्विक विश्लेषण नही।[5] इस दृष्टि

1 कलाशास्त्रों द्वारा कला के तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। कला गाना नाचना और चित्र आदि हैं। उनका प्रतिपादन करनेवाले विशाखिल आदि रचित शास्त्र कलाशास्त्र कहलाते हैं। उन कलाशास्त्रों से कलाओं के तत्त्वों का सवित् अर्थात् ज्ञान करना चाहिए। कलाओं के तत्त्व को समझे बिना काव्य मे कलासम्बन्धी वस्तु का भली प्रकार वर्णन करना सम्भव नही है। इसलिए कलाओं का ज्ञान कवि के लिए आवश्यक है। हिन्दी काव्यालंकार सूत्र, सम्पादक डॉ नगेन्द्र, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1954 पृ 47-48।

2 क—कला मे तथ्य, सत्य और यथार्थ, परिषद्-पत्रिका, पटना, वर्ष 3, पृ 44।

ख—कलाकार की सिसृक्षा और सर्जन-सीमा, त्रैमासिक आलोचना, दिल्ली, नवांक 1 जुलाई 1963 पृ 5।

ग—सिसृक्षा का स्वरूप, त्रैमासिक आलोचना, दिल्ली, नवांक 2, अक्तूबर 1963, पृ 5।

3 [illegible] विश्वविद्यालय प्रकाशन।

hy of Indian Art and

of Literature, Karna-

स मराठी आलोचको के बीच मर्ढेकर और नरहर कुरुन्दकर की तुलना मे डॉ सुरेन्द्र बार्लिगे ने अधिक गम्भीर प्रयास किया है।[1] हिन्दी म ललितकलाओ के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध पर एक महत्त्वपूर्ण कार्य करने का प्रयास डॉ रामानन्द तिवारी शास्त्री ने अपने शोध-प्रवन्ध मे किया है।[2] किन्तु, इन्होंने काव्य एव काव्येतर कलाओ के पारस्परिक अन्त सम्बन्धो को उद्घाटित करने की जगह इनकी अनन्वय विशेषताओ, पृथकताओ और व्यावर्त्तक गुणो को ही विवृत कर दिया है। अत डॉ तिवारी का अधिकाश विवेचन हमारा प्रयोजन सिद्ध नही करता है। इसी तरह हिन्दी साहित्य म आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी,[3] कोमल कोठारी,[4] तारिणी चरणदास चिदानन्द[5] 'लक्ष्मीधर वाजपेयी,[6] रामेश्वरलाल खण्डेलवाल[7] इत्यादि के निबन्धो मे यत्र तत्र ललितकलाओ के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध का निर्देश मिलता है।

अब हम ललितकलाओ के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध पर प्रस्तुत किये गये विचारो का निष्कर्ष इस प्रकार उपस्थित कर सकते हैं—

1. शैली, शिल्प, अभिव्यक्ति-भगिमा और प्रेषणीयता के माध्यम की दृष्टि से ललितकलाओ म चाहे जितनी भिन्नता हो, परन्तु तत्त्व समास की दृष्टि से सभी ललितकलाओ मे एक प्रच्छन्न अन्त सम्बन्ध है।

2 ललितकलाओ के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध का मूलाधार स्वर-बोध और वर्ण-बोध का पारस्परिक सम्बन्ध है। भारतीय प्रमाणवाद से यहाँ तक सिद्ध होता है कि वर्णबोध और स्वरबोध की तरह अन्य ऐन्द्रिय बोध भी एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं तथा उनका अधिकरणगत पारस्परिक विनिमय या विपर्यय चलता रहता है।

1 डॉ सुरेन्द्र बार्लिगे सौन्दर्य-तत्त्व और काव्य सिद्धान्त, अनुवादक डॉ मनोहर काले, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली सितम्बर 1963।

2. डॉ रामानन्द तिवारी शास्त्री सत्य शिव सुन्दरम राजस्थान विश्वविद्यालय की पी एच डी की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध, नवम्बर 1957।

3 समालोचना समुच्चय, ले महावीरप्रसाद द्विवेदी प्रकाशक रामनारायण लाल, इलाहाबाद, 1930, पृ 25-26।

4 साहित्य, सगीत और कला ले कोमल कोठारी, राजस्थानी शोध सस्थान जोधपुर, 1960 पृ 141।

5 कला और साहित्य, ले तारिणी चरणदास चिदानन्द, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1960, पृ 11 12।

6 काव्य और सगीत, लक्ष्मीधर वाजपेयी, द्वितीय सस्करण, तरुण भारत ग्रन्थावली, प्रयाग, 1946।

7 आधुनिक हिन्दी कविता म प्रेम और सौन्दर्य, डॉ रामेश्वरलाल खण्डेलवाल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम सस्करण, परिशिष्ट न 1 और 2।

3 प्रत्येक कला अपने चरम विकास के क्षणों में अन्य ललितकलाओं का आश्रय अधिकाधिक ग्रहण करती है। आशय यह है कि सभी कलाओं का स्वतन्त्र व्यक्तित्व सम्भव है किन्तु प्रभाव वृद्धि और उत्कृष्टता के लिए विविध कला तत्त्वों का पारस्परिक सम्प्लवन आवश्यक है।

4 गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह पता चलता है कि चित्रकला संगीत-कला और काव्य में तात्त्विक समागम की क्षमता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। स्थापत्यकला और मूर्त्तिकला अपनी स्थूलता के कारण तात्त्विक समागम के उस उच्च धरातल पर पहुँचने में पश्चात्पद रह जाती है। अतः प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में व्यग्रता से अलग रहकर सुनिर्णीत मूल्यांकन के लिए चित्र संगीत और काव्य को अधिकतर ध्यान में रखा गया है तथा स्थापत्य एवं मूर्त्तिकला का केवल प्रसंगवश उल्लेख किया गया है।

5 ललितकलाओं का अपेक्षाकृत अधिक तात्त्विक मिश्रण या विशेषकर काव्य चित्र और संगीत को परस्पर निकट लाकर उनके कुछ तत्त्वों का अधिकतम मिश्रण स्वच्छन्दतावाद (रोमाण्टिसिज्म) की एक विशिष्ट प्रवृत्ति है। अंग्रेजी की रोमाण्टिक कविता या हिन्दी की छायावादी कविता में ही नहीं अन्यत्र भी जब साहित्य जगत में स्वच्छन्दतावादी लहर चली है, तब वहाँ के साहित्य सृजन में ललितकलाओं का अधिकतम मधुमेल छा गया है। सच तो यह है कि प्रत्येक कला अपने रोमाण्टिक युग में अन्य ललितकलाओं से अधिक प्रभावित रहती है। इस लिए रोमाण्टिक युग की कविता भी अन्य भगिनी कलाओं के प्रमुख तत्त्वों को समाविष्ट करने की विशेष प्रवृत्ति रखती है। फलस्वरूप प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में ललितकलाओं के तात्त्विक विवेचन को हिन्दी की रोमाण्टिक कविता (छायावाद) के विशेष सन्दर्भ में प्रस्तुत किया गया है।

6 हिन्दी साहित्य में अब तक ललितकलाओं के तात्त्विक अन्तःसम्बन्ध या पारस्परिक अन्तरावलम्बन पर कोई व्यवस्थित कार्य नहीं हो सका है कारण, संस्कृत काव्यशास्त्र या हिन्दीतर आधुनिक भारतीय साहित्य में ऐसे तात्त्विक सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की कोई तगड़ी परम्परा नहीं है।

7 सभी ललितकलाओं के बीच एक तात्त्विक अन्तःसम्बन्ध रहने के कारण कविता का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन अपेक्षित है। कविता का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन कविता को काव्यतर ललितकलाओं के तात्त्विक सन्दर्भ में रखकर किया जाता है जबकि कविता का काव्यशास्त्रीय अध्ययन कविता को काव्यतर कलाओं के तात्त्विक सन्दर्भ से पृथक् रखकर या उस तात्त्विक सन्दर्भ की उपेक्षा करके किया जाता है। किन्तु कविता के काव्यशास्त्रीय अध्ययन और सौन्दर्य-शास्त्रीय अध्ययन में अन्योन्याभाव सम्बन्ध नहीं है क्योंकि कविता के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन में प्रसंगानुसार काव्यशास्त्र की सामग्रियों का उपयोग किया

जाता है, यद्यपि इसके विलोम से काव्यशास्त्र का स्वतन्त्र व्यक्तित्व अपहृत हो जाता है।

8. तदनन्तर, कविता का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन करते समय काव्येतर ललितकलाओं के तात्त्विक सन्दर्भ को ही ध्यान में रखा जाता है, क्योंकि एक व्यक्ति के लिए सभी ललितकलाओं के सभी सन्दर्भों को ध्यान में रखना तथा उनका प्रामाणिक विवेचन करना असम्भव-सा है।

निर्भर व्यक्ति अपनी ऊर्णनाभ कल्पनाओं से उच्चकोटिक कला का सृजन अथवा चयन नहीं कर सकता। अत कला की सृजन-क्षमता के लिए कल्पना, भावना अथवा संवेग में अज्ञात वस्तुप्रत्ययनेयता आवश्यक है।[1]

कुछ विचारकों की दृष्टि में सौन्दर्य पूर्णत वस्तुनिष्ठ है।[2] इसलिए वह प्रत्यक्ष-बोध से सम्बन्धित है। प्रत्यक्ष के लिए अन्त करण और इन्द्रिय, दोनों का वस्तु के साथ सन्निकर्ष या संयोग होना चाहिए। इस प्रत्यक्ष की मात्रा इन्द्रियों की सशक्तता-अशक्तता और अच्छाई-बुराई पर निर्भर है। इन्द्रिय एक प्रकार की शक्ति है, जिसमें बाहरी वस्तु, ज्ञेय अथवा दृश्य से प्रभावित होने तथा उनको प्रभावित करने की क्षमता है। सेन्द्रिय होने के कारण ही, अर्थात् प्रत्यक्षीकरण के माध्यम की विशेषता के कारण ही हम व्यक्तियों में 'सौन्दर्य' के प्रभाव से मुग्ध होने तथा सुन्दर को प्रभावित करने में स्तर अथवा मात्रा की भिन्नता पाते हैं। इसलिए व्यक्ति के सौन्दर्य-बोध की भिन्नता भी इसका पुष्कल प्रमाण पेश करती है कि सौन्दर्य का सम्बन्ध सेन्द्रिय प्रत्यक्ष से है।

इस मान्यता को स्वीकृत करने पर एक दूसरा तथ्य स्वय उद्घाटित होता है—वह है, सौन्दर्य के ग्रहण में अन्त करण का योग। अन्त करण के योग की आवश्यकता दो अवस्थाओं में है—एक सौन्दर्य की प्रत्यक्षावस्था में, दूसरे उसकी स्मृति में। पहली अवस्था में इसलिए अन्त करण का योग चाहिए कि अन्यमनस्क होने की दशा में—चित्त कहीं और लगे रहने की अवस्था में—सौन्दर्य के अवलोकन में मन नहीं रमता है। दूसरी अवस्था में अर्थात् स्मृति-दशा में—अन्त करण का योग इसलिए चाहिए कि इसमें सौन्दर्य का वास्तविक आलम्बन अन्तर्हित रहता है।[3] इस द्वितीयावस्था की उद्भूति प्रथमावस्था में ही निहित है। सौन्दर्य-भावन में यही वह स्थल है, जहाँ 'आइडिया' और 'इमेज' में एकत्व अथवा सन्तुलन रहता है। इन दोनों में यदि भागवत पौर्वापर्य माना जाये तो 'आइडिया' कारण और 'इमेज' कार्य होगा। इसी विचार-सरणी पर यह स्थापना निर्भर है—"इमेज इज द रियलाइजेशन ऑव एन आइडिया इन ए सिंगल ऑब्जेक्ट।" किन्तु, कुछ विचारकों की दृष्टि में 'इमेज' और 'आइडिया' के बीच वस्तुगत पौर्वापर्य है, जिसके अनुसार प्रथम कारण और द्वितीय कार्य है। इनमें नियतपूर्ववर्त्तित्व के साथ साथ अविनाभाव है।

1 ' धातु पुन्पेर मध्ये जखन कोन ओ उत्तेजक वस्तु के उपलक्ष्य करिया देशकाल पात्राद्यन वच्छिन्न भावे कोन ओ संस्कार उदबुद्ध हइया उठे एव ताहार वेप बले से उत्तेजक सामग्री के लक्ष्य करिया धातुपुरुषेर जे आत्म परिचय घटे ताहार नाम सौंदर्य।' सौन्दर्य-तत्त्व, ले डॉ सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, पृ 30।

2 *S Alexander*, Beauty and other Forms of Value, London, 1933, pp 179-180

3 उदाहरणार्थ वर्ड्सवर्थ का डैफोडिल्स।

कला-प्रसग मे सौन्दर्य-चिन्तन अधिकतर अतिवादी रहा है। एक ओर चेर्नो-शेव्स्की जैसे वस्तुनिष्ठ विचारक ने सौन्दर्य की परिभाषा इस प्रकार दी है — "ब्यूटी इज़ लाइफ", तो दूसरी ओर शेफ्ट्सबरी जैसे आत्मनिष्ठ चिन्तक ने कहा है—' ब्यूटी एण्ड गॉड आर वन एण्ड द सेम"। इस तरह सौन्दर्य (विचारको के हाथो मे) दो अतिबिन्दुओं के बीच दोलक की तरह झूलता रहा है और कोई भी दो विचारक एक मत पर नही पहुँच सके हैं। फ्लत सौन्दर्य की परिभाषाएँ अनेक हैं। सौन्दर्य सम्बन्धी अद्यावधिक धारणाओ को सरलतापूर्वक समझने के लिए पाश्चात्य सौन्दर्य-चिन्तन के विकास का यह देशाधार विवेचन उपयोगी सिद्ध हो सकता है—

(क) यूनान

1. सुकरात—सुन्दर और शिव एक है, अत सुन्दर जीवन सापेक्ष है। (जेनोफेन-रचित 'मेमोरेबिलिया' नामक ग्रन्थ के आधार पर सुकरात के सौन्दर्य-सिद्धान्त का यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है।)
2 प्लेटो—सुन्दर, शिव और सत्य एक हैं। सुन्दर 'परम' है और पूर्ण है तथा सुन्दर के लिए नैतिक होना आवश्यक है।
3 अरस्तू—सौन्दर्य आकाक्षा, वासना और उपयोगिता से ऊपर की वस्तु है तथा सुन्दर वस्तु मे 'ऑर्डर', 'सिमेट्री' और 'डेफिनिटनेस' की विद्यमानता रहती है। इनका सिद्धान्त-सार यह है कि सुन्दर और शिव एक नही है, क्योंकि शिव का अनुभव गति की अवस्था (स्टेट ऑव मोशन) मे होता है और सुन्दर की अनुभूति स्थिति (रिपोज) की अवस्था मे।

(ख) रोम

1 प्लूटार्क—सौन्दर्य एक प्रकार की कलात्मक कुशलता है।
2. प्लॉटिनस—ऊँची धारणा और तर्क का सम्मिश्रण सौन्दर्य है। पुन' ऊँची धारणा और तर्क के सम्मिश्रण को सौन्दर्य ही रूप-विधान प्रदान करता है। अर्थात् सौन्दर्य पूर्णत भावगत है, अल्पाश मे भी वस्तुगत नही। इस-लिए सौन्दर्य एक रहस्यात्मक सहजानुभूति है।

(ग) जर्मनी

1 बाउमगार्तेन—प्रकृति सौन्दर्य का चरम प्रतिमान है। इसलिए प्रकृति का अनुकरण ही सौन्दर्य सृजन है।
2 काण्ट—(इन्होने ही 'ट्रान्सेण्डेण्टल एस्थेटिक्स' की उद्भावना की। इनके अनुसार) सौन्दर्य चिन्तनशील धारणा का आनन्द है। इसका अस्तित्व वस्तु-निष्ठ नही है किन्तु, इसका उद्देश्य नैतिक शिवत्व का स्थापन है।
3 हीगेल—'आइडियल' की अभिव्यक्ति का प्रयास सौन्दर्य सृजन है और इसका माध्यम अथवा अनुकरण ही सुन्दर है।
4 शॉपेनहावर—इच्छाओं अथवा 'प्लैटोनिक आइडियाज़' का सम्मूर्त्तन ही सौन्दर्य है।
5 लेसिंग—सौन्दर्य अभिव्यक्ति मे नही, वस्तु विधान और पद्धति मे है। इन्होंने केवल चित्रकला और कविता को दृष्टिपथ मे रखते हुए सौन्दर्य पर विचार करने की चेष्टा की है।[1]

(घ) इंगलैण्ड

सौन्दर्य के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को प्रारम्भ करने का श्रेय इगलैण्ड के सौन्दर्यशास्त्रियो को है। ये सौन्दर्यशास्त्री मुख्यत दो निकाय के है—'आइडियलिस्ट' (अर्थात् इण्ट्यूशनलिस्ट) और 'फॉर्मेलिस्ट' (अर्थात् एनालिटिकल थ्योरिस्ट)। प्रथम निकाय के विचारक सौन्दर्य को विश्लेषण से परे मानते हैं, क्योकि सौन्दर्य का विश्लेषण नही हो सकता; चूंकि वह वस्तु का एक अखण्ड गुण है। किन्तु, 'फॉर्मेलिस्ट' विचारको का कथन है कि सौन्दर्य का विश्लेषण हो सकता है, क्योकि उसका सम्बन्ध वस्तु-विशेष के आकृति-विधान से है।

इगलैण्ड के 'आइडियलिस्ट' विचारको मे ये प्रधान हैं—

1. शैफ्टसबरी—सौन्दर्य और परम विभु एक हैं।
2 टॉमस रीड—सौन्दर्य आध्यात्मिक चैतन्य है।
3 रस्किन—सौन्दर्य ईश्वर की विभूति है। रस्किन ने मनुष्य मे दो वृत्तियाँ मानी

1 लेसिंग्स लैकून, ट्रान्सलेटेड बाइ ई सी बीस्ले। लेसिंग ने इस विख्यात पुस्तक 'लैकून' की रचना 1760 से 1765 ई के बीच मे की थी जिस समय वह ब्रेस्लाउ म रहता था। उसने इस पुस्तक को बर्लिन में पूरा किया और 1766 ईस्वी मे प्रकाशित किया। यह प्रकाशन उसने रायल लाइब्रेरियन क पद पर नियुक्ति पाने की आशा से किया था, जो व्यर्थ सिद्ध हुई, कारण उस समय लैकून को एक महत्त्वपूर्ण कृति के रूप में स्वीकार नही किया गया।

हैं—सहज वृत्ति और काल्पनिक वृत्ति। सहज वृत्ति के अन्तर्गत ही सौन्दर्य-बोध आता है। इन्होंने सौन्दर्य की दो श्रेणियाँ मानी है—'टिपिकल' और 'वायटल'। इन्होंने फिर 'वायटल ब्यूटी' के भी दो भेद माने हैं—'रिलेटिव' और 'जेनेरिक'।[1]

इगलैण्ड के 'फॉर्मलिस्ट' विचारकों मे निम्नलिखित प्रमुख है—

1. एडिसन—सौन्दर्य परिवेश और सगति का फल है।
2. होगार्थ—सौन्दर्य वस्तु-विशेष के अगो के सन्धिवन्ध, प्रयुक्तियो की रजकता और अनुक्रम मे विद्यमान रहता है।
3. बर्क—वस्तु-विशेष की वर्णगत चारुता, आंगिक कोमलता और उज्ज्वलता ही सौन्दर्य है।
4. बेन—सौन्दर्य स्वोद्देश्य होता है। हमारा वह सवेग जो जीवन के प्रयोजनो से परे रहता है, सौन्दर्य कहलाता है।
5. एल्सन—सौन्दर्य विचारो का प्रवाह है।

(च) रूस

1. चर्नाशेव्सकी—सौन्दर्य ही जीवन है।
2. बेलिन्स्की—सौन्दर्य सामाजिक जीवन के जीवन्त यथार्थ का ऐसा प्रतिबिम्ब है, जो हमे आनन्द ही नही देता, प्रगतिशील होने की प्रेरणा भी देता है।

सौन्दर्य के सम्बन्ध मे ऐसी ही धारणा हर्जेन और दोब्रोल्यूबाव की भी है।[2]

सक्षेप मे पाश्चात्य सौन्दर्य-चिन्तन के विकास का यही देशाधार विवेचन है।[3]

1 'लेक्चर्स ऑन आर्ट', जॉन रस्किन, जार्ज एलेन, 1904।

2. बेलिन्स्की की कलागत मान्यताओ के सक्षिप्त परिचय के लिए द्रष्टव्य—त्रैमासिक आलोचना, अक 9, अक्तूबर 1953 मे 'बेलिन्स्की की मान्यताओं का विकास' शीर्षक निबन्ध, पृ 192-198।

3. जेम्स एच. कज़िन्स ने पाश्चात्य सौन्दर्य-चिन्तन के विकास को तीन धाराओ मे बाँटा है—1 'एस्थेटिकल मॉनिज्म', 2. 'एस्थेटिकल डुअलिज्म', और 3 'एस्थेटिकल ट्रिनिटारियनिज्म'। प्रथम धारा मे मुख्यत सुकरात और प्लेटो आते है, जिनके सौन्दर्य-दर्शन को क्रमश सब्जेक्टिव और ट्रान्सेण्डेण्टल कहा जा सकता है। दूसरी धारा का प्रारम्भ अठारहवीं-उन्नीसवी शताब्दी मे हुआ। इस धारा के सौन्दर्य-चिन्तकों मे हचेसन, होगार्थ और डॉ किमर प्रमुख हैं। प्राय इन सभी विचारकों ने द्रष्टा और दृश्य (सुन्दर) के द्वैत को दृष्टिगत में रखते हुए सौन्दर्य पर विचार किया है। तीसरी धारा का प्रारम्भ जर्मनी के सौन्दर्यचिन्तको द्वारा हुआ, जिन्होने प्लेटो की ट्रान्सेण्डेण्टल ब्यूटी को अपने चिन्तन का आधार बनाते हुए सौन्दर्य, वस्तु और चेतना की त्रयी को स्वीकार किया।—द फिलासफी ऑफ ब्यूटी, ले. जेम्स एच कज़िन्स, 1925, पृ 12-28।

उपर्युक्त विचारकों के अलावा सौन्दर्यशास्त्र के कुछ अन्य आधुनिक विचारक भी उल्लेखनीय महत्त्व के अधिकारी हैं, जैसे—क्लाइव बेल, रस्टल, क्रोचे, इत्यादि। यहाँ पाश्चात्य सौन्दर्य-चिन्तन के तात्त्विक पक्ष को समझने के लिए हीगेल और क्रोचे के सौन्दर्य-दर्शन पर विचार कर लेना अत्यावश्यक है, क्योंकि इन दोनों की सौन्दर्य-सम्बन्धी मान्यताओं ने पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के आधुनिक स्वरूप को भूरिश प्रभावित किया है।

हीगेल का सौन्दर्य-दर्शन प्रत्यय-जगत् पर निर्भर है। इनके अनुसार दृश्यमान जगत् आभास-मात्र है। अत ये प्रत्यय (आइडिया) को ही विकास का मूल तत्त्व और शक्ति मानते हैं जिस प्रकार बर्गसाँ ने विश्व के मूल मे 'एलाह्विता'[1] को, हर्बर्ट स्पेन्सर ने भूतात्मक सघटन (इन्टेग्रेशन ऑव मैटर) को, सेमूएल अलेक्जेण्डर ने अनिर्वचनीय प्राकृतिक सम्बन्ध (नैचुरल पाइटी) को, लाइब्निज ने चिद्‌बिन्दु को और ल्वायड मॉर्गन ने विभु शक्ति (इम्मानेण्ट फोर्स) को मूल तत्त्व माना है, उसी प्रकार हीगेल ने प्रत्यय को विकास का चरम तत्त्व माना है। अत हीगेल का सम्पूर्ण सौन्दर्य-दर्शन या कला-सिद्धान्त प्रत्यय-जगत् पर निर्भर है।

हीगेलीय सौन्दर्यशास्त्र त्रयात्मक है। द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के अनुसार इनके प्रत्यय का विकास सर्वत्र त्रिस्तरीय है, जिसे प्राय पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र का हीगेलीय त्रय (हीगेलियन ट्रायड) कहा जाता है। मूल प्रत्यय अपने को तीन अवस्थाओ म प्रकट करता है— वाद, प्रतिवाद और समन्वय। इन तीन अवस्थाओ का व्यक्तीकरण तीन दार्शनिक धरातलो पर होता है—तर्क, प्रकृति और मन (माइण्ड)। इस प्रकार प्रत्यय तर्क, प्रकृति और मन—इन तीन धरातलो पर क्रमश सूक्ष्मता मे 'तर' से 'तम' की ओर बढता जाता है। पुन प्रत्यय मन तक पहुँचकर तीन अवस्थाओ मे प्रकट होता है—'सब्जेक्टिव', 'ऑब्जेक्टिव' और 'एब्सोल्यूट'। जब प्रत्यय 'एब्सोल्यूट' की अवस्था म पहुँचता है, तब उच्चस्तरीय कला की सृष्टि होती है। यहाँ यह ध्यान रखना है कि अधिकाश भारतीय कला-विचारक भी कला मे 'एब्सोल्यूट' को महत्त्व देते हैं, जो 'सत्य शिव सुन्दरम्' की चिरपरिचित त्रयी मे व्यक्त होता रहा है।[2]

प्रत्यय की उपर्युक्त तीन अवस्थाओ के अनुसार उनसे निर्मित कला भी क्रमश तीन प्रकार की होती है—'सिम्बॉलिक', 'क्लासिकल' और 'रोमाण्टिक'। प्रथम वर्ग मे वास्तुकला, द्वितीय वर्ग मे मूर्तिकला तथा तृतीय वर्ग मे चित्र, सगीत और काव्यकलाएँ आती हैं। इन सभी कलाओ म, क्रमश, आधार की सूक्ष्मता ऊर्ध्व-गति से वर्द्धमान होती हुई अन्तिम तीन कलाओ (चित्र, सगीत और काव्य) मे

1. Elan Vital
2. आनन्दकुमार स्वामी द डान्स ऑव लार्ड शिव, पृ. 59।

'एब्सोल्यूट' को स्वायत्त कर लेती है। संक्षेप में हम हीगेल के सौन्दर्य-दर्शन को इस प्रकार उपस्थित कर सकते हैं—

थीसिस············एण्टिथीसिस·········सिन्थीसिस
लॉजिक············नेचर················माइण्ड
सब्जेक्टिव·········आब्जेक्टिव···········एब्सोल्यूट
सिम्बॉलिक········क्लासिकल···········रोमाण्टिक
(वास्तुकला)   (मूर्तिकला)   (चित्र, संगीत और काव्य)

हीगेल के अनुसार 'सिम्बॉलिक आर्ट' अर्थात् वास्तुकला में सौन्दर्य-सृजन की दृष्टि से पिण्डीभूत मूर्तन की अधिकता रहती है।[1] अतः सिम्बॉलिक कला में दो प्रकार के दोष या अभाव रहते हैं। एक, यह कि इसमें व्यक्त सौन्दर्य या प्रत्यय हमारी चेतना का नाममात्र के लिए स्पर्श करता है और, दूसरे, इसमें अभिव्यक्ति के माध्यम की स्थूलता बहुत अधिक रहती है। किन्तु, मूर्तिकला जैसी 'क्लासिकल' कला में इन दोनों अभावों का परिहार हो जाता है, क्योंकि 'क्लासिकल' कला में, हीगेल के अनुसार, सौन्दर्य अथवा प्रत्यय का उचित मूर्तन होता है। इसमें अभिव्यक्ति का स्वरूप उतना अधिक स्थूल नहीं रहता है। कुल मिलाकर 'क्लासिकल' कला में 'आइडिया' तथा 'इमेज' की एक पारस्परिक अनुकूलता स्थापित हो जाती है और इन दोनों में एक समतोल निष्पन्न हो जाता है। किन्तु, कला का विकास इस स्तर पर आकर रुक नहीं जाता है। 'क्लासिकल' कला में भी कुछ दोष रह जाते हैं, जिनका परिष्कार 'रोमाण्टिक' वर्ग की कलाओं में ही हो पाता है। इस 'रोमाण्टिक' स्तर को हम कला-विकास की पार्यन्तिक दशा कह सकते हैं। 'क्लासिकल' कला में यह दोष रह जाता है कि उसमें सौन्दर्य या प्रत्यय की सूक्ष्मता का उत्पादन रहता है और प्रत्यय को पिण्डीभूत बनाने की विशेष प्रवृत्ति रहती है। अतः क्लासिकल कला में जहाँ सौन्दर्य-सृजन की इन्द्रियग्राह्य मूर्तता की उच्चतम दशा मिलती है, वहाँ यह भी सच है कि इस कोटि की कला का व्यपदेश बहुत संकीर्ण होता है। आशय यह है कि मूर्ति निर्माण-जैसी क्लासिकल कला सौन्दर्य अथवा प्रत्यय को सर्वत्र शारीरिक आकार की मूर्तता (एक प्रकार की सीमा) में बाँधना चाहती है, जबकि सौन्दर्य एवं अन्य प्रकार के प्रत्यय मनुष्य की अन्तर्मुख मनश्चेतना में अवसित रहने के कारण सीमाओं से परे हुआ करते हैं। इस प्रकार सौन्दर्य और प्रत्यय को शारीरिक आकार की लघु सीमाओं और अभिव्यक्ति की पिण्डीभूत दशाओं से

1. " this first type of art (the symbolic type of art) is rather a mere search after plastic configuration than a power of genuine representation."—*Hegel* The Philosophy of Fine Art, Volume I, translated by *Osmaston*, London, 1920, p. 103.

ऊपर रखकर अपेक्षाकृत निस्सीम और कम मूर्त्त अभिव्यक्ति देने के लिए 'रोमाण्टिक आर्ट' की अवतारणा होती है, जिसके अन्तर्गत चित्र, संगीत और काव्य कला की गणना की जाती है। रोमाण्टिक कला की विवेचना करते हुए हीगेल ने बहुत ही ललित ढंग से कहा है कि शेष दो प्रकार की कलाएँ जहाँ आत्मा या चेतना के तटवर्ती प्रदेशों में इधर-उधर भटकती रह जाती हैं, वहाँ रोमाण्टिक कला आत्मा या चेतना की गहराइयों में उतरकर एक आध्यात्मिक क्रिया बन जाती है। अतः रोमाण्टिक कला का उद्देश्य 'सिम्बॉलिक' या 'क्लासिकल' कला की तरह सौन्दर्य के किसी अंश का मात्र ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष करा देना नहीं रहता है, बल्कि रोमाण्टिक कला में अभिव्यक्त सौन्दर्य के साथ ही आत्मा या चेतना के गहन अंशों की भी अभिव्यक्ति होती है। इसलिए हीगेल का मत है कि रोमाण्टिक कला की विकसित दशा में पहुँचकर मनुष्य का चेतन जगत् या आत्म-जगत् 'इदम्' के विवर्त्त पर, रूप तन्मात्राओं से भावित बाह्य जगत् पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेता है और तब रोमाण्टिक कला का उद्देश्य अभिव्यक्ति की मूर्त्तता के ऐन्द्रिय प्रत्यक्षों से ऊपर उठ जाता है।[1] संक्षेप में हीगेल के उक्त विश्लेषण का निष्कर्ष यह है कि 'सिम्बॉलिकल' कला में सौन्दर्य अथवा प्रत्यय की अपूर्ण और कलात्मक अभिव्यक्ति होती है, मानो, इस कोटि की कला सौन्दर्य की पूर्ण और कलात्मक अभिव्यक्ति के अन्वेषण में छटपटाकर रह जाती है। इस तरह 'सिम्बॉलिक' कला में विषय के अनुरूप विधान की परिपूर्णता नहीं रहती है और इसकी अभिव्यक्ति में वस्तुतात्त्विक पक्ष की प्रधानता हो जाती है। तदनन्तर, क्लासिकल कला में विषय और विधान की समागता रहती है, सौन्दर्य या प्रत्यय और उसकी अभिव्यक्ति में आनुरूप्य तथा सन्तुलन का निर्वाह रहता है; दूसरे शब्दों में, आत्मतात्त्विकता और वस्तु तात्त्विकता का समतोल रहता है। कला के तीसरे प्रकार अर्थात् रोमाण्टिक कला में हम 'सिम्बॉलिक' कला का विलोम पाते हैं, क्योंकि इसमें अभिव्यक्ति-पक्ष का सूक्ष्म मण्डन विषय को आयत्त कर लेता है और सौन्दर्य या प्रत्यय का आत्मतात्त्विक पक्ष विधान की वस्तुनिष्ठता को पराभूत कर देता है।[2] इसी दृष्टिकोण के आधार पर हीगेल ने कला की दो कोटियाँ निर्धारित कर दी हैं— वस्तुतात्त्विक कला और आत्मतात्त्विक कला, प्रथम कोटि में 'सिम्बॉलिक' और 'क्लासिकल' कलाएँ, अर्थात् स्थापत्य और मूर्तिकलाएँ आती हैं तथा द्वितीय कोटि में रोमाण्टिक कला, अर्थात् चित्र, काव्य और संगीतकलाएँ आती हैं।[3]

1 *G W F Hegel*, the Philosophy of Fine Art, translated by *F. P. B. Osmaston*, London, Volume I, 1920, pp 108-109

2 [illegible] *[illegible]aston*, London,

हीगेल के इस वर्गीकरण पर कुछ विचारकों ने आपत्ति उठायी है, क्योंकि यह वर्गीकरण उभयनिष्ठ आधार लेकर चलता है। एक ओर हीगेल का कहना है कि 'सिम्बॉलिक' वर्ग के अन्तर्गत वास्तुकला, 'क्लासिकल' वर्ग के अन्तर्गत मूर्तिकला और रोमाण्टिक वर्ग के अन्तर्गत चित्र, संगीत एवं काव्यकलाएँ आती हैं, जबकि दूसरी ओर इनकी यह स्थापना है कि वास्तुकला (जो पूर्वोक्त वर्गीकरण के अनुसार 'सिम्बॉलिक' कला है) अपनी विकसित दशा में क्लासिकल और रोमाण्टिक भी हो सकती है। इसी तरह अन्य कलाएँ भी अपने विकसित बोध के अनुसार उक्त तीनों दशाओं से गुज़र सकती है। अतः वर्गीकरण के आधार की उभयनिष्ठता के कारण हीगेल का सम्पूर्ण वर्गीकरण ही अस्पष्ट लगता है। आलोचकों की धारणा है कि हीगेल द्वारा स्थापित वर्गीकरण का उक्त आधार ऐतिहासिक दृष्टि और दार्शनिक विश्लेषण की संकर सृष्टि है। जिन विचारकों ने हीगेल की इस स्थापना को शंका की आँखों से देखा है, उनमें शेस्लर, हर्टमान और सिमरमान प्रमुख हैं।[1] सौन्दर्य-विवेचन की दृष्टि से हीगेल के उपर्युक्त मन्तव्यों का निष्कर्ष यह है कि इन्होंने सौन्दर्य के प्रति दार्शनिक धरातल पर बहुत ही सूक्ष्म धारणाएँ व्यक्त की हैं। इनकी दृष्टि में सौन्दर्य प्रत्यय-जगत् की एक आत्मनिष्ठ विभूति है।

हीगेल के बाद पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के आधुनिक स्वरूप को प्रभावित करनेवाले विचारकों में क्रोचे का बड़ा ही महत्त्व है। अभिव्यंजनावाद के माध्यम से क्रोचे ने पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र को विकास का एक नया आस्पद प्रदान किया है। इस प्रसंग में क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को तनिक विस्तार से समझ लेना हमारे लिए आवश्यक है, क्योंकि हिन्दी आलोचना में इसके विषय में बहुत भ्रान्तियाँ रही हैं।

क्रोचे के अनुसार आत्मा की दो क्रियाएँ हैं—विचारात्मक और व्यवहारात्मक। व्यवहारात्मक क्रिया कर्मप्रधान (ज्ञानप्रधान नहीं) होती है और इसका ऋजु सम्बन्ध लौकिक योगक्षेम अथवा समाज के द्वारा स्वीकृत नैतिक मानदण्डों से रहता है। इसलिए यह व्यवहारात्मक क्रिया दो प्रकार की होती है—आर्थिक और नैतिक। इन क्रियाओं से सौन्दर्य सृजन का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। सौन्दर्य-सृजन का सम्बन्ध आत्मा की विचारात्मक (थ्योरिटिक) क्रिया के रूप से है। इस विचारात्मक क्रिया से ज्ञान के दो रूप निष्पन्न होते हैं—सहज ज्ञान (इण्ट्यूशन) और तर्कात्मक ज्ञान (लॉजिकल नॉलेज)। इन दोनों में सहजज्ञान से ही सौन्दर्य-सृजन अथवा कला का निर्माण होता है। सहजज्ञान से बिम्बों की प्राप्ति होती है,

1. बोसांके ने हीगेल के वर्गीकरण के दोहरे आधार के पक्ष में 'फेक्ट्स दैट सपोर्ट द डबल बेसिस' उपशीर्षक के अन्तर्गत कुछ तर्क दिये हैं। हिस्ट्री ऑव एस्थेटिक, बर्नार्ड बोसांके, जार्ज एलेन एण्ड अॅन्विन, 1949, पृ 350-352।

जिनकी अभिव्यक्ति से सौन्दर्य का विधान या कला का आविर्भाव होता है। दूसरी ओर तर्कात्मक ज्ञान से विचार-बोध (कन्सेप्ट) की उपलब्धि होती है, जिससे दर्शन, विज्ञान इत्यादि का प्रवर्त्तन होता है। क्रोचे के इस सिद्धान्त को निम्नलिखित तालिका से अच्छी तरह समझा जा सकता है—
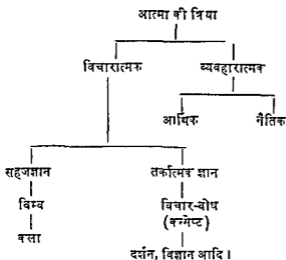
क्रोचे ने सौन्दर्यानुप्राणित कला सृजन में सहजज्ञान को प्राथमिकता दी है। किन्तु, इन्होंने सहजज्ञान और बुद्धि में वैर-भाव नहीं माना है। इनका स्पष्ट कथन है—'इण्ट्यूशन इज ब्लाइण्ड; इण्टेलेक्ट लेण्ड्स हर आईज'। अतः इनका सहजज्ञान साधारण अर्थों से विशिष्ट है। इस सहजज्ञान में वस्तु-प्रत्यय और बिम्ब की प्रतीति का अन्तरहीन ऐक्य विद्यमान रहता है। इसलिए सहजज्ञान के द्वारा किसी सौन्दर्यात्मक कलाकृति में देश अथवा काल का नहीं, विशिष्टता अथवा व्यक्ति-सत्ता का उद्घाटन होता है।

क्रोचे के सौन्दर्यशास्त्र का दूसरा सूत्र सहजज्ञान और अभिव्यक्ति से सम्बन्धित है, जिसके अनुसार इन दोनों में एकात्म सम्बन्ध है। अभिव्यक्ति के बिना सहजज्ञान पूर्ण नहीं हो सकता। पहले के अभाव में दूसरा अनुद्भूत रह जाता है। इस तरह क्रोचे ने सहजज्ञान और अभिव्यक्ति में अविनाभाव सम्बन्ध माना है। इन्होंने कला-दर्शन में अभिव्यक्ति को इतना अधिक महत्त्व दिया है कि इनके अनुसार अभिव्यक्ति के आधार पर ही सुन्दर और कुरूप का निर्णय होना चाहिए। अर्थात्, सहजज्ञान की सफल अभिव्यक्ति ही 'सुन्दर' है और सहजज्ञान की अपूर्ण अभिव्यक्ति 'कुरूप' है। इस सुन्दर या असुन्दर (कुरूप) का सम्बन्ध मनुष्य की वीक्षा-

मूलक वृत्ति से है। क्रोचे ने मनुष्य मे, सामान्यत, चार प्रकार की वृत्तियों को स्वीकार किया है—वीक्षामूलक वृत्ति, तर्कवृत्ति, व्यवहारात्मक वृत्ति और योगक्षेम-मूलक वृत्ति। सहजानुभूति और अभिव्यक्ति अथवा सौन्दर्य-भावना और कला-सजन वीक्षामूलक वृत्ति के अन्तर्गत आते हैं। अत क्रोचे ने अभिव्यजना का निकट-तम सम्बन्ध सौन्दर्य की भावना से उत्पन्न आनुपगिक आनन्द के साथ माना है। इस तरह क्रोचे के अनुसार सहजज्ञान और अभिव्यक्ति मे अविनाभाव सम्बन्ध है। किन्तु विश्लेपण करने पर यह मान्यता उचित प्रतीत नही होती है, क्योकि सहज-ज्ञान एक अन्तर्मुख भावन है—व्यक्ति की अन्तस्थ मनोदशा है और अभिव्यक्ति एक वहिर्मुख क्रिया है। स्वय क्रोचे ने कलाओ की अविभाज्यता को सिद्ध करने के लिए अभिव्यक्ति को 'एक्टिविटी' कहा है। इसलिए मेरे विचार से सहजज्ञान और अभिव्यक्ति मे बहुत अन्तर है। सहजज्ञान के लिए जहाँ हृदय की ग्राहिका-शक्ति और सवेदनशीलता ही पर्याप्त है, वहाँ अभिव्यक्ति शक्ति-सापेक्ष, समय-सापेक्ष और दीक्षा-सापेक्ष होने के साथ ही व्युत्पत्ति और अभ्यास के अधीन है। इसलिए अभिव्यक्ति का गुण सामान्य जन नही, कलाकार की विशेपता है।

इस प्रसग मे क्रोचे के समर्थको का तर्क यह है कि मनुष्य का अन्त करण उतने ही सहजज्ञान की प्राप्ति करता है, जितने की अभिव्यक्ति उसकी शक्ति के अन्तर्गत है। दूसरी बात यह है कि हमारे भाव और मनोराग जब विकसित होकर सहज-ज्ञान का रूप ग्रहण करते हैं, तब उनकी अभिव्यक्ति केवल शब्दाश्रित ही नही होती, बल्कि सहजज्ञान भावक के इगितों अथवा अन्य चेष्टाओं से भी अपने को अभिव्यक्त करता है। अर्थात्, सहजज्ञान कभी भी अभिव्यक्ति हीन नही होता और इसके अभिव्यजन मे 'सैकेण्ड लॉ ऑव थर्मोडिनैमिक्स' जैसा कोई नियम नही लागू होता, जिसके अनुसार सहजज्ञान के कुछ अश को अभिव्यजना के समय अवर, हीन या अनावश्यक होने के कारण छोड दिया जाना चाहिए अथवा उमे स्वय ही छूट जाना चाहिए। इस तरह सहजज्ञान का एकमात्र लक्षण है—अभिव्यक्ति। जिसकी अभिव्यक्ति नही होती, वह सवेदन या और कुछ हो सकता है, लेकिन सहजज्ञान नही।[1]

इस स्थल पर पहुँचकर दो विचारणीय प्रश्न उपस्थित होते हैं—(1) क्या सहजज्ञान मे विचारतत्त्व (कन्सेप्ट) की आशिक स्थिति भी नही रहती है ? और (2) क्या सहजज्ञान की सभी अभिव्यक्तियाँ सुन्दर तथा कलात्मक ही होती हैं अथवा कलात्मक अभिव्यजना कुछ लक्षण-विशिष्ट होती है ? जहाँ तक पहले प्रश्न का सम्बन्ध है, इस मान्यता को स्वीकार करना बहुत कठिन है कि सहजज्ञान मे विचार-बोध का अत्यन्ताभाव रहता है, क्योकि विचार-तत्त्व का आत्यन्तिक

1. Aesthetic, *Croce*, translated by *Anslie Douglas*, p 13.

अभाव रहने पर सहजज्ञान ही निरर्थक हो जायेगा। क्रोचे ने इस आपत्ति से आंशिक बचाव के लिए इतना स्वीकार किया है कि यदि कभी नन्दतिक या कलात्मक सहजज्ञान में विचार-तत्त्व का समावेश भी होता है, तो वे विचार अपना गुण-धर्म खोकर, रूपान्तरित होकर सहजज्ञान का अंश बन जाते हैं। किन्तु, यही क्रोचे की इस स्वीकृति से यह निष्पन्न हो जाता है कि ऐसे ही विचार-बोध सकलित सहजज्ञान कला वरेण्य होते होंगे और अन्य प्रकार के सहजज्ञान की तुलना में गुण-विशिष्ट भी। अत क्रोचे की उक्त स्वीकृति को अपने तर्क का आधार बनाते हुए एस सी. सेनगुप्त[1] ने यह प्रतिपादित किया है कि सहजज्ञान में भी विचार-तत्त्व की विद्यमानता रहती है। यदि कुछ क्षणों के लिए यह स्वीकार भी कर लिया जाये कि सहजज्ञान में विचार-तत्त्व की विद्यमानता नहीं रहती है और न उसके कलात्मक प्रेषण के लिए सहजज्ञान में उपचारवक्रता लाने की आवश्यकता होती है, तब भी यह प्रश्न विचारणीय रह जाता है कि उस सहजज्ञान से व्युत्पन्न बिम्बों को सौन्दर्य-*विधान या कला-सृजन के समय क्रम और चयन देने में विचार या तर्क-बुद्धि की* आवश्यकता का कैसे निषेध किया जा सकता है? सौन्दर्य के सर्वोत्तम निदर्शन काव्यकला में ही बिम्ब-विधान के अन्तर्गत हम जो चित्रात्मक उत्प्लवन ('पिक्टोरियल लीप') पाते हैं और उसमें पुन सभी बिम्बों का एक ही मुख्यार्थ की ओर जो अनुधावन पाते हैं, वह विचार अथवा तर्कात्मक ज्ञान के सहयोग के बिना किस प्रकार सम्भव है? अत यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सौन्दर्य प्रधान कलाओं के विधान-पक्ष में लय, अनुपात इत्यादि की सुरक्षा के लिए तर्कात्मक ज्ञान की सजगता आवश्यक है।

अब दूसरा प्रश्न यह है कि क्या सहजज्ञान की सभी अभिव्यक्तियाँ सौन्दय-विधान या कला के अन्तर्गत आती है? यहाँ पहली बात यह है कि कुछ कारणों के उपस्थित रहने पर, जैसे—घन सवेग (कैथेक्सिस) की उपस्थिति में या जडीकरण (फिक्सेशन) की अवस्था में सहजज्ञान की सचाई और तीव्रता के रहत भी सहजज्ञान की सम्यक् अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि सहजज्ञान की ईमानदार अभिव्यक्ति भी हो, तो वह सर्वदा और सर्वथा सौन्दर्य-विधान के *अन्तर्गत नहीं आ सकती। उदाहरण के लिए, जब आर्किमडिज* ने जान की बाजी पर निरन्तर चिन्तन से जलीय ऊर्ध्व बाधर सिद्धान्त को निकाला, तब उसने अपनी सफलता के आशु आनन्द की सहज अनुभूति को व्यक्त करने के लिए जिस 'यूरेका' शब्द का प्रयोग किया, वह एक शब्द उस सहजज्ञान की अभिव्यक्ति को ढोने में अक्षम नहीं रहा होगा। किन्तु, इस अभिव्यक्ति को हम कभी

1 S C *Sengupta*, Towards a Theory of the Imagination, Oxford University Press, 1959, p 82

भी लनार्द दा विंशी की 'मोनालिसा' या रैफेल के महान् चित्र 'मैडोना' जैसे सौंदर्य विधान का महत्त्व नही दे सकते।

फलस्वरूप, कुछ विचारक सामान्य सहजज्ञान और कलात्मक सहजज्ञान मे पर्याप्त अन्तर मानते है। उनका मन्तव्य है कि सौन्दर्य विधान या कला सहजज्ञान की अभिव्यक्ति है, किन्तु सहजज्ञान की सभी अभिव्यक्तियाँ सर्वथा और सर्वदा कला नही हैं, क्योकि नन्दतिक या कलात्मक सहजज्ञान इतर सहजज्ञान से भिन्न होता है। अत ऐसे विचारक सहजज्ञान के दो भेद मानते है—कलात्मक सहजज्ञान और घनीभूत सहजज्ञान (इण्टेन्सिव इण्ट्यूशन)।[1] किन्तु क्रोचे इस दो टूक विभाजन को अनावश्यक मानते है, क्योकि इनके अनुसार कलात्मक सहजज्ञान अधिक विस्तृत अथवा अधिक सकुल हो सकता है, लेकिन इन्द्रियबोध तथा मानसिक अनुभवो पर आधारित रहने के कारण साधारण सहजज्ञान और कलात्मक सहजज्ञान की प्रकृति मे कोई वास्तविक अन्तर नही रहता है। (तथाकथित) कलात्मक सहजज्ञान मे केवल विस्तार की अधिकता रहती है, अर्थात् इसमे अनेक प्रकार के मनोवेग, सवेग और प्रभाव की सकुल विद्यमानता रहती है। इसी तर्क के आधार पर क्रोचे ने उन विचारको का भी प्रत्याख्यान किया है जो सौन्दर्य विधान को साधारण सहजज्ञान न मानकर 'एन इण्ट्यूशन ऑव एन इण्ट्यूशन' कहते हैं। इसी क्रम मे क्रोचे का दूसरा उल्लेख्य मन्तव्य यह है कि उत्कृष्ट सौन्दर्य विधान का सम्बन्ध सहजज्ञान के उस पक्ष से है, जिसमे प्रभाव और सवेदन (इम्प्रेशन एण्ड सेन्सेशन) सचित रहते है। अत उत्कृष्ट सौन्दर्य विधान अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति न होकर प्रभावो की अभिव्यक्ति हुआ करता है।[2]

क्रोचे के सौन्दर्य सिद्धान्त और सहजज्ञान की विवेचना मे काण्ट के सहजज्ञान की चर्चा अपेक्षित है, क्योकि उसने अपने प्रबन्ध मे काण्ट की मान्यताओ का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। उसकी एकाध उक्ति स तो यह स्पष्ट पता चलता है कि वह अपने सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धान्तो के स्थापन मे काण्ट से अत्यधिक प्रभावित था। काण्ट ने सहजज्ञान को ऐसा ऐन्द्रिय ज्ञान माना है, जो वस्तु के गोचर प्रत्यक्ष या सवेद्य सम्पर्क पर निर्भर रहता है।[3] साथ ही यह ज्ञान वस्तु प्रत्यक्ष के

1 *Jacques Maritain* Creative Intuition in Art and Poetry, pp 83 84
2 *Croce*, Aesthetic translated by Anslie Douglas, p 272
3 काण्ट ने सौन्दर्यानुभूति मे भी बहिर्वस्तु या गोचर प्रत्यक्ष को स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में काण्ट के मत का सारमर्म उपस्थित करते हुए डॉ दासगुप्त ने लिखा है—'काण्टेर मतेर सारमर्म एई जे जेखाने आमादेर अन्तरमन कोनो बहिर्वस्तु अथवा अन्तर्जगतेर नियमेर साम्येर परिचय पाय ओ सेई वस्तुटिर किंवा अनुभवगुलिर मध्ये एकटि मुक्त क्रीडार परिचय लाभ करे सेई परिचयेर आनन्दई सौन्दर्य आनन्द।' —दासगुप्त सौन्दर्य-तत्त्व पृ 132।

उपरान्त की बौद्धिक प्रतिक्रिया का ऐसा पूर्ववर्ती है, जो देश-काल-सापेक्ष है।[1] तदुपरान्त काण्ट की यह अडिग धारणा है कि विचारबोध (कन्सेप्ट) से रहित सहजज्ञान अन्धा होता है। इसके विपरीत क्रोचे की यह मान्यता है कि सहजज्ञान का बुद्धि से पृथक् एक स्वतन्त्र अस्तित्त्व है। अत विचार-बोध से उसकी विद्यमानता का अनिवार्य अथवा अविनाभाव सम्बन्ध नही है। इतना ही नहीं, उसका मत है कि जब सहजज्ञान मे विचार-बोध का समावेश होता है, तब विचार-तत्त्व स्वतन्त्र अस्तित्त्व खोकर सहजज्ञान मे अन्तर्हित हो जाता है। काण्ट के विपरीत क्रोचे की दूसरी स्थापना यह है कि कलागत सहजज्ञान देश काल की सापेक्षता तथा अन्य अचिर सम्बन्धो से परे हुआ करता है। तीसरी बात यह है कि क्रोचे सहजज्ञान को ऐन्द्रियज्ञान नही मानते हैं। उनके अनुसार केवल वही ऐन्द्रियज्ञान सहजज्ञान बन सकता है, जो आत्मचैतन्य से अभिव्यक्तिगत सम्बन्ध रखता हो।

क्रोचे की सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओ के उपर्युक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि अभिव्यक्ति की पूर्णता ही सौन्दर्य है। इसी से यह बात निष्पन्न होती है कि जहाँ अभिव्यक्ति अपूर्ण रहती है, वहाँ कुरूप का अवतरण हो जाता है। इस तरह क्रोचे ने अभिव्यक्ति की पूर्णता और अपूर्णता को ही सुन्दर और कुरूप का कारण माना है। दूसरी बात यह है कि क्रोचे ने सौन्दर्य का सम्बन्ध मुख्यत मनुष्य की वीक्षामूलक वृत्ति के साथ जोड़ा है। इस स्थापना के विश्लेषण से हमे रोमाण्टिक कविताओं में प्राप्त सौन्दर्य के चाक्षुष विधान की प्रधानता पर एक आलोक मिलता है, जिसका उपयोग प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के द्वितीय खण्ड मे छायावादी कविता की सौन्दर्य-चेतना और कल्पना विधान के विवेचन मे किया जायगा। इस तरह आधुनिक सौन्दर्यशास्त्रियो मे क्रोचे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं, जिनके अनुसार सफल अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य है।

क्रोचे के इस स्वच्छन्द अभिव्यक्तिवाद के ठीक विपरीत रूपविधानवादियो का सिद्धान्त (फॉर्मलिज्म) है, जिनके अनुसार कला-सृष्टि के लिए किसी सहजानुभूति अथवा अन्त प्रज्ञा की आवश्यकता नही है। इनके अनुसार आवश्यकता है—कुछ निश्चित नियमो के अनुसरण की। इन नियमो के अनुसरण स ही सौन्दर्य की पर्याप्त सृष्टि हो सकती है। इस रूपविधानवादी सिद्धान्त के दो प्रख्यात उद्भावक हैं—डेन्मॉन रॉस और जे हैम्बिज। रॉस के अनुसार बिन्दु, रेखा, कोण, छाया, ज्यामितिक आकृतियो और वर्णच्छटाओ की (अनेक निश्चित नियमो की व्यवस्थित) सहायता से विभिन्न प्रयुक्तियो (डिजाइन) का निर्माण हो सकता है, जो कला-सृष्टि के लिए अलम् है। इस दृष्टि से रॉस ने 'सेट पैलेट'[2] पर बहुत बल

1 *Norman Kemp* Smith, Commentary to Kant's Critic of Pure Reason, pp 263 270
2 Set Pallete

दिया है। इस 'सेट पैलेट' मे 'वैल्यू' और 'इण्टेन्सिटी' के अनुसार अड़तालीस प्रकार की रग व्यवस्थाएँ है, जिनमे स किसी एक का अनुसरण करने पर सौन्दर्य की सृष्टि हो सकती है। इसी सिद्धान्त को रॉस ने किंचित् विस्तार से उपस्थित किया है। सक्षेप मे, इसकी मूलभूत मान्यताएँ दो हैं—प्रयुक्तियो की विधि और 'सेट पैलेट'। किन्तु, रॉस के इस सिद्धान्त से अशत सहमत होना भी सम्भव नही है, कारण, इस सिद्धान्त मे काल की उपेक्षा है। सौन्दर्यबोध की गतिशीलता और उसकी सतत सूक्ष्मगामी विकासमान प्रवृत्ति के कारण रग तथा रेखाओ के प्रति मनुष्य की रुचि बदलती रहती है, जिसकी स्वीकृति के लिए रॉस के सिद्धान्त मे कोई गुजाइश नहीं है। दूसरी बात यह है कि एक ही रग और रेखाकृति से विभिन्न व्यक्ति अपनी नेत्र-रचना की भिन्नता अथवा शारीरिक प्रत्यर्थता (रेस्पॉन्स) के अन्तर के कारण अलग-अलग प्रकार-स्तर की सवेदना और सवेग प्राप्त कर सकते हैं। यह भिन्नता भी रॉस के सिद्धान्त को खण्डित करती है। तीसरी बात यह है कि व्यक्तिगत रुचि-सस्कारो और आसगो के कारण भी एक रग से व्युत्पन्न भावना अथवा सवेग मे व्यक्ति-भेद से अन्तर हो सकता है। अर्थात् व्यक्ति-भेद के कारण एक रग से भिन्न-भिन्न अथवा विविध सवेग उत्पन्न हो सकते है। इसलिए उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्टत सिद्ध हो जाता है कि रॉस का सिद्धान्त सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व नही रखता है।

रूपविधानवादियो के बीच दूसरा अतिवादी सिद्धान्त जे. हैम्बिज का है, जो 'डिनेमिक सिमेट्री' के नाम से प्रसिद्ध है। जिस तरह रॉस ने अपने सिद्धान्त मे 'डिजाइन' पर बल दिया है, उसी तरह हैम्बिज ने अपने सिद्धान्त मे 'पैटर्न' पर। हैम्बिज के सिद्धान्त की दो मूलभूत मान्यताएँ है—'पैटर्न', विशेषकर, 'फ्लैट पैटर्न' और 'रेक्टेंगल'। इन दोनो—'पैटर्न' और 'रेक्टेंगल'—को किसी कलाकृति मे समानुपातिक बनाने के लिए हैम्बिज ने अनेक गणित-सूत्र दिये हैं। सक्षेप मे, यह कहा जा सकता है कि हैम्बिज का सिद्धान्त सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण नही है, क्योकि इस पर भी वे सभी आपत्तियाँ लागू होती हैं, जो रॉस के सिद्धान्त पर। यदि हैम्बिज और रॉस के सिद्धान्तो को हम स्वीकार कर लें, तब तो कलाकार के लिए यह अनावश्यक है कि वह कला-सृष्टि के निमित्त आत्म-चेतना को द्राक्षासव की तरह पिघलाये।

आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र का एक और सिद्धान्त है—'थ्योरी ऑव इम्पेथी',[1]

1. जर्मन सौन्दर्यशास्त्रियों के इस प्रिय सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए *T E Hulme* ने लिखा है—

"The source of the pleasure felt by the spectator before the products of art is a feeling of increased vitality, a process which German writers on aesthetics call empathy (Einfuhlung) in general terms, we

जिसे हम समानुभूति का सिद्धान्त कह सकते हैं। इस सिद्धान्त को अनेक सौन्दर्य-शास्त्रियों ने अपने-अपने ढग से समृद्ध किया है। फलस्वरूप यह सिद्धान्त इतना लचकीला हो गया है कि कभी कभी पहली नजर मे अनबूझ सा प्रतीत होने लगता है। समानुभूति का सिद्धान्त हमारे प्रत्यक्षीकरण की गतिशील प्रत्यर्थताओ (मोटर रेस्पॉन्सेज) पर आधारित है। इस प्रत्यक्षीकरण की गतिशील प्रत्यर्थता मे हमारी पूर्वानुभूतियो का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। पूर्वानुभूतियो की सापेक्षिकता मे ही हमारा कोई प्रत्यक्षीकरण सार्थक होता है। यदि हम कौए को देखकर कहते हैं कि यह पक्षी बहुत काला है, तो हमारे इस कथन का आधार मात्र उस कौए का प्रत्यक्ष नही है बल्कि इस 'प्रत्यक्ष' के पूर्व अनेक पक्षियो और काले रग के पदार्थों तथा प्राणियो के प्रत्यक्ष की अनुभूतियाँ भी उसमे सम्मिलित हैं। उन पूर्वानुभूतियो के सापेक्ष सन्दर्भ मे ही हमारा यह कथन सम्भव और सार्थक हो पाता है कि कौआ बहुत काला है।

समानुभूति के सिद्धान्त पर विल्हेल्म वोरिंगेर ने अपने प्रसिद्ध प्रबन्ध 'एब्स्ट्रैक्शन एण्ड इम्पैथी' म विस्तारपूर्वक विचार किया है। इनके अनुसार समानुभूति का अधिक सम्बन्ध रूपात्मक कलाओ या आकृतिमूलक कलाओ (प्लास्टिक आर्ट्स) के साथ है, श्रव्य और अमूर्त्त कलाओं से कम। कारण यह है कि समानुभूति के सिद्धान्त के अनुसार कलानुभूति सदैव एक वस्तुसम्पृक्त अनुभूति होती है, और यह जानी हुई बात है कि आकृतिमूलक या रूपात्मक कलाओ मे वस्तु-सम्पृक्तता अधिक रहती है। अत लिप्स ने समानुभूति सम्बन्धी अपनी धारणाओ के अनुसार यह मान्यता प्रस्तुत की है—"Aesthetic enjoyment is objectified self-

can say that any work of art we find beautiful is an objectification of

कुछ विचारको ने थ्योरी ऑव इम्पैथी की समता कला मे भावनाओ के वस्तुनिष्ठा करण वाले सिद्धान्त के साथ स्थापित की है। जैसे प्रवासजीवन चौधरी ने कला म भावनाओ के वस्तुनिष्ठीकरण पर विचार करते हुए लिखा है—

" theory of objectification of feelings is more or less like that of Empathy (of Lipps and Volkelt) in which internal feelings are said to be *projected or read into* external objects which really excite the feelings so that feelings, as embodied in some sensuous form, may be said to be objectified These theories bring out a fundamental principle involved in aesthetic experience viz fixation of feeling in some sensuous medium and thus making it an object of apprehension "
—*Dr Pravasjiwan Chaudhury*, Studies in Comparative Aesthetics, Viswa Bharti, Santiniketan, 1953, p 19

enjoyment "[1] विल्हेल्म वोरिंगेर ने भी लिप्स की समानुभूति-सम्बन्धी धारणाओ का ही विशेष उल्लेख किया है। लिप्स की प्रधान धारणा यह है कि समानुभूति के दो प्रकार होते हैं—भावात्मक समानुभूति और अभावात्मक समानुभूति। तदनन्तर, लिप्स की दूसरी मान्यता यह है कि कला का सम्बन्ध भावात्मक समानुभूति से रहता है। अर्थात्, भावात्मक समानुभूति से ही कलासृजन या कलानुभूति की प्रेरणा मिलती है।[2]

समानुभूति के सिद्धान्त का दूसरा पक्ष हमारे शरीरस्थ सचरण, चेता और सवाहिनी नाडियो की गति तथा भावक की मासपेशिया के विकार से सम्बन्धित है। इसका आशय यह है कि जब हम किसी वस्तु अथवा प्राणी को आलम्बन रूप मे स्वीकार करते है तब उससे हमे किसी-न-किसी प्रकार के भाव, भावना अथवा सवेग की प्राप्ति होती है। किन्तु, यह प्राप्ति आश्रय के मन प्रदेश-मात्र तक ही सीमित नही रहती, बल्कि उसकी शारीरिक व्याप्ति भी होती है, जिसे भारतीय काव्यशास्त्र अनुभाव, व्यभिचारी अथवा सचारी के अन्तर्गत स्वीकार करता है। अर्थात् किसी वस्तु को देखकर उसी के अनुरूप हमारे शरीर मे भी गति और विकार पैदा होते है। अत समानुभूति सिद्धान्त के अनुसार कला की सफलता इसमे है कि वह 'निबद्ध वस्तु' से हमारे शरीर मे उस सचार को भर दे, जो सचार 'मूल वस्तु' के वास्तविक प्रत्यक्ष से जगता है। उदाहरणार्थ किसी प्रलम्ब-प्रच्छाय वट-वृक्ष का वह चित्र सफल माना जायेगा, जो हममे वैसा ही नेत्र विस्फार, उपराम की भावना, श्रान्त पेशियो मे ढीलापन अथवा प्ररोह की सकुलता के दर्शन से (उत्पन्न विस्मय के कारण) नाडियो मे स्फीति भर दे, जैसा कि वस्तुत विशाल वटवृक्ष के दर्शन से हुआ करता है। समानुभूति सिद्धान्त के इस पक्ष पर विशेष बल देनेवालो मे

1 सन्तायना ने भी सौन्दर्यानुभूति मे वस्तुनिष्ठता को महत्त्व दिया है, किन्तु सन्तायना की वस्तुनिष्ठता लिप्स की वस्तुनिष्ठता से भिन्न है, कारण सन्तायना की वस्तुनिष्ठता आनन्द की वस्तुनिष्ठता है जबकि लिप्स की वस्तुनिष्ठता 'आत्मानन्द' की वस्तुनिष्ठता है।—
" beauty is constituted by the objectification of pleasure It is pleasure objectified "—*George Santayana*, The Sense of Beauty, New York, 1955, p 52

2 विल्हेल्म वोरिंगेर ने लिप्स की इस मान्यता का विश्लेषण करते हुए लिखा है—
"Apperceptive activity becomes aesthetic enjoyment in the case of positive empathy, in the case of the unision of my natural tendencies to self-activation with the activity demanded of me by the sensuous object In relation to the work of art also, it is this positive empathy alone which comes into question"—*Wilhelm Worringer*, 'Abstraction and Empathy', translated by *Michael Bullock*, London, 1953, p. 7.

जिसे हम समानुभूति का सिद्धान्त कह सकते हैं। इस सिद्धान्त को अनेक सौन्दर्यशास्त्रियो ने अपने-अपने ढग से समृद्ध किया है। फलस्वरूप यह सिद्धान्त इतना लचकीला हो गया है कि कभी-कभी पहली नजर मे अनबूझ-सा प्रतीत होने लगता है। समानुभूति का सिद्धान्त हमारे प्रत्यक्षीकरण की गतिशील प्रत्यर्थताओ (मोटर रैस्पॉन्सेज) पर आधारित है। इस प्रत्यक्षीकरण की गतिशील प्रत्यर्थता मे हमारी पूर्वानुभूतियो का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। पूर्वानुभूतियो की सापेक्षिकता मे ही हमारा कोई प्रत्यक्षीकरण सार्थक होता है। यदि हम कौए को देखकर कहते हैं कि यह पक्षी बहुत काला है तो हमारे इस कथन का आधार मात्र उस कौए का प्रत्यक्ष नही है, बल्कि इस 'प्रत्यक्ष' के पूर्व अनेक पक्षियो और काले रग के पदार्थो तथा प्राणियो के प्रत्यक्ष की अनुभूतियाँ भी उसमे सम्मिलित हैं। उन पूर्वानुभूतियो के सापेक्ष सन्दर्भ मे ही हमारा यह कथन सम्भव और सार्थक हो पाता है कि कौआ बहुत काला है।

समानुभूति के सिद्धान्त पर विल्हेल्म वोरिंगेर ने अपने प्रसिद्ध प्रबन्ध 'एब्स्ट्रैक्शन एण्ड इम्पैथी' मे विस्तारपूर्वक विचार किया है। इनके अनुसार समानुभूति का अधिक सम्बन्ध रूपात्मक कलाओ या आकृतिमूलक कलाओ (प्लास्टिक आर्ट्स) के साथ है, श्रव्य और अमूर्त्त कलाओ से कम। कारण यह है कि समानुभूति के सिद्धान्त के अनुसार कलानुभूति सदैव एक वस्तुसम्पृक्त अनुभूति होती है, और यह जानी हुई बात है कि आकृतिमूलक या रूपात्मक कलाओ मे वस्तु-सम्पृक्तता अधिक रहती है। अत लिप्स ने समानुभूति सम्बन्धी अपनी धारणाओ के अनुसार यह मान्यता प्रस्तुत की है—"Aesthetic enjoyment is objectified self-

can say that any work of art we find beautiful is an objectification of

कुछ विचारको ने थ्यागी ऑव इम्पैथी की समता कला मे भावनाओ के वस्तुनिष्ठीकरण वाले सिद्धान्त के साथ स्थापित की है। जैसे प्रवासजीवन चौधरी ने कला म भावनाओ के वस्तुनिष्ठीकरण पर विचार करते हुए लिखा है—

" theory of objectification of feelings is more or less like that of Empathy (of Lipps and Volkelt) in which internal feelings are said to be projected or read into external objects which really excite the feelings so that feelings, as embodied in some sensuous form, may be said to be objectified These theories bring out a fundamental principle involved in aesthetic experience, viz fixation of feeling in some sensuous medium and thus making it an object of apprehension "
—*Dr Pravasjiwan Chaudhury*, Studies in Comparative Aesthetics, Viswa Bharti, Santiniketan, 1953, p 19

enjoyment "[1] विल्हेल्म वोरिंगेर ने भी लिप्स की समानुभूति-सम्बन्धी धारणाओं का ही विशेष उल्लेख किया है। लिप्स की प्रधान धारणा यह है कि समानुभूति के दो प्रकार होते हैं—भावात्मक समानुभूति और अभावात्मक समानुभूति। तदनन्तर, लिप्स की दूसरी मान्यता यह है कि कला का सम्बन्ध भावात्मक समानुभूति से रहता है। अर्थात्, भावात्मक समानुभूति से ही कलासृजन या कलानुभूति की प्रेरणा मिलती है।[2]

समानुभूति के सिद्धान्त का दूसरा पक्ष हमारे शरीरस्थ सचरण, चेता और सवाहिनी नाडियों की गति तथा भावक की मासपेशियों के विकार से सम्बन्धित है। इसका आशय यह है कि जब हम किसी वस्तु अथवा प्राणी को आलम्बन रूप मे स्वीकार करते हैं तब उससे हमें किसी न-किसी प्रकार के भाव, भावना अथवा सवेग की प्राप्ति होती है। किन्तु यह प्राप्ति आश्रय के मन प्रदेश मात्र तक ही सीमित नही रहती, बल्कि उसकी शारीरिक व्याप्ति भी होती है, जिसे भारतीय काव्यशास्त्र अनुभाव, व्यभिचारी अथवा सचारी के अन्तर्गत स्वीकार करता है। अर्थात् किसी वस्तु को देखकर उसी के अनुरूप हमारे शरीर म भी गति और विकार पैदा होते हैं। अत समानुभूति सिद्धान्त के अनुसार कला की सफलता इसमें है कि वह 'निवद्ध वस्तु' से हमारे शरीर मे उस सचार को भर दे, जो सचार 'मूल वस्तु' के वास्तविक प्रत्यक्ष से जगता है। उदाहरणार्थ किसी प्रलम्ब प्रच्छाय वट-वृक्ष का वह चित्र सफल माना जायेगा, जो हममे वैसा ही नेत्र विस्फार, उपराम की भावना, श्रान्त पेशियों मे ढीलापन अथवा प्ररोह की सकुलता के दर्शन से (उत्पन्न विस्मय के कारण) नाडियो मे स्फीति भर दे, जैसा कि वस्तुत विशाल वटवृक्ष के दर्शन से हुआ करता है। समानुभूति सिद्धान्त के इस पक्ष पर विशेष बल देनेवालों में

1 सन्तायना ने भी सौन्दर्यानुभूति मे वस्तुनिष्ठता को महत्त्व दिया है किन्तु सन्तायना की वस्तुनिष्ठता लिप्स की वस्तुनिष्ठता स भिन्न है कारण सन्तायना की वस्तुनिष्ठता आनन्द की वस्तुनिष्ठता है जबकि लिप्स की वस्तुनिष्ठता 'आत्मानन्द की वस्तुनिष्ठता है।—
" beauty is constituted by the objectification of pleasure It is pleasure objectified " —*George Santayana* The Sense of Beauty, New York, 1955, p 52

2 विल्हेल्म वोरिंगेर ने लिप्स की इस मान्यता का विश्लेषण करते हुए लिखा है—
"Apperceptive activity becomes aesthetic enjoyment in the case of positive empathy, in the case of the unision of my natural tendencies to self-activation with the activity demanded of me by the sensuous object In relation to the work of art also, it is this positive empathy alone which comes into question" —*Wilhelm Worringer*, 'Abstraction and Empathy', translated by *Michael Bullock*, London, 1953, p 7

थियोडोर लिप्स[1] और 'इनर मिमिक्री' के सिद्धान्त को तूल देनेवाले विचारक कार्ल ग्रूज उल्लेखनीय हैं। संक्षेप में समानुभूति के सिद्धान्त का यही स्वरूप है। किन्तु इस प्रसंग में हमें इतना स्वीकार करना पड़ता है कि यह सिद्धान्त कलाभावन में 'शारीरिक विकार' और सौन्दर्य के आकलन में स्पर्शिक मूल्य को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देता है।

तदुपरान्त आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है—'थ्योरी ऑव साइकिकल डिस्टैन्स', जिसके मूल भाव को हिन्दी में अच्छी तरह व्यक्त करने के लिए हम 'तटस्थ भावन का सिद्धान्त' कह सकते हैं।[2] इस सिद्धान्त के उद्भावक हैं—ई बुल्लो। यहाँ 'तटस्थता' का आशय 'आंशिक अनासक्ति' से है। आसक्त भावन भ्रान्त फल देता है, क्योंकि आसक्ति के क्षणों में भावक की चेतना व्यक्तिगत कुशल-क्षेम और वासना से इस प्रकार मुद्रित हो जाती है कि वस्तु का वस्तुगत मूल्य कुछ भी नहीं रह पाता। और, यह जानी हुई बात है कि उपयोगिता तथा स्वार्थादि के बन्धनों में आबद्ध रहने पर न 'सौन्दर्य' का सृजन हो सकता है और न सृष्ट सौन्दर्य का समुचित भावन। अतः कला के क्षेत्र में उचित 'भावन' के लिए 'आंशिक अनासक्ति' आवश्यक है। सौन्दर्य-भावन में इस आंशिक अनासक्ति की अवस्था को हम 'तन्मनस्कता' कह सकते हैं। सौन्दर्य-भावन की दूसरी स्थिति आसक्ति की हो सकती है जिसमें सहृदय चित्त कलाकृति में लीन हो जाता है। इसे हम 'तन्मयता' की अवस्था कह सकते हैं। किन्तु, भावक के लीन हो जाने अथवा आत्यन्तिकरूपेण तन्मय हो जाने के कारण कृति-विशेष का मूल्यांकन नहीं हो सकता, कारण, समुचित मूल्यांकन के लिए तटस्थता चाहिए—एक अनुपेक्षणीय पार्थक्य। पुनः इस 'तन्मयता' के विपरीत एक पार्यन्तिक स्थिति हो सकती है, जिसमें भावक 'वस्तु' अथवा 'कृति' से एकदम अनासक्त हो। इसे हम अन्यमनस्कता की अवस्था कह सकते हैं। इस अवस्था में सहृदयता के अभाव के कारण न तो

1 कुछ विचारकों, जैसे—डॉ रामानन्द तिवारी शास्त्री का कहना है कि लिप्स का समानुभूति का सिद्धान्त स्पष्ट रूप से मनोवैज्ञानिक और व्यक्तिवादी है। उसमें किसी अध्यात्म का आधार अथवा आग्रह नहीं है। किसी सीमा तक यह समानुभूति हमारे सामान्य व्यवहार का एक साधारण तथ्य है। किसी वस्तु अथवा व्यक्ति में हमारी रुचि तीव्र होती है तो हम प्रायः उनके साथ अपने को तद्रूप कर देते हैं तथा उसी के समान अनुभव और व्यवहार करने लगते हैं।—डॉ रामानन्द तिवारी शास्त्री, सत्यं शिवं सुन्दरम्, राजस्थान वि वि द्वारा पी एच डी की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध 1957, पृ 71

2 'साइकिकल डिस्टेन्स' एक प्रकार का मानसिक सन्तुलन है, जो कला-भावन के लिए आवश्यक है। इसलिए *John Dewey* ने साइकिकल डिस्टेन्स को साइकिकल बैलेन्स कहा है—
John Dewey, Art As Experience, George Allen & Unwin Ltd London, 1934, p 258,

निबद्ध सौन्दर्य का अभिशसन हो सकता है और न हार्दिकता अथवा 'सहअनुभूति' के अभाव के कारण कलाकार के दृष्टिकोण का ग्रहण ही। अत कला-भावन मे कृति और सहृदय के बीच कुछ ऐसा पार्थक्य होना चाहिए, जो आवेग-सवेग को सयमित रख सके और मूल्य-दृष्टि को सुरक्षित भी। अर्थात् 'थ्योरी ऑव साइकिकल डिस्टेन्स' कला-भावन मे 'मध्यम मार्ग' का विश्वासी है और तन्मयता, अन्य-मनस्कता तथा तन्मनस्कता के बीच 'अन्तिम' का पक्षपाती है। इसलिए इस सिद्धान्त को तन्मनस्कता का सिद्धान्त' कहना अधिक अच्छा लगता है। तन्मनस्कता को हम तन्मयता और अन्यमनस्कता के बीच की कला-वरेण्य स्थिति कह सकते हैं।[2] ई बुल्लो के अलावा लांगमान और मुन्स्टरबर्ग ने इस सिद्धान्त की ऐसी व्याख्या की है जो शुक्लजी के इस काव्य सिद्धान्त से मेल खाती है कि कविता (कला) के द्वारा स्वार्थ के क्षुद्र बन्धन टूट जाते हैं और व्यक्ति लोक सत्ता मे लीन हो जाता है। इस धारणा को आगे बढाते हुए उक्त विद्वानो ने नन्दतिक अभिशसन अथवा कलासृष्टि के लिए निर्वैयक्तीकरण और हृदय की मुक्तावस्था को उसी प्रकार आवश्यक बतलाया है, जिस प्रकार, क्रमश, टी एस इलियट ने और आचार्य शुक्ल ने।

इसी प्रकार आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र म अनेक सिद्धान्तो की स्थापना की गई है जिसम अन्विति सिद्धान्त सोद्देश्यता और कल्पनाशील जीवन की पृथकता का सिद्धान्त तथा सन्तुलन सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु, य सभी सिद्धान्त पूर्वविवेचित

1 जाज सन्तायना न भी सौन्दय भावन से प्राप्त होनेवाली आनन्दानुभूति के लिए एक प्रकार के पार्थक्य या अनासक्ति को आवश्यक माना है— *Every real pleasure is in one sense disinterested* " —*George Santayana* The Sense of Beauty, Dover Publication, Inc New York, 1955, p 39

2. सौन्दयशास्त्र के भारतीय लेखकों के बीच डॉ प्रवासजीवन चौधरी ने उक्त सिद्धान्त की मनोविज्ञानात्तर अथवत्ता (metapsychical significance) का निर्देश करते हुए इसका सम्बन्ध भारतीय सौन्दयशास्त्र से जोडना चाहा है। श्री चौधरी ने इस प्रसग म अभिनव गुप्त के विचारो की अधिक चर्चा की है। इनका निष्कष है कि पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र मे थ्योरी ऑव साइकिकल डिस्टन्स' का विवेचन भले ही नवीन हो किन्तु सिद्धान्त या तत्त्व की दृष्टि से वह भारतीय सौन्दर्यशास्त्र म विशेषकर, अभिनवगुप्त क निरूपणो म विद्यमान है। द्रष्टव्य—*Dr Pravasjivan Claudhury*, Studies in Comparative Aesthetics, Visva Bharati, Santiniketan, 1953, pp 35 40 आनन्दप्रकाश दीक्षित ने भी अपने शोध प्रबन्ध म श्री जोग डॉ बाटवे और काका कालेलकर की चर्चा करते हुए जिस तादात्म्य सिद्धान्त का विश्लेषण किया है वह बहुत दूर तक थ्योरी आव साइकिकल डिस्टेन्स का ही परिवर्तित रूप है। द्रष्टव्य —आनन्दप्रकाश दीक्षित 'रस सिद्धान्त स्वरूप-विश्लेषण', राजकमल प्रकाशन दिल्ली, 1960, पृ 154-157। निष्कर्ष यह है कि भारतीय सौन्दर्यशास्त्र में भी थ्योरी ऑव साइकिकल डिस्टेन्स' तात्त्विक दृष्टि से किसी-न किसी रूप में बराबर विद्यमान रहा है।

सिद्धान्तों के ही उच्छिष्ट हैं, अत इनका विस्तृत विवेचन आवश्यक नहीं है।

इस विवेचन के उपरान्त प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र (एक्सपेरिमेंटल एस्थेटिक्स) की उपलब्धियों पर भी विचार कर लेना उचित है, क्योंकि मनोविज्ञान की सहायता से इसने सौन्दर्यानुचिन्तन के लिए कुछ नूतन आलोक प्रस्तुत किया है। प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र का उद्देश्य सौन्दर्य का वैज्ञानिक विश्लेषण है, क्योंकि अब तक सौन्दर्य का विवेचन, अधिकतर, भावुक भाषा में ही होता रहा है। प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र का प्रारम्भ जी टी फेकनर ने किया, किन्तु इसका कुछ व्यवस्थित रूप बहुत बाद में अध्येताओं के समक्ष उपस्थित हुआ। प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र नन्दतिक मस्थिति और सौन्दर्यानुभूति को एक प्रकार की सवेगावस्था मानकर उसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करता है। उदाहरणार्थ, जेम्स-लैंग सिद्धान्त के अनुसार सौन्दर्यानुभूति वह दशा है, जिसमे (विसेरल' और 'सोमेटिक रिसेप्टर्स' से प्राप्त) अनेक प्रकार के सवेदन एक साथ जगकर और परस्पर मिश्रित होकर व्यक्ति के तन मन को सवेग सकुल बना देते हैं। इस प्रसग मे यह भी ध्यातव्य है कि प्रायोगिक मनोविज्ञान के अनुसार कभी-कभी 'सुन्दर' रुचि-निर्भर होता है अर्थात्, कौन वस्तु सुन्दर है—यह द्रष्टा की रुचि पर निर्भर करता है। इस तथ्य को हम दो दृष्टियों से समझ सकते हैं। पहली बात यह है कि किसी वस्तु के प्रति व्यक्ति की प्रत्यर्थता (रेस्पॉन्स) उसके आसग, सगीत, वातावरण और अभ्यास पर निर्भर करती है। इसलिए एक ही वस्तु के प्रति विभिन्न आसग, सगति, वातावरण और अभ्यास म पले हुए व्यक्तियो की प्रत्यर्थताएँ भी भिन्न होती है। व्यक्ति की यह प्रत्यथता ही वस्तु के प्रति नन्दतिक आकर्षण अथवा सौन्दर्यानुभूति पैदा करती है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि सुन्दर असुन्दर की परख व्यक्ति के उस रुचि-परिवेश पर निर्भर करती है, जो आसग, सगति, वातावरण और अभ्यास की सापेक्षता मे उसकी प्रत्यर्थता का नियमन करता है। अर्थात् कौन वस्तु सुन्दर है—यह द्रष्टा की प्रत्यर्थता की प्रणाली पर निर्भर करता है। दूसरी बात यह है कि व्यक्ति के सवेग मूलत दो प्रकार के होते हैं—भावात्मक सवेग (पॉजिटिव इमोशन्स) और अभावात्मक सवेग (नेगेटिव इमोशन्स)। भावात्मक सवेग हम उस सवेग को कहते हैं, जिसमे उद्दीपन (स्टिमुलस) के प्रति स्वीकृति का भाव अर्थात् आकर्षण रहता है और अभावात्मक सवेग हम उसे कहते हैं, जिसमे उद्दीपन के प्रति अस्वीकृति का भाव अर्थात् विकर्षण रहता है। यह स्पष्ट है कि सौन्दर्यानुभूति का सम्बन्ध मुख्यत हमारे भावात्मक सवेगों से रहता है। किन्तु यह निश्चित नही है कि किसी एक वस्तु के प्रति सभी व्यक्तियो का समान भावात्मक सवेग अथवा अभावात्मक सवेग जगे। अत इस दृष्टि से यह भी सिद्ध होता है कि 'सुन्दर असुन्दर' का निर्णय व्यक्ति-सापेक्ष होता है। पुन प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र इन्द्रियो और चेता नाडियो के वर्गीकरण के आधार पर भी सौन्दर्य-भावन को समझने की चेष्टा करता है। इन

द्रयो और सवेगवाहिनी नाडियो के तीन वर्ग माने गये है—'नॉसीसेप्टर्स', सेप्टर्स' और 'न्यूट्रोसेप्टर्स'। प्रथम वर्ग से पीडादायिनी अनुभूतियाँ—जैसे क, कडवापन, भूख, दुर्गन्ध, इत्यादि —प्राप्त होती है, दूसरे वर्ग से सुखदायिनी नुभूतियाँ—जैसे, मिठास, सुगन्ध, सुस्वादु, तृप्ति इत्यादि—प्राप्त होती है और सरे वर्ग से शेष सभी प्रकार की अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं। सौन्दर्यानुभूति का बन्ध दूसरे वर्ग मे आनेवाली इन्द्रियो और सवेगवाहिनी नाडियो से है।

प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टिभगी और उपलब्धियो के ये कुछ नमूने है, नके आधार पर इतना निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र स्वरूप अभी सुनिश्चित नही हो सका है और उसकी विधाएँ कला-जगत् के लिए धक उपयोगी नही हैं। प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र को समृद्ध करनेवाले विचारको मार्टिन, वैलेण्टाइन और मिल्टन एच बर्ड उल्लेखनीय महत्त्व के अधिकारी है। क्षेप मे, प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार 'सौन्दर्य' के सम्बन्ध मे निम्नलिखित ष्कर्ष निकाले जा सकते है

1. सौन्दर्य का अपने-आपमे कोई पृथक् अस्तित्व नही होता है।

2 सौन्दर्य का सत्य, शिव और नैतिकता मे कोई अनिवार्य अथवा ऋजु म्बन्ध नही रहता है।

3 यह आवश्यक नही है कि 'सुन्दर' सर्वदा सत्य हो, प्राकृतिक हो अथवा कृति का अनुकरण हो।

4. कोई भी रूप सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा निश्चितरूपेण 'सुन्दरतम' नही हा जा सकता, कारण, यह आवश्यक नही है कि कोई एक वस्तु सबको सुन्दर नीत हो।

5 सन्तुलन सौन्दर्य का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, किन्तु सौन्दर्य की सृष्टि न्तुलन के बिना भी सम्भव है।

6 सगति (हार्मनी) सौन्दर्य के लिए वाछनीय है, आवश्यक है; किन्तु कौन-सी वस्तु सगतिपूर्ण है—यह निर्णय व्यक्तिगत रुचि की बात है।

7 सौन्दर्य-विधान मे रग-परिज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है; क्योकि रग का प्रभाव परिस्थिति-भेद और व्यक्ति-भेद से बदलता रहता है। वर्ण-बोध पर वय और मन स्थिति का भी प्रभाव पडता है।[1]

अन्ततोगत्वा, हमे यह स्वीकार करना पडता है कि प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र की सीमाएँ अत्यन्त स्पष्ट हैं, क्योकि जिस प्रयोग-विधि और जैसी प्रयोगशाला को प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र तूल देता है, उस प्रयोग से अथवा वैसी प्रयोगशाला मे न तो सौन्दर्य की कलात्मक सृष्टि होती है और न सृष्ट कलात्मक सौन्दर्य का भावन

1 मिल्टन एच. बर्ड द्वारा रचित 'ए स्टडी इन एस्थेटिक्स', पृ 28 29

ही। फिर भी प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र की यह उपलब्धि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि सुन्दर-असुन्दर का निर्णय अथवा सौन्दर्य-भावन व्यक्ति की अपनी-अपनी प्रत्यर्थता की प्रणाली, नेत्र-रचना और शरीर-निर्माण पर निर्भर करता है। जीव विज्ञान भी इस स्थापना का समर्थन करता है। मानव क्या, मानवेतर प्राणियो पर भी यह बात चरितार्थ होती है। उदाहरण के लिए, क्यो कुछ जीवधारियो को प्रकाश सुन्दर लगता है और कुछ जीवधारियो को अन्धकार ? क्यो पागल पतगा दीपक की लौ के सौन्दर्य मे आकृष्ट होकर उस पर मर मिटता है, क्यो स्नेही चातक चाँदी की किरण-मजूषा चन्दा की ओर सदा उन्मुख रहता है और क्यो 'टर्गर प्रेसर से भुकने वाली पीताभ सूर्यमुखी दिनकर का आलोक वरण कर उसके पीछे फिदा रहती है—सन्ध्या के आते ही विरह मे नतग्रीव हो जाती है, किन्तु ठीक इसके विपरीत क्यो उलूक को प्रकाश का सौन्दर्य आकृष्ट नही करता और क्यो जोक को छाया ही प्रिय होती है ?[1] इसका उत्तर जीव विज्ञान के अनुसार शरीर-रचना तथा आवश्यकताओ की भिन्नता है। किरण सवेदना की दृष्टि से जीव प्राय दो प्रकार के होते हैं—'पॉजिटिवली हेलियोट्रॉपिक' और 'निगेटिवली हेलियोट्रॉपिक'।[2] प्रथम कोटि मे वे प्राणी आते है, जिन्हे प्रकाश अथवा सूर्य की किरणें सुन्दर लगती है, जैसे—पतगा, चातक इत्यादि और दूसरी कोटि मे वे प्राणी आते हैं, जिन्हे प्रकाश अथवा सूर्य की किरणें असुन्दर या विकर्षक लगती हैं जैसे—उल्लू, चाली इत्यादि। इसी भिन्नता के आधार पर इन प्राणिया की सौन्दर्य चेतना के अन्य आयाम और पक्ष भी निर्भर रहते है। साराश यह है कि प्राणी की सौन्दर्य चेतना का बहुत बडा अश उसकी शरीर-रचना और इन्द्रियो (सेन्स आर्गन्स) के प्रकार' से निर्मित तथा नियन्त्रित होता है।[3] इसी तरह मनुष्या मे भी नेत्र मस्तिष्क सम्बन्ध की विशेषता के कारण सौन्दर्य के प्रति उनकी प्रत्यर्थता मे पर्याप्त अन्तर आ जाता है। बात यह है कि मानव-मस्तिष्क के मुख्यत तीन भाग हैं—'सेरेब्रम', 'सरेब्रल' और 'ऑप्टिक थैलमस'। 'सेरेब्रल' और 'सेरेब्रम' के अन्तर्गत मस्तिष्क का वह अश आता है, जो अतीत और वशानुगत सस्कारो को सुरक्षित रखता है। इसलिए मस्तिष्क के इस अश का मनुष्य की सौन्दर्य-चेतना से कोई ऋजुसम्बन्ध नही है। किन्तु, मस्तिष्क का वह अश, जो 'ऑप्टिक थैलमस' कहलाता है, मनुष्य की सौन्दर्य-चेतना से निकट

1 महाकवि बिहारी के अनुसार इसका उत्तर है रुचि भेद—

समै समै सुदर सबै रूप कुरूप न कोय।
जाकी रुचि जति जितै, तिन तेनो सुन्दर होय॥

—बिहारी सतसई दोहा सख्या 722 साहित्य-सेवा-सदन, बनारस, षष्ठ सस्करण।

2 'हेलिया' ग्रीक शब्द है, जिसका अर्थ होता है सूर्य।

3. 'एन इण्ट्रोडक्शन टू बायलॉजी', ले हैटफील्ड, आक्सफोर्ड, 1948, पृ 15

सम्बन्ध रखता है। कारण, 'ऑप्टिक थैलमस' ही मस्तिष्क का वह अंश है, जो कुछ तन्तुओं को नेत्रों की ओर भेजता है, फलस्वरूप किसी वस्तु (आलम्बन अथवा उद्दीपन) के प्रत्यक्षीकरण के उपरान्त नेत्रों की अनुकूल अथवा प्रतिकूल प्रतिक्रियाओं को वह मस्तिष्क के निर्णय क्षेत्र तक पहुँचाता है। अतः जिस व्यक्ति का 'ऑप्टिक थैलमस' जितना ही सक्रिय, सजग और समर्थ होता है, उसकी सौन्दर्य-चेतना उतनी ही प्रखर होती है।

जीववैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह ध्यातव्य है कि मानवेतर प्राणी-जगत् में भी सौन्दर्य चेतना का क्रमशः विकास हो रहा है। सौन्दर्य-चेतना और प्रेम के विषय में जीव-विज्ञान यह मानता है कि सौन्दर्य और प्रेम सामाजिक संस्कार हैं, अतः ये केवल बहुकोषी (मल्टीसेलुलर) प्राणियों में पाये जाते हैं, क्योंकि एककोषी (युनिसेलुलर) प्राणियों में सौन्दर्य और प्रेम की आधारभूत भावना—सामाजिकता—ही नहीं रहती है। किन्तु, अब एककोषी प्राणियों में भी सामाजिकता की आकांक्षा के कारण बहुकोषी होने की प्रवृत्ति, अतः, सौन्दर्य प्रिय और प्रेमी होने की वृत्ति पायी जाती है। उदाहरणार्थ, हम एक जलीय घास—'वॉलवॉक्स'—को देख सकते हैं। यह 'वॉलवॉक्स' मूलतः एककोषी है, किन्तु अब शनैः-शनैः सामाजिक भावना के उदय के कारण यह लाखों-लाख की संख्या में बहुकोषी प्राणियों की तरह उपनिवेश बनाकर एक जगह रहता है, जिसे वनस्पतिशास्त्री 'वॉलवॉक्स कॉलोनी' कहते हैं। वह विकास 'मेटाबॉलिज्म' के अन्तर्गत सामाजिक प्रवृत्ति के उदय को प्रकट करता है, जिसकी अगली परिणति सौन्दर्य चेतना और प्रेम-भावना के विकास में होगी। अर्थात्, भविष्य में मानवेतर प्राणियों के बीच सौन्दर्य-चेतना का और भी विस्तार होगा, जिसके वैज्ञानिक अध्ययन से सौन्दर्यशास्त्र को कुछ नूतन आलोक मिलेगा।[1]

1 चार्ल्स डार्विन ने भी मानवेतर प्राणियों की मानसिक शक्ति के विवेचन क्रम में यह स्वीकार किया है कि मानवेतर प्राणियों में भी सौन्दर्य-चेतना रहती है। किन्तु डार्विन ने मानवेतर प्राणियों की सौन्दर्य चेतना के सम्बन्ध में जितनी बात कही हैं वे मुख्यतः यौन संवेदना पर निर्भर हैं। अतः हम इतना ही मान सकते हैं कि मानवेतर प्राणियों में भी इन्द्रियग्राह्य रूप अथवा ध्वनि के यौन अभिगमन की क्षमता रहती है, किन्तु मनुष्य ने सांस्कृतिकता एवं सामाजिकता से उद्भूत उन्नयन के द्वारा सौन्दर्य चेतना को जो अतीन्द्रिय और उन्मेष-पूर्ण धरातल दिया है, उसका मानवेतर प्राणियों में नितान्त अभाव है। इस तरह डार्विन ने सौन्दर्य चेतना को यौन संवेदना तक सीमित करते हुए ही मानवेतर प्राणि जगत्-सम्बन्धी अपनी मान्यता प्रस्तुत की है। अनेक पर्यवेक्षणों के आधार पर इन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि एक असंस्कृत मनुष्य की सौन्दर्य चेतना जिस धरातल की होगी, वैसी ही सौन्दर्य-चेतना प्रायः सभी मानवेतर प्राणियों में एक जैव संस्कार के रूप में विद्यमान रहती है।—'द डिसेण्ट ऑफ मैन', ले. चार्ल्स डार्विन, केगन एण्ड को., लन्दन, 1936 पृ 102 103।

किन्तु, सौन्दर्यशास्त्र का यह मनोवैज्ञानिक अथवा जीववैज्ञानिक दृष्टिकोण कला-चिन्तन के लिए बहुत उपयोगी नही सिद्ध हो सकता। कला चिन्तन के लिए सौन्दर्य के प्रति भारतीय दृष्टिकोण ही सर्वोत्तम प्रतीत होता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार सौन्दर्य और आनन्द सहगामी है। जहाँ सौन्दर्य है, वहाँ आनन्द अवश्य ही रहता है। इसलिए सौन्दर्य-भावना मे स्वाभाविक एकाग्रता रहती है। उसमे किसी प्रकार की मानसिक चचलता अथवा विघ्न नही रहता है। सम्भवत, इसी कारण *पचपगेश शास्त्री ने सौन्दर्यानुभूति को अभिनवगुप्त के शब्दो मे 'वीतविघ्ना प्रतीति'* कहा है।[1] सौन्दर्य की ऐसी प्रतीति मे सात प्रकार के विघ्न माने गये हैं—

1 प्रतिपत्तावयोग्यता सम्भावना विरह (अर्थ न समझ पाने की अयोग्यता)।
2 स्वगतत्वनियमेन देशकाल विशेषावश (देश और काल की आत्मगत सीमाएँ)।
3 परगतत्वनियमेन देशकाल विशेषावेश (देश और काल की वस्तुगत सीमाएँ)।
4 निज सुखादि विवशी भाव (अपने सुखादि भावो म ही ग्रस्त)।
5 प्रतीत्युपाय वैकल्य स्फुटत्वाबभाव (उपचित अनुभूति पैदा करने के लिए आवश्यक उद्दीपन का अभाव)।
6 अप्रधानता और 7 सशययोग।[2]

सचमुच 'वीतविघ्ना प्रतीति' ही उत्कृष्ट सौन्दर्यानुभूति हो सकती है। इसी वीतविघ्ना प्रतीति' को आचार्य **रामचन्द्र शुक्ल** ने 'अन्तस्सत्ता की तदाकार-परिणति' के रूप मे स्वीकार किया है। सौन्दर्यानुभूति का विवेचन करते हुए इन्होने लिखा है कि "कुछ रूप-रग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं, जो हमारे मन म आते ही थोडी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओ की भावना के रूप मे ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्त सत्ता की यही तदाकार-परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है।"

सौन्दर्यानुभूति के सम्बन्ध मे **कालिदास** ने भी (एफ डब्ल्यू **रकस्टल** की तरह) विकलता (उत्सुकता) का प्रश्न उठाया है। **रकस्टल** का कथन है कि सौन्दर्यानुभूति की अवस्था बाह्य प्रभावो के कारण आत्मा की विकल दशा' (एजिटेटेड स्टेट ऑव द सोल) होती है। इसी तरह **कालिदास** का भी विश्वास है कि सौन्दर्यानुभूति म सर्वदा—आलम्बन के प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रहने पर—

1 'फिलासफी आव एस्थेटिक प्लेज़र', ले पचपगेश शास्त्री, अनामलय यूनिवर्सिटी, 1940।
2 इन सात विघ्नो का विवेचन डॉ राकेश गुप्त ने 'साइकोलॉजिकल स्टडीज इन रस', अलीगढ प्रथम सस्करण मे और डॉ. के सी पाण्डेय ने 'कॉम्पेरेटिव एस्थेटिक्स' नामक ग्रन्थ मे भी किया है।

विकलता का अंश विद्यमान रहता है। उदाहरणार्थ, हम प्रथम स्थिति को इन पंक्तियों में देख सकते हैं—

> रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान
> पर्युत्सुकी भवति यत् सुखितोऽपि जन्तु ।
> —(अभिज्ञान शाकुन्तलम्, अंक 5)

और, दूसरी स्थिति को हम **'विक्रमोर्वशीयम्'** नाटक के अन्तर्गत पुरूरवा की इस उक्ति में ढूँढ सकते हैं—

> त्वया विना सोऽपि समुत्सुको भवेत
> सखीजनस्ते किमुतार्द्रसौहृद ।

इतना ही नहीं, कालिदास की एक और मान्यता पाश्चात्य वस्तुनिष्ठ सौन्दर्यशास्त्रियों से साम्य रखती है। वस्तुनिष्ठ सौन्दर्यशास्त्रियों का कहना है कि सौन्दर्य वस्तु में है, द्रष्टा के मन में नहीं। अत जो वस्तु सुन्दर है, वह सर्वत्र सुन्दर है। कालिदास ने भी इसे एकाधिक बार स्वीकार किया है कि सौन्दर्य (सुन्दर वस्तु) सर्वदा मनोज्ञ (रमणीय और सुन्दर) होता है,[1] उसे किसी अभिविन्यसन अथवा प्रसाधन की आवश्यकता नहीं होती। इसलिए इन्हें रूक्ष वल्कल में सिमटी कोमलांगी अच्छी लगती है और पिचपिच सँवार में लिपटी कमलिनी भी आकर्षक लगती है—

> इयमधिक मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी ।
> किमिवहि मधुराणा मडन नाकृतीनाम् ॥ (अभिज्ञान शाकुन्तलम्)

और

> यथाप्रसिद्धैर्मधुर शिरोरुहै जटाभिरप्येवमभूत्तदानन ।
> न षट्पदश्रेणिभिरेव पकज सशैवलासगमपि प्रकाशते ॥ (कुमारसम्भव)

1 हिन्दी के कुछ रीतिकालीन कवियों की भी यह धारणा रही है कि 'सुन्दर' की रमणीयता न वर्द्धमान निकटता से घटती है और न निरन्तर भोग से छीजती है, बल्कि सुन्दर वस्तु अपने अघट सौन्दर्य के कारण सौन्दर्य द्रष्टा के लिए हर क्षण नवीन होती जाती है। मुसकान की मिठाई खानेवाले मतिराम ने एक बाँकी अदा के साथ इस तथ्य को व्यक्त किया है—

> कुन्दन को रंग फीको लगै, झलकै अति अगनि चारु गोराई।
> आँखिन मे अलसानि, चितौन मे मजु बिलासनि की सरसाई॥
> को बिनु मोल बिकात नहीं, मतिराम लहै मुसकान मिठाई।
> ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निखरै सी निकाई॥

मतिराम ही नहीं, विरागी सुजान से छले गये घनानन्द की भी यही उक्ति है—

> रावरे रूप की रीति अनूप नयो नयो लागत ज्यों ज्यों निहारिये।
> त्यों इन आँखिन बानि अनोखी अघानि कहूँ नहिं आन तिहारिये॥

इसी तरह प्रयास करने पर भारतीय सौन्दर्य-चिन्तन में अनेक ऐसे स्थल मिल सकते हैं, जो पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की आधुनिकतम उपलब्धियों से आश्चर्यजनक साम्य रखते हो, कारण, भारतीय सौन्दर्य-चिन्तन की यह एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि उसमें प्राय सभी आधुनिक एव अत्याधुनिक विचारणाओ के बीज सुरक्षित हैं। उदाहरण के लिए, आधुनिक सौन्दर्य चिन्तन में अत्यधिक विचारित क्रोचे का नूतन अभिव्यजनावाद बुद्धघोष के कला सिद्धान्त स साम्य रखता है। बुद्धघोष ने बहुत पूर्व यह उद्भावना की थी कि चित्त का सहजज्ञान ही सौन्दर्य-विधान या *कला मे अभिव्यक्त होता है, बिम्ब, प्रतीक रग इत्यादि जैसी चीजें उस सहजज्ञान* के व्यक्तीकरण म केवल माध्यम का काम करती है। इस प्रकार की समग्र अभिव्यक्ति चित्त की स्वयम्भू क्रिया का वस्तुनिष्ठ प्रक्षेपण है। अत बुद्धघोष के अनुसार जैसा कि दासगुप्त का मन्तव्य है, सौन्दर्य विधान या कला बाह्य न होकर आन्तर है और उसका नित्य सम्बन्ध आन्तरिक सहजज्ञान की सृजनात्मक चेतना के साथ निर्भर है।[1] इतना ही नही, दासगुप्त का यह भी कहना है कि बुद्धघोष ही नहीं, हेमचन्द्र और भट्टतोत ने भी सहजज्ञान (क्रोचे का इण्ट्यूशन') को अत्यधिक महत्त्व दिया है तथा उसे शिव का तृतीय नेत्र माना है जिसके कारण कवि अतीत और वर्त्तमान के अलावा भविष्य को भी जानकर क्रान्तदर्शी कहलाता है।

इस प्रसग मे यह भी ध्यातव्य है कि देश और काल के आधार पर सौन्दर्य के मूल्य एव मान बदलते रहते है, अर्थात् कालकृत और देशकृत भेदो से सौन्दर्य-दृष्टि बदलती रहती है, जैसे, भारतीय दृष्टि के अनुसार सौन्दर्य सर्वथा और सर्वदा अन्तरग है। इसी भारतीय विशेषता को स्वामी विवेकानन्द ने एशियाव्यापी प्राच्य प्रवृत्ति कहा है। उदाहरण क लिए श्री हरिवशसिह शास्त्री ने शाकर अद्वैत सिद्धान्त के आधार पर सौन्दर्य की परिभाषा प्रस्तुत की है--"स्थूल या सूक्ष्म जगत् मे आत्मा की अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य है।" इस प्रसग मे इन्होने हीगेल के शिष्य विशर को अपना आदर्श माना है। इन्होने अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि "जब कभी हम री बुद्धि निष्काम होगी, तभी हम सौन्दर्य बोध होगा, क्योकि उस समय हमारी दृष्टि वस्तुओ के नाम-रूप पर, बाहरी बनावट पर नही पडती, प्रत्युत उस नाम-रूप के आधार पर, उस परब्रह्म पर पडती है, जिसमें ये सब नाम-रूप *कल्पित हैं एव जो हमारा अपना स्वरूप है।*' इतना ही नही, सौन्दर्य के 'अन्तरग' गुण को प्रधानता देने के कारण इन्होंने सौन्दर्यानुभूति और सौन्दर्याभिव्यक्ति का सम्बन्ध सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था स जोडा है। इनके अनुसार सम्प्रज्ञात *समाधि के अन्तर्गत सवितर्क योग, सविचार योग और आनन्दयोग की अवस्था में* सौन्दर्यानुभव होता है तथा सम्प्रज्ञात समाधि की अन्तिम अवस्था—अस्मिता योग—

1. दासगुप्त, फण्डामेण्टल्स ऑव इण्डियन आर्ट', पृ 93

मे सौन्दर्याभिव्यक्ति होती है। इस तरह शास्त्रीजी ने सौन्दर्यज आनन्द को निष्काम आनन्द सिद्ध करते हुए सौन्दर्य-बोध को ऋतम्भरा प्रज्ञा से सम्बन्धित माना है।[1] दूसरे, भारतीय कला मे सौन्दर्य को प्राय रहस्यमय माना गया है, जिसके सर्वोत्तम उदाहरण सन्त अथवा सूफी साहित्य और युगनद्ध मुद्रा की मैथुनी मूर्तियाँ हैं। इसलिए जेम्स कजिन्स ने उचित ही कहा है कि जहाँ हीगेल ने वैचारिक दृष्टि से ललितकलाओ को विश्व-जीवन की अनुभूति के लिए सम्पर्क-साधन (मीन्स ऑव पोलराइज़ेशन) कहा है, वहाँ भारतीय दृष्टि कभी-कभी योग साधना अथवा यौगिक चिन्तन को कला का लक्ष्य मान लेती है।[2] वस्तुत साधारणीकरण का मधुमती भूमिका से सम्बन्ध जोडना इसी दृष्टि का द्योतक है।

सौन्दर्य-विवेचन मे 'कुरूप' की चर्चा अत्यावश्यक है, क्योकि कला के 'कुरूप' मे भी सौन्दर्य रहता है।[3] पाश्चात्य सौन्दर्य-चिन्तन मे अरस्तू के काल से कुरूप के सम्बन्ध मे विमर्श होता रहा है और दिनानुदिन उसे अधिक व्यापकता प्रदान की

1 'सौन्दर्य विज्ञान', ल हरिवशसिंह शास्त्री, काशी विद्यापीठ 1936, क्रमश पृ सख्या 56, 118 122-123।

2 'द फिलासफी ऑव ब्यूटिफुल', ले जेम्स एच कज़िन्स, पृ 35।

3 कला मे एक ऐसी शक्ति रहती है, जिसके द्वारा वह सामान्य जगत् की तथाकथित कुरूप वस्तु को भी सुन्दर बना देती है। चित्रकला की दृष्टि से एक आसन्न-प्रसवा गदही का चित्र उतना ही महत्त्वपूर्ण और कलात्मक हो सकता है (बशर्ते चित्रकार की तूलिका का उसे वास्तविक पारस स्पर्श प्राप्त हुआ हो) जितना अम्बपाली या अरीको कोजिमा और मेरिना जुलोगा जैसी विश्व सुन्दरी का चित्र। कला के इस राज को स्पष्ट करने म मौलाना शिबली की ये पक्तियाँ सहायक सिद्ध हो सकती हैं—' मुहाकात का अस ी कमाल यह है कि असल के मुताबिक हो। यानी जिस चीज का बयान किया जाय, इस तरह किया जाय कि खुद वह भी मुजस्सम होकर सामने आ जाय। शायरी का असली मकसद तबीयत का इम्बेसात है। किसी चीज की असली तस्वीर खीचना खुद तबीयत मे इम्बेसात पैदा करता है (वह भी अच्छी है या बुरी है—इससे बहस नही) मसलन छिपकली एक बदसूरत जानवर है जिसको देखकर नफरत होती है, लेकिन अगर एक उस्ताद मुसव्विर छिपकली की ऐसी तस्वीर खींच दे कि बाल बराबर फर्क न हो तो उसको देखने से खामखाह लुत्फ आयेगा। इसकी यही वजह है कि नक्ल का असल के मुताबिक होना खुद एक मुअस्सर चीज है। अब अगर वे चीजें जिनकी मुहाकात मक्सूद है, खुद भी दिलावेज और लुत्फ अगेज हो, तो मुहाकात का असर बहुत बढ जायेगा।—शेरूलअजम, ले मौलाना शिबली नोमानी, मआरिफ प्रेस आजमगढ, 1923 जिल्द चहारुम, पृ 15 16। इस तरह स्पष्ट है कि सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से कुरूप भी सौन्दर्य का एक अग या प्रकार है। जब सामान्य लौकिक दृष्टि से घोषित कुरूप को कलाकार कला-जगत् मे प्रतिष्ठित कर सौन्दर्य का अग बना देता है, तब उसकी गणना, जैसाकि *A C Bradley* और S *Alexander* ने कहा है, 'difficult beauty' मे होने लगती है। द्रष्टव्य—

—S *Alexander*, Beauty and Other Forms of Value, 1933, p. 164.

जाती रही है। अरस्तू ने तो कुरूप मे हास्यास्पद की भी गिनती की है, जिसके उदाहरणस्वरूप उन्होंने 'कैरिकेचर' (विडम्बन) को प्रस्तुत किया है। कुरूप के सम्बन्ध मे उनकी मुख्य धारणा यह है कि अनुकरण के माध्यम से कला मे प्रवेश पाने के कारण वह कुरूप सुन्दर, अत, सुखद हो जाता है। किन्तु, लेसिंग ने कुरूप को *काव्य मे केवल 'कौमिक' या भयानक के प्रत्यक्षीकरण का साधन माना है। उसे* अरस्तू की यह स्थापना स्वीकार नही है कि दुखद (जिसका धर्म है कुरूप होना) भी अनुकरण के द्वारा सहृदय चित्त के लिए सुखद बन सकता है। इस सम्बन्ध मे हीगेल ने, अद्यतन, स्पष्ट बात कही है। इनके अनुसार कुरूप मे कुछ-न कुछ विकृति (डिस्टॉर्शन) अवश्य रहती है जैसे कुरूप-चर्चा म 'कैरिकेचर' का उदाहरण देते हुए इन्होने चरित्र-चित्रण की विकृति को निर्दिष्ट किया है। रोजेन्क्रा ने और भी स्पष्टता के साथ यह मन्तव्य व्यक्त किया है कि कुरूपता सौन्दर्य का भावात्मक निषेध (पॉजिटिव निगेशन) है।

मेरी दृष्टि मे सौन्दर्य के साथ कुरूपता का निरन्तर वैपरीत्य है। सौन्दर्य का विपरीतार्थक अथवा प्रतीप असौन्दर्य नही, बल्कि कुरूपता है। कुरूपता भी हमारी सौन्दर्य-चेतना से सम्बन्धित है। व्यपदेश निर्धारण की दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि कुरूपता उस वस्तु मे है, जो चाक्षुप श्रावण अथवा अन्य ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के उपरान्त आश्रय की बोध-वृत्ति या इन्द्रिया को अरुचिकर प्रतीत होती है। किन्तु यह अरुचिकरता भावदशा-सापेक्ष है और इस भाव दशा के परिवर्त्तन म देश, काल एव परिस्थिति सघ रूप मे अथवा पृथक् पृथक् भी सक्षम हैं। ससर्ग-सम्पर्क अथवा पूज्य भाव के आरोपण से कुरूप भी आकर्षक बन जाता है या उसकी अरुचिकरता घट जाती है। पुन विशिष्ट आन्तरिक गुण के कारण कुरूपवर्जना का भाव बदल जाता है। उदाहरण के लिए, स्वर लालित्य के कारण काली कोयल और पाण्डित्य के कारण अष्टावक्र स्मरणीय है। जो हो, कुरूप को कला म अवश्य स्थान मिलना चाहिए, क्योंकि पूर्णता अपूर्णता स श्रेयस्कर है, और, यदि कला कुरूपता के प्रति अडिग वर्जना का भ व रखेगी, तो उसकी पूर्णता अवश्यमेव विघटित होगी। दूसरी बात यह है कि सुन्दर और कुरूप एक-दूसरे के मूल्यो एव सीमाओ का निर्धारण करते हैं। शायद, इसीलिए वाल्मीकि ने राम के सौन्दर्य को अधिक प्रभविष्णु एव शूर्पणखा की कुरूपता को अधिक विकर्षक बनाने के लिए सौन्दर्य और कुरूपता का समानान्तर वर्णन किया है—

> *सुमुख दुर्मुखी राम वृत्तमध्य महोदरी।*
> विशालाक्ष विरूपाक्षी सुकेश ताम्रमूर्धजा ॥
> प्रीतिरूप विरूपा सा सुस्वर भैरवस्वरा।
> तरुण दारुण वृद्धा दक्षिण वामभाषिणी ॥ (वाल्मीकि रामायण)

साराश यह है कि कुरूपता के प्रति शिथिलता हमारी सौन्दर्य-चेतना के लिए

अशोभन है और कुरूपता के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया हमारी सौन्दर्य-चेतना के लिए शुभकर है।

सौन्दर्य-विवेचन में उदात्त की चर्चा भी अपेक्षित है।[1] उदात्त (सब्लाइम) वह सौन्दर्य है, जो आश्रय को पहले पराभूत और तदनन्तर आकर्षित करता है। जैसे, गरजते हुए सागर को देखकर तटस्थ व्यक्ति पहले भयकरता से आक्रान्त होकर या विस्मय भाव से हक्का-बक्का हो जाता है, किन्तु, तत्पश्चात् उसकी विशालता से अभिभूत होकर वह चित्ति-स्फीत हो जाता है। अत उदात्त-भावन मे पहले घात, तदुपरान्त आह्लादन है। इस पूर्वावस्था के कारण ही कुछ विचारक उदात्त और सुन्दर को सकोटिक नही मानते है। कभी-कभी कुरूप भी अपनी विशालता और लोकातिशयता के कारण उदात्त बन जाता है।[2] सुन्दर और उदात्त मे दूसरा अन्तर यह है कि सुन्दर जहाँ रुचि बोध से सम्बन्धित है, वहाँ उदात्त बुद्धि-सवेग (इमोशन ऑव इण्टेलिजेन्स) से। तीसरी बात यह है कि सुन्दर के लिए सर्वदा आकृति-विधान आवश्यक है, जबकि उदात्त के लिए आकृतिहीनता और विकृति समरूप श्रेयस्कर है। चौथा अन्तर यह है कि उदात्त सुन्दर की अपेक्षा अधिक आत्मनिष्ठ है, फलत. उसमे आश्रय पक्ष की दृष्टि से मानस-चाप (मेण्टल प्रेशर) अधिक है। कभी-कभी 'उदात्त' वस्तु-विशेष मे पूर्णता का ऐसा भीमकाय अथवा विराट् निदर्शन प्रस्तुत करता है कि उसके आस्वादन, चर्वण या ग्रहण मे आश्रय की इन्द्रियाँ असमर्थ सिद्ध होती हैं, और यदाकदा वह प्रकृति की शक्ति सत्ता का ऐसा विस्फोटक विभ्राट् उपस्थित करता है कि आश्रय की धारणा-शक्ति विखण्डित हो जाती है। इसलिए कुछ लोग उदात्त को 'सौन्दर्य का विस्तार' ('एक्सटेन्शन ऑव ब्यूटी') कहते हैं।

हीगेल के अनुसार उदात्त सौन्दर्य का दौवारिक है, जो प्रतीकात्मक कला-विभाग (सिम्बॉलिक आर्ट-फॉर्म) के अन्तर्गत आता है। जब 'असीम' दृश्य जगत् की वस्तु विशेष मे अपनी अभिव्यक्ति चाहता है, किन्तु चाहकर भी न अभिव्यक्त हो पाता है और न पुन प्रत्यक्षित, तब वह वृथा प्रयत्न वस्तु समेत उदात्त बन जाता है, अर्थात्, 'उदात्त' वस्तु-विशेष मे असीम की अपूर्ण अभिव्यक्ति है। उदात्त का दूसरा लक्षण यह है कि वह ससीम निस्सीम का बोधक होता है। प्रत्यक्षीकरण के उपरान्त उदात्त, एक ओर, मानव-हृदय पर अपनी असीमता का रोब गाँठता है

1 पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के इतिहास म उदात्त के विवेचन की दृष्टि से अठारहवी शताब्दी बहुत महत्त्वपूर्ण है। अठारहवी शताब्दी मे सौन्दर्य-चेतना के साथ उदात्त पर विचार करने-वाले चिन्तको की एक लम्बी शृखला मिलती है जिनकी मान्यताओ का आलोचनात्मक आकलन हिप्ले ने अपने प्रबन्ध मे कालानुक्रम स किया है।— *Walter John Hipple*, The Beautiful, The Sublime and the Picturesque in Eighteenth Century, British Aesthetic Theory, Carbondale, 1957.

2 उदाहरणार्थ, शिलर इसी मत के समर्थक थे।

और, दूसरी ओर, मानव चित्त को उसकी सकोची ससीमता का बोध देता है। किन्तु, उदात्त की विशेषता यह है कि इस ससीमता अथवा हीनता की अनुभूति के क्षणो मे भी मानव-चित्त पहले की अपेक्षा महानता के किंचित् ऊँचे धरातल पर पहुँच जाता है।

कुछ आत्मनिष्ठ विचारक उत्कृष्ट सवेग की सघवत अनुभूति को उदात्त कहते हैं। इस दृष्टि से उदात्त उन्मेषपूर्ण सवेग की चूडान्त घनीमूत अवस्था है। अत प्रकृति की विराटता और आध्यात्मिक शक्ति की पराव्याप्ति उदात्त की भावना के सर्वोत्तम उद्दीपन हैं।

कला के सभी निदर्शनो मे उदात्त का समावेश नही हो सकता। वही कला उदात्त का उचित अधिकरण बन सकती है, जिसमे पर्याप्त विस्तार या भावन के स्तम्भन की शक्ति विद्यमान हो, क्योकि उत्कृष्ट सवेग को उत्कृष्टता के परिपाक की प्राप्ति एव घनीभूत अवस्था को 'तर' से 'तम' तक ले जाने के लिए एक विलम्बित एव सुपुष्ट *काल-खण्ड की आवश्यकता होती है।* इसलिए कला के उदात्त मे नही, उदात्त कला मे 'मैग्निच्युड' की आत्यन्तिक आवश्यकता रहती है। इस दृष्टि से दृश्य कलाओ की अपेक्षा कालिक कलाओ (टाइम्स आर्ट्स)—जैसे, सगीत और काव्य—मे उदात्त का आधान सरल हुआ करता है।

'उदात्त' ललितकला और उपयोगी कला का विशिष्ट विभाजक गुण है। हम देख चुके हैं कि लालित्य और उपयोगिता के आधार पर ललितकला एव उपयोगी कला का दो टूक विभाजन तर्कसम्मत नही है, क्योकि उपयोगिता मे भी लालित्य रहता है और लालित्य की भी उपयोगिता होती है। किन्तु, हम उदात्त के आधार पर (यद्यपि इसकी सर्वत्र उपस्थिति नही रहती) ललितकला के अन्तर को अधिक स्पष्ट कर सकते है। उपयोगी कलाओ, विशेषकर औद्योगिक कलाओ मे उदात्त का समावेश या उसका आधार कभी नही हो सकता है। उपयोगी कला और औद्योगिक कला अन्य दृष्टियो से—पूर्णता, सघटन अथवा सचाई की दृष्टि स—ललितकलाओ के साथ 'सम' पर खडी हो सकती हैं, किन्तु उदात्त की दृष्टि से वे सर्वथा पगु हैं।

परिमाण अथवा आकृति-विस्तार से सम्बन्धित होने के कारण कुछ विचारक उदात्त के कई स्तर मानते हैं। जैसे, प्रो ब्रैडले ने 'द सब्लाइम'[1] शीर्षक निबन्ध मे परिमाण, मात्रा अथवा आकृति विस्तार के भेद से सौन्दर्य की पाँच अवस्थाओ को स्वीकार किया है और उदात्त को उनमे सर्वोत्तम माना है। वे पाँच अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—रजक (प्रेटी), लावण्यमय (ग्रेसफुल), सुन्दर (ब्यूटिफुल), कमाल

1 Oxford Lectures on Poetry by *A C Bradley*, Macmillan & Co., London, 1950

(ग्रैण्ड) और उदात्त (सब्लाइम)।[1] 'ललित लघु' उदात्त का पंक्तिबद्ध विपरीतान्त है, जो सुखद और रंजक हुआ करता है, किन्तु किसी उत्कृष्ट तथा गम्भीर भाव को जगाने में अक्षम रहता है। इस ललित लघु के भावन या चर्वण में इन्द्रियाँ सक्रिय रहती है। किन्तु इसके विपरीत 'उदात्त' इन्द्रियों से परे अर्थात् अतीन्द्रिय हुआ करता है। यह इतना महान् होता है कि इन्द्रियाँ इसे ग्रहण नहीं कर पातीं। इन्द्रिय-ग्राह्य न होने के कारण ही उदात्त क्षण स्थायी होता है, क्योंकि किसी भाव-दशा का ठहराव इन्द्रियों की सँजोने की शक्ति पर निर्भर रहा करता है। शेष अवस्थाएँ —लावण्यमय, सुन्दर और कमाल—इन्द्रियों के साथ ताल-मेल रखती हैं अतः इन्द्रियरंजक होती हैं। अर्थात्, इन अवस्थाओं में आश्रय की इन्द्रियों और आलम्बन के बीच पूर्ण रागात्मक निर्वाह रहता है।

कुछ विचारक कलाकार की शैली में भी उदात्त की विद्यमानता स्वीकार करते हैं। अर्थात्, असामान्य अभिव्यक्ति का कमाल या चमत्कार उदात्त का सृजन कर सकता है। जैसे, लोंजाइनस पाटवपूर्ण वाग्मिता में उदात्त की सम्भावना को मानते हैं। इनके अनुसार कलाकार की शैली उदात्त हो सकती है और उदात्त शैली के साक्षात्कार से आत्मा का उन्नयन तथा उत्तोलन हो सकता है।[2] अपनी इस मान्यता

1 'सब्लाइम' के लिए महिम सौन्दर्य, भव्य या भावोत्कर्ष का भी प्रयोग किया जाता है। आनन्दशंकर बापू भाई ध्रुव ने सब्लाइम' के लिए गीता का 'ऊर्जित' शब्द प्रयुक्त किया है। इन्होंने गुर्जर भाषा के कवि श्री अरदेशर फरामजी खबरदार के अभिनन्दन ग्रन्थ में 'सुन्दर और भव्य' शीर्षक एक लेख लिखा है जिसमें इन्होंने 'ऊर्जित' शब्द की चर्चा की है। इस लेख का हिन्दी भाषान्तर 'जागरण' पत्रिका के मधुसचय शीर्षक स्तम्भ में उपस्थित किया गया है जिसकी कुछ महत्त्वपूर्ण पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—'सुन्दर और भव्य" (sublime) को गीता में श्रीमत् और ऊर्जित शब्दों से व्यक्त किया गया है। श्रीमत् और ऊर्जित—यद्यपि ये दोनों एक-दूसरे से भिन्न ही रूप हैं, तथापि इनका समन्वय इनके अधिष्ठानभूत परमात्मा में होता है। परमात्मा की विभूति रूप कवि की प्रतिभा में भी ये सामान्याधिकरण्य प्राप्त करते हैं। हमारी द्वैत दृष्टि में ये दोनों भिन्न भिन्न रूप में भासित होते हैं। एक का तत्त्व समान, प्रमाणबद्ध और मनोहर होता है—दूसरे का विषम, विशाल और अप्रमेयतायुक्त होता है। एक का उदाहरण सुन्दर गुलाब का फूल और दूसरे का भव्य एवं विशाल वटवृक्ष। ' एक का उदाहरण सन्ध्या और दूसरे का नगाधिराज के ऊपर से गिरता हुआ गंगा का प्रपात। कलाशास्त्र का उदाहरण लें, तो एक का उदाहरण यशोधर श्रीकृष्ण और दूसरे का ऊर्जस्वी मुद्रा से नृत्य करनेवाले नटराज।—जागरण', (साहित्यिक पाक्षिक पत्र) वर्ष, अंक 1. 11 फरवरी, 1932, पुस्तक मन्दिर, काशी, पृ 21।

2 "When a passage is pregnant in suggestion, when it is hard, nay impossible, to distract the attention from it, and when it takes a strong and lasting hold on the memory, then we may be sure that we have lighted on the true sublime"—*Longinus*, On The Sublime, translated by *H L Havel*, Every Man's Library, No 901.

को स्थापित करते हुए इन्होंने उदात्त शैली के पाँच नियामक तत्त्वों को निर्दिष्ट किया है—1 चिन्तन की गरिमा, 2 आवेगों का स्फूर्त और उत्तेजित निर्वाह, 3 *वाक्यालंकारों (फिगर्स ऑव स्पीच) का सुष्ठु प्रयोग, 4* शब्द-चयन, सादृश्य-विधान एवं अलंकार-योजना तथा 5 स्थापत्य-कौशल का महिमामंडित प्रयोग। इन पाँच तत्त्वों में से प्रथम दो, लोंजाइनस के अनुसार, उदात्त के अन्तरंग तत्त्व हैं, शेष तीन बहिरंग। डॉ नगेन्द्र ने इन दो तत्त्वों के लिए 'उदात्त विचार और प्रेरणा-प्रसूत भव्य आवेग' का प्रयोग किया है और इन दो में भी आवेग की मुख्यता *को प्रतिपादित किया है। "भव्य आवेग से अभिप्राय ऐसे आवेग का है,* जिससे हमारी आत्मा जैसे अपने आप ही ऊपर उठकर गर्व से उच्चाकाश में विचरण करने लगती है तथा हर्ष और उल्लास से परिपूर्ण हो उठती है। इसी प्रकार का आवेग उदात्त की सृष्टि करता है। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी आवेग होते हैं, जो औदात्य से बहुत दूर हैं और जो निम्नतर कोटि के है, जैसे, दया, शोक, भय, आदि ...। इस प्रकार के भाव उदात्त की सृष्टि में सर्वथा असमर्थ ही नहीं वरन् बाधक भी होते हैं।"[1]

उदात्त की विचित्रता यह है कि वह विशाल होकर भी सूक्ष्म में समाहित हो *सकता है, अर्थात् उसकी भूमिकाएँ बहुवर्णी हैं। अत उसके कई प्रकार माने जाते* हैं, जैसे—सूक्ष्मोदात्त श्रेयोदात्त, परोदात्त, विस्मयोदात्त इत्यादि।[2]

इस प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि 'सौन्दर्यानुभूति की अवस्था' क्या है? आइ ए रिचर्ड्स ने 'प्रिंसिपुल्स ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज्म' में यह मत व्यक्त किया है कि मन की कोई ऐसी विशिष्ट दशा नहीं है, जिसे हम सौन्दर्यानुभूति की

1. काव्य में उदात्त तत्त्व—डॉ नगेन्द्र भूमिका भाग, पृ 10-11, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली 1958। हिन्दी के कुछ अन्य लेखकों ने भी लोंजाइनस के द्वारा निरूपित सब्लाइम पर छिटपुट विचार किया है। जैसे कन्हैयालाल सहल ने 'लांजीनस और भावोत्कर्ष' शीर्षक निबन्ध में लोंजाइनस की उदात्त सम्बन्धी स्थापनाओं का सार संक्षेप प्रस्तुत किया है और तुलनात्मक दृष्टि से यह संकेतित किया है कि लांजाइनस के आनन्दातिरेक तथा मम्मट के विगलित वेद्यान्तर में बहुत-कुछ साम्य दिखलायी पड़ता है। प्रो कन्हैयालाल सहल 'लांजिनस और भावोत्कर्ष शीर्षक निबन्ध साहित्य सन्देश आगरा अगस्त, 1950 पृ 49 50। यहाँ यह ध्यातव्य है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में रस विवेचन के प्रसंग में भी *'उदात्त शब्द का व्यवहार किया गया है। जैसे भोज ने शृंगारप्रकाश में उद्धत रस' के* प्रतिपक्ष में उदात्त रस का उपस्थापन किया है। भोज के शृंगारप्रकाश पर कार्य करने-वाले विद्वानों यथा डॉ राघवन और अभयकुमार गुह ने उदात्त शब्द पर रस विवेचन की दृष्टि से थोड़ा विचार किया है।
2. उदात्त के सैद्धान्तिक पक्ष पर रस दृष्टि से विचार के लिए द्रष्टव्य—'उदात्त सिद्धान्त और शिल्पन', ले जगदीश पाण्डेय, अवन्ती प्रकाशन, आरा, 1964 पृ 13 18।

अवस्था (एस्थेटिक स्टेट) के नाम से अभिहित कर सकते हैं।[1] वास्तविकता यह है कि मानव मन अत्यधिक सवेदनशील और सक्रिय है। उसके पास क्षण क्षण बदलनेवाली दशाओ और अनुभूतियो की एक सकुल शृंखला है। ये अनेक क्रिम की दशाएँ एव अनुभूतियाँ क्रमबद्ध या सुलझी हुई न होकर विशृंखल रहती हैं। इनके परिवर्तन का कारण स्थिति और परिस्थिति मे हेरफेर है। अर्थात् प्रश्न यह है कि देश, काल एव परिस्थिति के सघात से बदलनेवाली आश्रय की बहुवर्णी मनोदशाओ और अनुभूतियो के बीच सामान्य ढग म वह दशा या अनुभूति भी आ जाती है, जिसे हम सौन्दर्यानुभूति की अवस्था कहते है अथवा उसके कुछ विशिष्ट लक्षण होते है ? जीव विज्ञान के अनुसार हमारे ऐन्द्रिय ज्ञान और सवेदन मूलत दो प्रकार के है—'प्रोटोपैथिक' और 'एपिक्रिटिक'। ये दोनो त्वक्चेतना के साधन और आधार है। 'प्रोटोपैथिक' सवेदन जीव की प्राथमिक वृत्तियो से सम्बन्धित है और 'एपिक्रिटिक' सवेदन का सम्बन्ध उसकी चयनशील (डिस्क्रिमिनेटिंग) वृत्ति से है। इसलिए हेड और रिवर्स ने यह निष्कर्ष निकाला है कि हमारे चेतन जीवन का सम्बन्ध द्वितीय (एपिक्रिटिक) से है और उपचेतन का प्रथम (प्रोटोपैथिक) से। इस दृष्टिकोण से सोचने पर सौन्दर्यानुभूति का सम्बन्ध 'एपिक्रिटिक' सवेदन के ही साथ हो सकता है, क्योकि वह हमारे चयन और उन्नत सवेदन पर निर्भर करती है। किन्तु वही प्रश्न पुन सामने आता है—क्या इस कोटि मे भी सौन्दर्यानुभूति लक्षणविशिष्ट है ? इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देते हुए रिचर्ड्स ने लिखा है कि सौन्दर्यानुभूति अन्य अनुभूतियो के साथ गाढ सादृश्य रखती है। अन्तर है विकास की मात्रा मे। अर्थात किसी सामान्य अनुभूति का विकसित रूप ही सौन्दर्यानुभूति है, फलत उनम प्रकार भिन्नता नही है। उदाहरणार्थ, कविता पढने या सगीत सुनने के समय हम उससे भिन्न कदापि कोई काम नही करते, जो हम दर्जी दीर्घा मे जाते अथवा सुबह मे पोशाक पहनते समय करते हैं।

किन्तु दूसरी कोटि के विचारको का मत है कि सौन्दर्यानुभूति अन्य अनुभूतियो स विशिष्ट है, क्योकि सौन्दर्यानुभूति का आविर्भाव दो ही स्थितियो म होता है—सौन्दर्य-सृष्टि मे और सुन्दर के अवलोकन या प्रशसन मे। इस विशिष्टता के पक्ष मे **रोजर फ्राय** का एक तर्क यह है कि सौन्दर्यानुभूति सर्वथा और सर्वदा आनन्दोन्मुख होती है, जबकि अन्य अनुभूतिया का आनन्द स अविनाभाव सम्बन्ध नही है। वस्तुत यह स्वीकार्य सत्य है कि सौन्दर्यानुभूति का, अगर, आनन्द स वर्तमान सम्बन्ध न

1 साधारणत सौन्दर्यशास्त्रियों ने सौन्दर्यानुभूति की अवस्था मे इन चार प्रकार के उपादानो को स्वीकार किया है—ह्लादांश ज्ञानांश, सस्कारांश और व्यापारांश। कुछ सौन्दर्यशास्त्री ज्ञानांश को अधिक महत्त्व देते हैं तो कुछ ह्लादांश और सस्कारांश को। आधुनिक सौन्दर्यशास्त्री, अधिकतर, व्यापार और अभिव्यक्ति को महत्त्व देते हैं।

भी हो, तो आगमिष्यत् सम्बन्ध अवश्य ही रहता है। इसलिए आनन्दकुमार स्वामी ने सौन्दर्यानुभूति को 'प्रज्ञानघन आनन्दमयी' अवस्था के रूप में स्वीकार किया है।[1] पुनः सौन्दर्य से प्राप्त आनन्दानुभूति और अन्य सुखों में अन्तर है। अन्य सुखों में इन्द्रियानुभूति ही सीमा बन जाती है, किन्तु सौन्दर्यप्रदत्त आनन्दानुभूति में इन्द्रियाँ अधिकरण मात्र रहती हैं, उसकी सीमा नहीं बनती।[2] फिर भी हम, जैसा कि कश्मीरी शैव दर्शन और विशेषकर अभिनवगुप्त की मान्यता है, सौन्दर्यानन्द को ब्रह्मानन्द नहीं कह सकते, क्योंकि सौन्दर्यानन्द ब्रह्मानन्द से भिन्न कोटि का होता है। ब्रह्मानन्द की स्थिति में 'प्रज्ञा' स्थिर हो जाती है, जो स्थिरता किसी प्रकार के सृजन-कार्य में अक्षम सिद्ध होती है। अतः यदि सौन्दर्यानन्द ब्रह्मानन्द की कोटि का हो जाय, तो कलाकार प्रज्ञा की स्थिरता के कारण कला-सृजन में असमर्थ हो जायेगा। अर्थात्, सौन्दर्यानन्द ब्रह्मानन्द की तुलना में निम्न स्थिति का होता है।

इस विश्लेषण के उपरान्त यह मत उचित प्रतीत होता है कि सौन्दर्यानुभूति कुछ अर्थों में विशिष्ट होती है। एक तो सौन्दर्यानुभूति की अवस्था भावक के घन संवेग (कैथेक्सिस)[3] की दशा होती है। दूसरे सौन्दर्यानुभूति में चमत्कार (संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रयुक्त अर्थ में) की अनिवार्य उपस्थिति रहती है। तीसरे, सौन्दर्यानुभूति की उपपन्न प्रक्रिया के विधायक तत्त्व अनेक, किन्तु क्रमबद्ध होते हैं। जैसे, वस्तु-प्रत्यक्ष, उसका मानस चित्रांकन, इन दोनों का एक विधान में ग्रथन, इस समीकृत रूप के प्रति आश्रय के मन का प्रतिसंवेदन और सौन्दर्यास्वादन की लब्धि। वस्तुतः, सौन्दर्यानुभूति और उसकी अभिव्यक्ति दोनों की प्रक्रियाएँ बहुत उलझी हुई हैं।[4] भारतीय विचारकों में अभिनवगुप्त ने सौन्दर्यानुभूति को सार्वभौम माना है। इनके अनुसार सौन्दर्यानुभूति देश, काल और कारण-कार्य की सारिणी से परे है, अतः सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में भावक दैनन्दिन जीवन की सांसारिकता से कुछ समय के लिए ऊपर उठ जाता है। अभिनवगुप्त ने इस बात पर एकाधिक बार बल दिया है कि सौन्दर्यानुभूति की अवस्था में मनुष्य कारण कार्य-नियम के द्वारा

1. 'द ट्रान्सफॉर्मेशन ऑव नेचर इन आर्ट', ले॰ आनन्द के॰ कुमारस्वामी, डोवर पब्लिकेशन्स, न्यूयार्क, 1956, पृष्ठ 51।
2. *George Santayana*, The Sense of Beauty, Dover Publications, New York, p 36. इसलिए सन्तायना ने सौन्दर्य का सम्बन्ध 'रीम ऑव इसेंस' से माना है और उसे एक 'इंट्रिंजिक वैल्यू' के रूप में स्वीकार किया है।—*Irving Singer*, Santayana's Aesthetics: A Critical Introduction, Cambridge, 1957, pp 69-74.
3. 'एक्यूमुलेशन ऑव मेण्टल एनर्जी आन सम पर्टिकुलर आइडिया, मेमोरी ऑर लाइन ऑव थाट ऑर एक्शन'—ए डिक्शनरी ऑव साइकालॉजी, जेम्स ड्रेवर, पेंग्विन बुक्स, 1956, पृष्ठ 34।
4. 'द इण्डियन कॉन्सेप्ट ऑव द ब्यूटीफुल', ले॰ रामस्वामी शास्त्री, पृष्ठ 5।

संचालित संसार से पृथक् हो जाता है। यह पार्थक्य जितना ही सशक्त होता है, सौन्दर्यानुभूति उतनी ही विशिष्ट होती है। इस दृष्टि से अभिनवगुप्त भट्ट लोल्लट और शकुक से दूर तथा भट्टनायक के निकट पड़ते हैं, *क्योंकि भट्टनायक की तरह ही* अभिनवगुप्त का दृष्टिकोण है कि सौन्दर्यानुभूति (जिसे भारतीय काव्यशास्त्र में प्राय रसानुभूति कहा जाता है) व्यक्ति की वह नन्दतिक चेतना (एस्थेटिक कांशसनेस) है, जो बाह्य विघ्नों, घातों अथवा प्रभावों से मुक्त रहती है। इस नन्दतिक चेतना का कोई बाह्य उद्देश्य भी नहीं होता है। यह मनुष्य की प्रयोजनहीन दशा है।[1]

इस विश्लेषण के उपरान्त भी सौन्दर्यानुभूति को समझने के लिए कलानुभूति की परख आवश्यक है। प्रथमत कलानुभूति एक ऐसी सुखद अनुभूति है, जो सत्य-मिथ्या के विधि-निषेधों से किंचित् ऊपर है। प्रवृत्ति की दृष्टि से यह अनुभूति चयनशील होती है, क्योंकि इसका सम्बन्ध आलम्बन के सम्पूर्ण परिसर से न होकर उसके संवेद्य अंश तक सीमित रहता है। अत कलानुभूति वस्तु-विशेष के संवेद्य अंश के चयन पर जीवित रहती है और सुखद, अत , रसात्मक होती है। भारतीय दृष्टि से भी *कला का आशु अथवा समीपी मूल्य विशिष्ट सुख (आनन्द) ही माना गया है।*

अभिज्ञान की दृष्टि से निर्वैयक्तिकता या अभ्युदय कलानुभूति का सर्वोपरि लक्षण है। सामान्य अनुभूतियों में मनुष्य अपने व्यक्तित्व और वैयक्तिकता की परिधि से आबद्ध रहता है, किन्तु कलानुभूति के क्षणों में वह इन सीमाओं से ऊपर उठ जाता है। अत कलानुभूति एक विशिष्ट संवित् है, जो भावक में सत्वोद्रेक पैदा करती है।

काल की दृष्टि से कलानुभूति क्षणिक होती है और उसका सातत्य उद्दीपन-सापेक्ष होता है। अधिक सुस्थ कथन यह होगा कि कलानुभूति की अवधि विभावों की विभावनशील उपस्थिति के ठहराव पर निर्भर करती है।

1 किन्तु ऐसा कहकर भी अभिनवगुप्त ने सौन्दर्यानुभूति को जीवन विलक्षण नहीं माना है। इसलिए अभिनवगुप्त की उक्त मान्यता पर टिप्पणी देते हुए ग्नोली ने लिखा है—

"In aesthetic experience however, the feelings and facts of every-day life even if they are transfigured, are always present In respect of its proper and irreducible character therefore, which distinguishes it from any form of ordinary consciousness, aesthetic experience is not of a discursive order On the other hand as regards its content—which is nothing but ordinary life purified and freed from every individual relationship —aesthetic consciousness is no different from any other form of discursive consciousness Art is not absence of life every element of life appears in aesthetic experience—but it is life itself, pacified and detached from all passions"

—The Aesthetic Experience According to Abhinav Gupta by *Raniero Gnoli*, Series Orientale Roma, XI, 1956, *Introduction*, pp XXIV XXV.

पुन निर्वैयक्तिकता से सम्पृक्त होने के कारण कलानुभूति स्वनिष्ठ और स्वय-साध्य होती है तथा चरम मूल्य रखती है।[1] साथ ही निर्वैयक्तिक और चरम होने होने से कलानुभूति मे यथार्थ के साथ आदर्श का अल्पाधिक समावेश अवश्य रहता है। इसीलिए कला सत्य-मिथ्या या यथार्थ-आदर्श की धूप-छाँही मे प्राय निर्विघ्न रहती है।

दूसरी बात यह है कि कलानुभूति की दो मुख्य किस्में हैं—उपज्ञात और प्रेरित। उपज्ञात कलानुभूति का सम्बन्ध कारयित्री प्रतिभा से, अत, सहृदय से है। प्रथम कला-सृष्टि के क्षणो की अनुभूति है और द्वितीय कला-दर्शन के क्षणो की। कलानुभूति ही विकास और उपचिति की मात्रा के अनुसार हृदय-सवाद, तन्मयीभवन् योग्यता और रसानुभव की अवस्थाओ मे बदलती रहती है। दूसरे प्रकार की कलानुभूति भोगीकरण-प्रधान होती है, जबकि उपज्ञात कलानुभूति मे भोग स अधिक महत्त्व इन तीन कार्यों का रहता है—अनुभूति का निबिडीकरण अनुभूति का मार्जन और अनुभूति की व्याख्या।

कलानुभूति के और दो प्रकार स्पष्ट हैं—सहज और सकुल। शैशवावस्था और किशोर वय की कलानुभूति अथवा प्रौढ व्यक्ति की भी ('फिक्सेशन' से उद्भूत) शिशु अथवा कैशोर कलानुभूति 'सहज' होती है। इसके विपरीत जो व्यक्ति जितना ही परिपक्व-बुद्धि और आवेष्टनो के प्रति सजग होता है, उसकी कला-नुभूति उतनी ही 'सकुल' होती है।

प्रस्तुत अध्याय के सम्पूर्ण विवेचन का निष्कर्ष सक्षेप म इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है—

(क) सौन्दर्य काव्य एव अन्य कलाओ का अपरिहार्य (साथ ही प्रधान) तत्त्व है।

(ख) सौन्दर्य-सृजन और सौन्दर्य भावन म स्रष्टा और सहृदय की स्वाद रुचि का सापेक्षिक महत्त्व है, क्योकि स्रष्टा (कलाकार) या सहृदय की स्वाद रुचि उसके आसग, परिवेश और अभ्यास पर निर्भर करती है।

(ग) कुछ विचारक सौन्दर्य को वस्तुनिष्ठ और कुछ विचारक सौन्दर्य को आत्मनिष्ठ कहते हैं। किन्तु इसे निर्विवाद मान लेना चाहिए कि सौन्दर्य-बोध का सम्बन्ध अशत ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से अवश्य है, साथ ही, सौन्दर्य के ग्रहण मे अन्त करण का योग अपेक्षित है।

(घ) सौन्दर्य चेतना का बहुत ही ऋजु सम्बन्ध हमारे भावात्मक सवेगा के साथ है।

(च) प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र मे विवेचित सौन्दर्य के साथ काव्य एव अन्य

1 'आर्ट एक्सपिरियेन्स', ले प्रो एम हिरियन्ना मैसूर काव्यालय पब्लिशर्स, पृष्ठ 27।

ललितकलाओं का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है।

(छ) प्राणियों की सौन्दर्य-चेतना कुछ दूर तक उनकी शरीर-रचना और इन्द्रियों के 'प्रकार' से नियन्त्रित रहती है।

(ज) कला-चिन्तन की दृष्टि से सौन्दर्य के प्रति भारतीय दृष्टिकोण ही सर्वोत्तम प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें आध्यात्मिक वृत्ति, आन्तरिकता और प्रकृति-प्रेम को प्रचुर महत्त्व दिया गया है।

(ट) 'उदात्त सौन्दर्य का चरम रूप है।

(ठ) सौन्दर्यानुभूति का आनन्द से अनिवार्य सम्बन्ध है।

(ड) सौन्दर्यानुभूति जब सृजन की ओर सक्रिय होती है, तब वह कलानुभूति बन जाती है।

कल्पना

कल्पना

ललित कला के प्रमुख तत्वा म रचना की दृष्टि से कल्पना का सर्वोपरि स्थान है। कल्पना ही वह तत्त्व है, जिससे कलाकार को नूतन सृजन और अभिनव रूप-व्यापार-विधान की शक्ति प्राप्त होती है। सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि कल्पना कलाकार की सृजन-शक्ति है। व्युत्पत्ति (√क्लृप्+अन+आ) की दृष्टि स भी कल्पना का शाब्दिक अर्थ 'सृष्टि करना' ही है। 'इमेज' स बना 'इमाजिनेशन' शब्द अग्रेजी मे इसी कल्पना का पर्याय है। नदाल्स स्टैण्डर्ड डिक्शनरी मे 'इमाजिनेशन' की अच्छी परिभाषा की गयी है।[1] किन्तु, इसका अन्तिम अश 'एन अनसॉलिड और फैन्सीफुल ओपिनियन' अपने प्रारम्भिक अश 'द स्ट्रिक्टली पोयेटिक ऑर क्रियेटिव फैकल्टी' का विरोधी है। अत इस अर्थापन मे स्वतोव्याघात दोष है। इस गडबडी का एक सबल कारण यह है कि 'इमाजिनेशन' शब्द के प्राय दो अर्थ प्रचलित हैं। लित्रे (Littre) ने इन दो अर्थों को इस प्रकार स्पष्ट किया है—1 "ए फैकल्टी दैट वी हैव ऑव रिकॉलिंग विविड्ली, एण्ड ऑव सीइंग, सो टु स्पीक, आब्जेक्ट्स दैट आर नो लौंगर बिफोर आवर आइज।" 2 "पर्टिकुलरली इन लिट्रेचर एण्ड द फाइन आर्ट्स, द फैकल्टी ऑव इन्वेण्टिंग, ऑव कन्सीविंग, ज्वायण्ड टु द टेलेण्ट ऑव रेण्डरिंग कन्सेप्शन्स इन ए लाइवली मैनर।" इस दूसरे अर्थ मे प्रयुक्त कल्पना को लित्रे ने 'क्रियेटिव इमाजिनेशन' कहा है।[2] अन्य विचारको ने भी कल्पना के दो अर्थों को स्वीकार किया है। एक अर्थ मे कल्पना वस्तुसन्निकर्ष के सामान्य प्रभावो को सुरक्षित रखती है और दूसरे अर्थ मे कल्पना वस्तु-सन्निकर्ष के मानसिक प्रभावो

1 "द स्ट्रिक्टली पोयेटिक ऑर क्रियेटिव फैकल्टी ऐज एक्जिबिटेड इन द विविड कन्सेप्शन्स एण्ड कॉम्बिनेशन्स, मोर स्पेशली ऑव द फाइन आर्ट्स, इमेज इन द माइण्ड, आइडिया, कण्ट्राइवेन्स ऑर डिवाइस, एन अनसॉलिड ऑर फैन्सीफुल ओपिनियन।"

2 *De E Littre*, Par A Beaujean, Dictionnaire De La Langue Francaise, Librairie Hachette Et. C. Paris, 1918, p 571.

से निर्मित बिम्बों को सगृहीत कर उन्हें सहस्रों प्रकार के सयोजन प्रदान करती है। इस दूसरे अर्थ की कल्पना ही कला-वरेण्य होती है। वेब्स्टर ने भी कल्पना का द्विविध अर्थापन किया है। इनके अनुसार कल्पना का एक अर्थ यह है कि कल्पना एक चित्रविधायिनी शक्ति है। इस कल्पना-शक्ति के द्वारा व्यक्ति पूर्वप्रत्यक्षित वस्तुओं अथवा पूर्वानुभूत प्रत्ययों या भाव-स्थितियों का पुनर्भावन करता है। दूसरे अर्थ मे कल्पना एक पुनरुत्पादक या पुन प्रत्यक्षाधायक शक्ति है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपने अनुभव अथवा अनुमान स प्राप्त सामग्रियों का नवीन सयोजन, क्रम या रूप विधान प्रस्तुत करता है। इसी सकुल कल्पना को, सामान्यत कला-आलोचना म मूर्तविधायिनी शक्ति या सृजनात्मक शक्ति ('प्लास्टिक ऑर क्रियेटिव पावर') कहते हैं।[1] इस दूसरे अर्थ के आधार पर हम कह सकते हैं कि कल्पना एक ऐसी मानसिक शक्ति है, जिसके द्वारा हम अप्रत्यक्ष वस्तुओं के बिम्बों को प्रत्यक्ष करते है और इन बिम्बों को सयोजित, परिवर्तित अथवा परिवर्द्धित कर एक कलात्मक रूप प्रदान करते है। अत कला क अन्तर्गत आलम्बन-विधान, उद्दीपन-योजना और व्यापार विधान मे इस कल्पना-शक्ति का प्रचुर महत्त्व है। इस तरह कला-सृष्टि म कल्पना के तीन विशिष्ट कार्य है—अप्रत्यक्ष वस्तुओं क बिम्बों का मानसिक पुनराह्वान, 2 इन बिम्बों का पुन प्रत्यक्ष, और 3 इन बिम्बों के समीकरण से कला-सृष्टि म योगदान।

उक्त विवेचन के उपरान्त भी कल्पना की परिभाषा, प्रक्रिया अथवा स्वरूप के विषय मे कोई एक दृष्टिकोण सर्वथा पूर्ण नहीं प्रतीत होता है। स्पीयरमैन ने भी सृजनक्षम मन शक्ति अर्थात् कल्पना के समुचित विश्लेषण के लिए अनेक प्रचलित सिद्धान्तों—जैसे बिम्ब-सिद्धान्त, सयोजन-सिद्धान्त, 'गेस्टाल्ट' सिद्धान्त तथा मनोविश्लेषण-सिद्धान्त—का परीक्षण किया है और निष्कर्ष रूप मे यह घोषित किया है कि ये सभी सिद्धान्त सृजनक्षम मन शक्ति अर्थात् कल्पना के राज को स्पष्ट करने मे सर्वथा असमर्थ है।[2]

आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र, मनोविज्ञान और जीवविज्ञान के अध्येताओं ने कल्पना पर विविध दृष्टि से चिन्तन-मनन किया है। यद्यपि ज्ञान की इन सभी शाखाओं के समवेत अध्ययन से कल्पना पर कुछ नयी रोशनी पड़ी है तथा उसके कई इत पूर्व अनुद्घाटित आयाम हमारे सामने प्रकट हुए है, तथापि मनोविज्ञान अथवा जीव-विज्ञान की 'कल्पना' हमारी विवेच्य 'कल्पना' से भिन्न है। अत विवेच्य कल्पना,

1 *Webster's* New World Dictionary of the American Language, College Edition, The World Publishing Company, Cleveland and New York, 1958, p 725

2. क्रियेटिव माइण्ड, ले. सी. स्पीयरमैन, निस्बेट एण्ड को., 1930, अध्याय 2, पृष्ठ 6-12।

अर्थात्, सौन्दर्यशास्त्र की कल्पना को स्पष्ट करने के लिए हम दोष दो विषयों की कल्पनाओं पर भी चलदृष्टि से विचार करेंगे।

मनोविज्ञान की कल्पना कला-साहित्य की कल्पना से भिन्न है। मनोविज्ञान की कल्पना में पात्र, स्थान, और आसंग और गुण-निबन्धन का चरम महत्त्व रहता है। जैसे, पर्वत के आसंग से स्वर्ण-लुब्ध होने के बाद स्वर्ण-पर्वत अथवा 'एल्डोरेडो' की कल्पना कर लेना मनोविज्ञान की विवेच्य कल्पना है। इस तरह मनोवैज्ञानिकों के अनुसार कल्पना के मुख्य भेद इस प्रकार हैं—दृष्टि-कल्पना, ध्वनि-कल्पना, स्पर्श-कल्पना, घ्राण-कल्पना, क्रिया-कल्पना और रस-कल्पना।[1]

दृष्टि-कल्पना का सबसे निकट सम्बन्ध स्मृति के साथ है। इस कल्पना में प्रत्यभिज्ञान की प्रचुर क्षमता होती है। कला का वर्ण-बोध, रूप परिज्ञान और मूर्त्त-विधान बहुत अंशों में इसी कल्पना पर निर्भर रहते हैं। इसी प्रकार ध्वनि-कल्पना श्रुत स्वर-लहरी को आनुपूर्वी रूप में दोहराने में समर्थ होती है। इसमें एक प्रकार की संरक्षण-शक्ति रहती है। संगीतकला में इस कल्पना से पुष्कल सहायता ली जाती है। यों तो काव्य-कला के ध्वनि प्रतीक भी इसी कल्पना के उपजीवी होते हैं। स्पर्श-कल्पना के सहारे स्पार्शिक बिम्बों का विधान सरल हो जाता है। अधिक मूर्त्त आधारवाली कलाओं के कलाकार इस कल्पना से उपादानों की काट-छाँट और उनके अभिज्ञान में अधिक काम लेते हैं। इसी तरह क्रिया-कल्पना कला के उन निदर्शनों में प्रचुर महत्त्व रखती है, जिनमें स्मृति अथवा संस्मरण के सहारे बिम्ब-विधान प्रस्तुत किया जाता है। साराश यह है कि अतीत से सम्बन्धित कलात्मक सन्दर्भ क्रिया-कल्पना से सहायता लेते हैं, क्योंकि इनमें आश्रय और आलम्बन के पारस्परिक व्यवहार, क्रिया और प्रतिक्रिया को स्मृति के सहारे दोहराया जाता है। इसलिए क्रिया-कल्पना पर निर्भर बिम्ब-विधान प्रायः गतिशील होते हैं। उपर्युक्त छह कल्पनाओं में घ्राण-कल्पना का भी कम महत्त्व नहीं है। कट्टर प्रतीकवादियों ने कला में जिस 'पर्फ्यूम' को आवश्यक-सा माना, वह गन्ध बोध इसी कल्पना पर निर्भर है। हमारे संस्कृत कवियों की भी घ्राण-कल्पना बहुत तीव्र थी। हल के नासे से सद्यः कर्षित भूमि की सोंधी गन्ध और 'आपाढसिक्त क्षितिवाष्प गन्ध' को वे कला

1 मनोविज्ञान की दृष्टि से कल्पना पर विचार करनेवाले चिंतकों में सार्त्र का नाम उल्लेखनीय महत्त्व का अधिकारी है। सार्त्र ने अपने विवेच्य विषय को चार खण्डों में विभाजित कर 'इमेज', 'पोर्ट्रेट', 'साइन', 'सिम्बल' इत्यादि पर गम्भीर विमर्श करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि कल्पना और चैतन्य या बोध में अविनाभाव सम्बन्ध है। *चैतन्य या* बोध के बिना कल्पना का आविर्भाव नहीं हो सकता और कल्पना के बिना चैतन्य या बोध की स्थिति ही सम्भव नहीं हो सकती। अतः जहाँ चैतन्य होगा, वहाँ कल्पना अवश्य रहेगी और जहाँ कल्पना होगी, वहाँ चैतन्य की पूर्वस्थिति अनिवार्य है।—*Sartre*, The Psychology of Imagination, London, p. 211.

मे लाना न भूल सके थे। इसी प्रकार रस-कल्पना से भी कलाकार अप्रस्तुत योजना मे गुणमूलक साम्य उपस्थित करने के लिए भोग्य वस्तुओ के स्वाद-बोध से काम लेता है। इन्द्रिय-बोध पर निर्भर इन कल्पना प्रकारो के अलावा मनोविज्ञान सृजनात्मक पक्ष की दृष्टि से कल्पना के मुख्य तीन भेद मानता है—निष्क्रिय तथा सक्रिय कल्पना, धारणात्मक तथा रचनात्मक कल्पना और बौद्धिक, व्यावहारिक तथा सौन्दर्यपरक कल्पना। इन सभी प्रकार की कल्पनाओ मे ये पाँच गुण मात्रा भेद से उपस्थित रहते हैं—सार-ग्रहण, समाहार, सग्रह, स्मरण तथा समजस सयोजन।

मनोवैज्ञानिको का कहना है कि भिन्न भिन्न अवसरो पर कल्पना की क्रियाएँ या उपक्रियाएँ परिवर्तित होती रहती हैं, इसलिए कल्पना का स्वरूप बहुत सकुल होता है। मनोविज्ञान की दृष्टि मे कल्पना की प्रमुख उपक्रियाएँ इस प्रकार हैं—विस्तार, लघिमा, परस्थापन, सयोगीकरण और पृथक्करण। हम जहाँ कल्पना मे किसी वस्तु को उसकी वास्तविकता से अधिक विस्तार देते हैं वहाँ विस्तार की क्रिया मिलती है। जैसे—रामकाव्य मे सुरसा राक्षसी का मुख विस्तार या कुम्भकर्ण की योजनविनिन्दक मूँछो की लम्बाई इस विस्तार के उदाहरण है। आधुनिक काव्य मे भी अश्रु सागर, रक्त-सरिता या किसी की आँखो के आकाश मे कवि के अनजान खग का खो जाना, इत्यादि जैसी उक्तियो मे हमे कल्पना के विस्तार का ही कमाल मिलता है। अत हम कह सकते हैं कि कला सृजन के क्षेत्र मे कल्पना की इस विस्तार शक्ति से कलाकार को अतिशयगर्भ अप्रस्तुत-योजना उपस्थित करने मे सहायता मिलती है। ठीक इसके विपरीत लघिमा[1] की उपक्रिया मे कल्पित वस्तु को खूब घटाकर उपस्थित करने से विगत अनुभूति को नया रूप मिल जाता है। इस प्रकार की कल्पना दूर की कौडी लाने अथवा ऊहात्मक उक्तियो को प्रस्तुत करने मे बहुत सहायक होती है। 'घटप्रतिभटस्तनी' नायिकाओ की भिड सी कमर या मुष्टिमेय कटि के वर्णन मे कवियो ने प्राय इसी लघिमा का सहारा लिया है। बिहारी के कुछ दोहे तो इस कल्पना का पार्यन्तिक उदाहरण प्रस्तुत करते है—

1 *लघिमा और महिमा (विस्तार) कल्पना की दो प्रकृष्ट शक्तियाँ हैं।* इन्हे हम कल्पना की आकुचन शक्ति और प्रसारिका शक्ति भी कह सकते हैं। कभी कलाकार छोटे पदार्थ को भी अपनी कल्पना से दिगन्त विस्तार में व्याप्त चित्रित कर देता है और कभी महान् वस्तु को भी सूच्यग्र पर स्थित बना देता है। अत कलाकार की कल्पना में एक प्रकार से 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' के तत्त्व विराजमान हैं। शायद, इसीलिए प्राचीनो ने ब्रह्म को कवि और कवि को ब्रह्म कहने की उदारता दिखलायी थी। वस्तुत मनुष्य के पास कल्पना के अलावा कोई दूसरी शक्ति नही है, जिसमे उपचयापचय' की इतनी बडी क्षमता हो।

करी विरह ऐसी तऊ, गैल न छाडत नीचु।
दीने हू चसमा चखनि, चाहे लहै न मीचु।।[1]
अथवा
लगी अनलगी सी जु विधि, करी खरी कटि छीन।
किये मनो वाही कसरि कुच नितम्ब अति पीन।।[2]

तदनन्तर, परस्थापन (सब्स्टीच्यूशन) की उपक्रिया से गुजरनेवाली कल्पना मे प्राप्त अनुभूतियो अथवा उनके आलम्बनो मे गुण-विपर्यय किया जाता है या उन पर किसी नवीन धर्म का आरोप किया जाता है। कल्पना की इस उपक्रिया से अधिकतर रूपको की योजना की जाती है। कमलनयन, चन्द्रमुख, निर्झरवेश इत्यादि जैसी कल्पनाओ मे यही परस्थापन विद्यमान रहता है। सयोगीकरण-प्रधान कल्पनाओं के प्रयोग मे कलाकृति मे औत्सुक्य, विस्मय और औदात्य जगाने की शक्ति आती है। इस कल्पना की प्रचुरता हमे विशेषकर मूर्तिकला (मुख्यत देवताओ की कल्पित मूर्त्तियों) मे मिलती है, जहाँ विविध प्रकार की विशेषताओं, शक्तियों एव शारीरिक अवयवो को एक साथ मिला दिया जाता है। नरसिंह, नागकन्या, अर्द्धनारीश्वर, टायरेसिया, स्फिक्स, इत्यादि की कल्पना मे यह सयोगीकरण की उपक्रिया ही विद्यमान है। ठीक इस उपक्रिया के विपरीत कल्पना मे पृथक्करण की भी प्रवृत्ति पायी जाती है, जिसके अनुसार अनेक विगत अनुभूतियो अथवा उनके आलम्बनो को अनेक भागो मे बाँटकर कुछ को विलुप्त कर दिया जाता है और कुछ भागो मे नवीन विशिष्ट गुणो का समावेश कर दिया जाता है। इस प्रकार की कल्पना का प्रयोग पौराणिक कथाओ अथवा तिलस्मी और ऐयारी की कथाओ म अधिक किया जाता है। कबन्ध, बर्बरीक या टैंटेशिया की कल्पना को हम इसी कोटि मे गिन सकते हैं।

कुछ मनोवैज्ञानिको ने कल्पना का भेद-निरूपण करते समय कल्पना के दो प्रमुख प्रकारो—पुनर्निमायक (रिप्रोडक्टिव) कल्पना और रचनात्मक (क्रियेटिव) कल्पना—का उल्लेख किया है। पुनर्निमायक कल्पना मे विगत घटनाओ अथवा प्राप्त अनुभूतियो को स्मृति से उद्‌बुद्ध कर मानसिक बिम्बो मे बदला जाता है और उनका कलात्मक प्रेषण किया जाता है। यह कल्पना अधिकतर स्मृति-निर्भर होती है। वर्डस्वर्थ की 'डैफोडिल्स' विषयक कविता पुनर्निमायक कल्पना का एक सुन्दर उदाहरण है। तदनन्तर, रचनात्मक कल्पना पूर्वानुभूत वस्तुओ का नवीन रूपो मे सृजन करती है। यह कल्पना अपेक्षाकृत अधिक कलावरेण्य होती है। इसी कल्पना को हम नूतन निर्माणक्षम नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा कह सकते हैं। विश्लेषण

1. बिहारी-बोधिनी, लाला भगवानदीन, साहित्य सेवा-सदन, बनारस, षष्ठ सस्करण, पृ 118।
2 वही, पृष्ठ 47।

की दृष्टि से इसके दो उपभेद किये जाते हैं—नन्दतिक रचनात्मक कल्पना (एस्थेटिक क्रियेटिव इमाजिनेशन) और *व्यावहारिक रचनात्मक कल्पना* (प्रैक्टिकल क्रियेटिव इमाजिनेशन)। नन्दतिक रचनात्मक कल्पना के द्वारा कला जगत् मे नयी कृतियो प्रयुक्तियो और ललित प्रवृत्तियो का प्रसार होता है। यह नन्दतिक रचनात्मक कल्पना ही सौन्दर्यशास्त्र का विवेच्य विषय है क्योकि व्यावहारिक रचनात्मक कल्पना का क्षेत्र दैनन्दिन शिष्टाचार या वैज्ञानिक-प्राविधिक अन्वेषणो का क्षेत्र है। इसलिए कला-चर्चा मे कल्पना से नन्दतिक रचनात्मक कल्पना का ही आशय ग्रहण किया जाता है, जिसमे कलाकार अपनी अनुभूतियो मे आवश्यक चयन और वर्जन करके सहृदय की प्रत्ययता को आकृष्ट करनेवाले बिम्बो या अप्रस्तुतो का विध न करता है। **कैथेरिन पैट्रिक** ने कुछ प्रयोगो के द्वारा इस कल्पना की चार प्रमुख अवस्थाओ का निरूपण किया है—उपक्रमण (प्रिपेरेशन), गर्भीकरण (इन्क्यूबेशन), विकिरण (इल्यूमिनेशन) और आवृत्ति या परीक्षण। **कैथेरिन पैट्रिक** के अनुसार प्रत्येक कलाकार को किसी भी कलाकृति का सृजन करते समय कल्पना की उक्त अवस्थाओ मे गुज़रना पडता है।

तनिक विस्तार मे हम अधुनातन मनोवैज्ञानिको के द्वारा कल्पना पर किये गये विचार को समझने की चेष्टा करेंगे। अधुनातन मनोवैज्ञानिको, उदाहरणार्थ **फ्रैंक बैरोन** ने रचनात्मक कल्पना का मौलिकता के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध माना है।[1] जहाँ रचनात्मक कल्पना रहती है, वहाँ मौलिकता भी रहती है और जहाँ मौलिकता रहती है, वहाँ रचनात्मक कल्पना अवश्य रहती है, अर्थात रचनात्मक कल्पना के बिना मौलिकता की धारणा सम्भव नही है। वस्तुत भावना के क्षेत्र मे जो कल्पना है, *चिन्तन के क्षेत्र मे वही मौलिकता है।* जब कल्पना भाव के क्षेत्र से निकलकर चिन्तन-जगत् मे प्रविष्ट होती है, तब वह मौलिकता बन जाती है। इस तरह कल्पना और मौलिकता मे मात्र अधिकरण-भेद है। अत इस रचनात्मक कल्पना की आवश्यकता कलाकार और वैज्ञानिक — दोनो को पडती है। मनोवैज्ञानिको के अनुसार कल्पनाशील और मौलिक व्यक्ति अव्यवस्था और सकुलता को अधिक पसन्द करता है, क्योकि अव्यवस्थित और सकुल वस्तुओ, रेखाओ, रगो अथवा कलात्मक उपादानो को ही एक नवीन सयोजन प्रदान कर शोभात्मक बनाया जा सकता है। अत कल्पनाशील व्यक्ति उस सतही असन्तुलन और अपूर्णता को अधिक पसन्द करता है, जिसके अन्तराल में *अखण्ड पूर्णता और सन्तुलन छिपे रहते हैं।* फलस्वरूप, कल्पनाशील कलाकार प्राय मौलिक चिन्तक की तरह स्वतन्त्र निर्णय-

1 साइण्टिफिक अमेरिकन वाल्यूम 199 नम्बर 3 सितम्बर 1958 में फ्रैंक बैरोन लिखित द साइकालाजी ऑव इमाजिनेशन' शीर्षक लेख।

वाला व्यक्ति होता है।[1] मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कल्पनाशील व्यक्तियों में कुछ विशेष लक्षण पाये जाते हैं। जैसे—1 इनमे सामान्य जनो से अधिक पर्यवेक्षण-प्रियता रहती है, 2 इनमे प्रत्येक वस्तु, विभाजन अथवा धारणा के किसी एक खण्ड-सत्य को अन्य की अपेक्षा ज्वलन्त रूप मे उभारकर रखने की प्रवृत्ति होती है, 3. इन्हे अनदेखे को देखने और उसके अभिज्ञान को प्रस्तुत करने मे विशेष आनन्द मिलता है 4 इनकी वृत्तियों मे स्वार्थ की सद्य तुष्टि के बदले सास्कृतिक शील की ओर विशेष झुकाव रहता है 5 इनके पास अनेक विचारो को एक साथ धारण करने और उनके तुलनात्मक अवगाहन से किसी बृहत् समन्वय को पाने की विशेष शक्ति रहती है, 6 इन्हे अचेतन या अवचेतन मे दबी हुई कुण्ठाओ और दमित वासनाओ को पुचकारने मे विशेष आनन्द मिलता है, इत्यादि। इस प्रकार मनोवैज्ञानिको ने जिस दृष्टि से कल्पना और कल्पनाशील व्यक्तियो पर प्रयोग समर्थित विचार किया है वह सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन के लिए आशिक उपयोग ही रखता है।

मनोवैज्ञानिको की तरह जीववैज्ञानिको और शरीरशास्त्रियो ने कल्पना पर विचार करने की चेष्टा की है, क्योकि विज्ञान-जगत् मे भी कल्पना का विशिष्ट महत्त्व है। बात यह है कि कला और विज्ञान—दोनो मे बुद्धि और कल्पना की आवश्यकता है। जिस तरह कल्पना का धनी, किन्तु बुद्धि का दरिद्र कलाकार प्रथम पंक्ति का अधिकारी नही हो सकता, उसी तरह बुद्धि का समृद्ध, किन्तु कल्पना का अकिंचन वैज्ञानिक भी प्रथम कोटि मे गण्य नही बन सकता। इसीलिए जिस युग मे कल्पना और बुद्धि का समन्वय रहता है, उसी मे महान् कलाकार या महान् वैज्ञानिक को पैदा करने की क्षमता रहती है। कलाकार और वैज्ञानिक को इसलिए भी कल्पना की आवश्यकता होती है कि कल्पना मे अदृश्य को दृश्य बनाने की एक अद्भुत शक्ति रहती है। कला मे कल्पना के विनियोग से अप्रस्तुतो तथा नूतन वस्तु व्यापार विधानो का निर्माण होता है और विज्ञान मे कल्पना के द्वारा आनुमानिक पूर्वमान्यताओ (हाइपोथेसिस) और नवान्वेषण (इन्नोवेशन) का अवतरण होता है।

जीववैज्ञानिको और शरीरशास्त्रियो ने कल्पना को मस्तिष्क से ही सम्बद्ध

1 प्रो सोलोमन आश (Solomon Asch) ने इस स्थापना को अनेक मनोवैज्ञानिक प्रयोगों के द्वारा प्रमाणित किया है। सोलोमन आश के ये प्रयोग 'आश एक्सपेरिमण्ट' के नाम से मनोविज्ञान जगत् मे प्रसिद्ध हैं। इसी 'आश प्रयोग' को और भी नये तरीको पर आगे बढ़ाकर सदन कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के जे पी गिल्फोर्ड ने भी यह सिद्ध किया है कि कल्पनाशीलता अथवा मौलिक चिंतन का स्वतन्त्र निर्णय (इण्डिपेण्डेण्ट जजमेंट) के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है।

माना है। जैसे, जॉन सी. इक्लेस की मान्यता है कि रचनात्मक कल्पना मस्तिष्क की क्रिया से उत्पन्न होती है। इनके अनुसार कल्पना मानसिक अनुभूतियों की वह सर्वोपरि सतह है, जो ऐन्द्रिय अनुभूति, मानसिक बिम्ब, स्मृति और मनोविभ्रम की अनेक निम्नवर्तिनी सतहों पर निर्भर रहती है। अतः मस्तिष्क की क्रिया से सम्बद्ध होने के कारण कल्पना का अनिवार्य सम्बन्ध प्रमस्तिष्क बाह्यक (सेरेब्रल कोर्टेक्स) के साथ रहता है। इस बाह्यक (कोर्टेक्स) के अन्तर्गत बहुत से चेताकोश (न्यूरोन्स) रहते हैं और इनकी अनेक परतें होती हैं। ये सम्बन्धक चेताकोश (न्यूरोन्स) बहुत ही संकुल होते हैं और इनकी संख्या भी शताधिक होती है। किन्तु, इन चेताकोशों में इतनी घनिष्ठता रहती है कि इनसे बने बाह्यक (कोर्टेक्स) को हम, अन्ततोगत्वा, अन्तर्ग्रथित क्रिया की एक इकाई कह सकते हैं। सारांश यह है कि ऐसे चेताकोशों और कट्ठों से बना हुआ मानव-मस्तिष्क मनुष्य द्वारा निर्मित किसी भी मशीन (विद्युतगणक जैसे यन्त्र) से अधिक संकुल होता है। यह उलझन इस बात से और भी बढ़ जाती है कि बाह्यक में ग्रथित रहनेवाले अनेक चेताकोशों में से प्रत्येक चेताकोश अपने आपमें स्वतन्त्र एक जीवन्त इकाई है। यह चेताकोश केन्द्र-शरीर से सम्बद्ध अनेक चेतालोमीय तन्तुओं (डेण्ड्राइट फाइबर्स) के सहारे अन्य अनेक कोशों (सेल्स) से प्रेरणा (इम्पल्स) प्राप्त करता है और प्राप्त प्रेरणाओं को अन्य कोशों तक वैसे ही कृश तन्तुओं या लायूलों (स्लैण्डर फाइबर्स या एक्सन—Axon) के सहारे प्रेषित करता है। इस तरह कोश पृथक् रहकर भी परस्पर सम्बद्ध रहते हैं।[1] अर्थात्, इन कोशों में निश्चितरूपेण पारस्परिक संगति और सामाजिकता रहती है। अतः इनमें प्रेरणा की लयात्मक तरंगों का प्रतिध्वनन चलता रहता है। बाह्यक के अन्तर्गत पड़नेवाला एक चेताकोश केवल समीपी चेताकोश को ही अपनी प्रेरणा से तरंगित नहीं करता, बल्कि बाह्यक के अन्तर्गत अन्य दूरवर्ती चेताकोशों को भी वह समान रूप से तरंगित करता है। इस तरह कोई भी हल्की-से हल्की प्रेरणा सम्पूर्ण मस्तिष्क को आन्दोलित कर देती है। वैज्ञानिकों ने वैद्युत-मस्तिष्कीय

1 ' Connections between cells are established by the synapses, specialized Junctions, where the cell membranes are separated by cleft only 200 angstrom units across At these synapses the transmitting cell secrets *highly specific chemical substance whose high speed reaction carries* the signal from one cell to the next the neuron is characteristically an 'allor nothing relay An impulse arriving across a synapse produces a very small and transient electrical effect, equivalent to 001 volt and lasting 01 to 02 second It requires an excitation of about 10 times this voltage to cause the neuron to fire its discharge " 'The Physiology of Imagination by *John C Eccles*, Scientific American, September 1958, p 141

बिन्दुरेख (इलेक्ट्रो एन्सेफेलोग्राफी) के सहारे इसकी सचाई का परीक्षण किया है। इन तथ्यो के आधार पर कल्पना की जीववैज्ञानिक व्याख्या करनेवाले विद्वानो की धारणा है कि साधारण ऐन्द्रिय अनुभूतियाँ ही कल्पना के लिए कच्चा माल तैयार करती हैं, क्योकि प्रत्येक इन्द्रिय अपनी प्रतिक्रिया, प्रत्यर्थता अथवा अनुभूति का सवाद बाह्यक के पास, अत मस्तिष्क के पास भेजा करती है।

मस्तिष्क मे एक ऐसी शक्ति है, जिसके सहारे वह पूर्वानुभूत ऐन्द्रिय सवेदनो और अनुभूतियो को फिर से बुला लेता है, जिसे हम सामान्यत 'स्मृति' कहते हैं। अनुभूतियो के इस पुनरावर्त्तन अथवा पुनराह्वान (अर्थात् स्मृति) की एक जैव पद्धति होती है, जिसके सहारे हम मानसिक चित्रो (इमेज) को पाते हैं, जो कल्पना का सरलतम धरातल है। इस तरह हम कह सकते है कि स्मृति किसी-न किसी रूप मे बाह्यक के पूर्वाधात-विशेष पर निर्भर करती है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि प्रत्येक पूर्वानुभूत इन्द्रियानुभूति कुछ काल के बाद स्मृति के क्षेत्र मे नही आ सकती। प्रायोगिक परीक्षण से यह सिद्ध किया गया है कि वही इन्द्रियानुभूति स्मृत हो सकती है, जिसका मस्तिष्कीय आघात या झटका या वैद्युत सक्षोभ (सेरेब्रल ट्रॉमा ऑर कान्वयूसन ऑर इलैक्ट्रिक शॉक) कम-से कम बीस मिनट तक ठहरता हो। जिस तरह स्मृति की भारतीय व्याख्या मे यह माना जाता है कि स्मृति के लिए सस्कारो को उद्बुद्ध करनेवाली परिस्थितियो अथवा वस्तुओं की आवश्यकता है, उसी तरह ये वैज्ञानिक भी मानते हैं कि स्मृति को जगाने के लिए बाह्यक पर अकित प्रभावो या सस्कारलेखो (कोर्टेक्स एन्ग्राम्स) को आन्दोलित अथवा उद्बुद्ध करने की जरूरत होती है। इसलिए एक स्मृति को जगाने मे सहस्रो चेताकोशो को एक साथ सक्रिय होना पडता है। इन्ही चेताकोशो की सन्तुलित, किन्तु घनी सक्रियता के कारण कुछ स्मृतियाँ इतनी बलिष्ठ हो जाती हैं कि वे जीवन-सगिनी बन जाती हैं।

उक्त वैज्ञानिको के अनुसार कल्पना, स्मृति पर निर्भर रहने के कारण, मानव-चित्रो की पुन अनुभूति है। इन मानस चित्रो मे साहचर्य और सहगामिता का एक विशिष्ट गुण रहता है। अत ये मानस चित्र विवर्त्तशील होने के साथ ही उद्बोधात्मक (इवोकेटिव) होते हैं, अर्थात् एक मानस-चित्र दूसरे मानस चित्र को पैदा करता है, फिर दूसरा मानस चित्र तीसरे को एव प्रकारेण यह सृजन का चक्र चलायमान हो जाता है। इसी मानसिक चित्रविधान का एक विशिष्ट रूप कल्पना है। यह कल्पना मस्तिष्क को एक ऐसा प्रकाश देती है, जिसमे विज्ञान के क्षेत्र मे आनुमानिक पूर्वमान्यता (हाइपोथेसिस) की उपलब्धि होती है। इस प्रकाश अथवा कल्पना मे एक आकस्मिकता रहती है, जिसका कमाल हम डार्विन के विकासवाद-सिद्धान्त या हैमिल्टन के समीकरणा (इक्वेशन्स) की स्थापना मे पाते हैं। इस सृजन चमत्कार या कल्पना को भी अचेतन अथवा उपचेतन से चेतन मन तक

पहुँचाना बाह्य पर अंकित प्रभावों या संस्कार-लेखों का ही कार्य है। जब का
अंकित संस्कार-लेख कल्पना को चेतन मन तक पहुँचा देते हैं, तब हम उस
का विचार-दृष्टि से मूल्यांकन करते हैं उसके औचित्य अनौचित्य का विच
हैं। जिस तरह काव्य के क्षेत्र में हम बाँझ कल्पना को नहीं, उस कल्पना क
देते हैं जिसका आरोहण बिम्बविधान तक हो सके, उसी तरह विज्ञान के
भी वह रचनात्मक कल्पना पसन्द और सफल मानी जाती है, जो प्रयोग के
पर खरी उतरनेवाली *आनुमानिक पूर्वमान्यताओं का आविर्भाव कर सके।*

जीववैज्ञानिकों ने इस पर भी विचार किया है कि किस तरह का
कल्पना के लिए विशेष समर्थ होता है। इनकी धारणा यह है कि जिस म
धारी के पास चेताकोशों की पर्याप्त संख्या रहती है साथ ही जिसके सभी चे
चेतोपागमिक (साइनैप्टिक) योजना-सूत्रों से परस्पर सम्यक्रूपेण सुसम्ब
हैं, उसी के पास रचनात्मक कल्पना करने की शक्ति रहती है। किन्तु चे
की संख्या और सक्रियता के आधार पर किसी मस्तिष्क को कल्पनाशील
करना निरापद नहीं है, क्योंकि शिम्पनजी के मस्तिष्क में भी मनुष्य के मस्ति
तरह 80 प्रतिशत चेताकोश होते हैं, किन्तु उसमें रचनात्मक कल्पना का
भाव रहता है। तथापि जीववैज्ञानिकों की धारणा है कि मानव क्या, म
प्राणियों में भी कल्पना की शक्ति रहती है और उनका मानस भी कल्पना क
से दोलायित होता है।[1]

इन वैज्ञानिकों की तरह कुछ अन्य विद्वानों ने भी अर्द्धवैज्ञानिक प
कल्पना पर विचार किया है। यह विचार-पद्धति एक विचित्र सम्मिश्रण है
तत्त्ववाद और पदार्थविज्ञान को मिला दिया गया है। इस कोटि के विच
आर्थर लॉवेल का एक विशिष्ट स्थान है। इन्होंने भारतीय तत्त्ववाद और प
पदार्थविज्ञान की तत्कालीन नव्यतम मान्यताओं के सामान्य आधार पर
सम्बन्धी विचारणाओं के लिए एक नूतन क्षितिज उपस्थित किया।[2] क
सम्बन्ध में इनकी दो मुख्य स्थापनाएँ हैं। एक यह कि कल्पना मानसिक
विधान की क्षमता है। यह मानसिक बिम्ब विधान की क्षमता केवल कल
के लिए ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि दार्शनिक और बौद्धिक चिन्तन के f
अर्थात् मानसिक बिम्ब विधान की क्षमता (कल्पना) न केवल कवियों औ
कारों के लिए अपेक्षित है, बल्कि दार्शनिकों और चिन्तकों के लिए भी।

1 *Charles Darwin*, 'The Descent of Man', London, 1936, p 82
2 *इमाजिनेशन एण्ड इटस वण्डर्स' ले आथर लॉवेल, निकोल्स एण्ड को., 23* स्ट्रीट लन्दन 1899 ई।

आर्थर लॉवेल[1] की दूसरी मान्यता यह है कि कल्पना ईथर की त्वरा का एक विशिष्ट रूप है। कारण, ईथर ही वह तत्त्व है, जिससे कल्पना-प्रसूत बिम्ब निर्मित होते हैं। आर्थर लॉवेल ने इस ईथर को 'आकल्ट साइंस' की प्राचीन शब्दावली मे 'आस्ट्रल लाइट' या आकाश भी कहा है। लॉवेल की तरह इमर्सन ने भी मनो-बिम्बो को ईथर-निर्मित (लिटरली मेड ऑव द फाइन सब्स्टान्स ऑव द ईथर) माना है। किन्तु आर्थर लॉवेल और इमर्सन की यह स्थापना अभी निश्चित और सर्वसम्मत नही मानी जा सकती, कारण, आधुनिक विज्ञान ने (भले ही) 'कॉस्मिक ईथर' के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया है किन्तु उस ईथर से मनो-बिम्बो का क्या सम्बन्ध है—यह अद्यावधि विचारणीय है तथा नवीन और व्यवस्थित शोध की अपेक्षा करता है। आर्थर लॉवेल के विरुद्ध इस शका को तनिक विस्तार मे समझने की आवश्यकता है।

पदार्थविज्ञान मे ईथर पर व्यवस्थित विचारणा का प्रारम्भ 'प्रकाश' (लाइट) के सिद्धान्तो के निरूपण के साथ हुआ। पहले न्यूटन ने 'एमीसन थ्योरी' की स्थापना की, जिसके अनुसार प्रकाश के कण अत्यन्त तीव्रता के साथ सरल रेखा मे निरन्तर आगे बढते हैं। न्यूटन के अनुसार इसी प्रकार प्रकाश का प्रसार होता है। किन्तु हाइजेन्स ने एक दूसरे सिद्धान्त की स्थापना की, जो 'अनड्युलेटरी थ्योरी ऑव लाइट' अथवा 'वेभ थ्योरी ऑव लाइट' के नाम से प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रकाश तरगो मे बढता है और उसके बढने का माध्यम है 'ईथर'। यहाँ यह स्मरणीय है कि हाइजेन्स ने ही सर्वप्रथम ईथर की धारणा को पदार्थ विज्ञान के क्षेत्र मे सुव्यवस्थित ढग से उपस्थित किया। किन्तु न्यूटन की सर्वग्रासी सर्वप्रियता के कारण हाइजेन्स का उक्त सिद्धान्त कम प्रचारित हो सका। तथापि परवर्ती प्रयोगो ने न्यूटन के सिद्धान्त को अपूर्ण और भ्रान्त सिद्ध कर दिया। फलस्वरूप, वैज्ञानिको की दृष्टि पुन हाइजेन्स के प्रकाश-सम्बन्धी तरग-सिद्धान्त की ओर गयी और ईथर पर बहुत ही व्यवस्थित विचार-विमर्श का प्रारम्भ हुआ। हाइजेन्स की ईथर वाली धारणा को (किंचित मतभेदो और सशोधनो के साथ) तूल देकर विचार करनेवाले वैज्ञानिको मे यग और फ्रेनेल उल्लेखनीय महत्त्व के अधिकारी हैं। तत्पश्चात् मैक्सवेल[2] और हर्ज ने ईथर को मानते हुए हाइजेन्स के तरग सिद्धान्त का इस अर्थ मे विरोध किया कि तरग यान्त्रिक नही है, वह वैद्युतिक और चुम्बकीय

1 Imagination And Its Wonders by *Arther Lowell*, Nichols and Co, London, 1899, p 16

2 मैक्सवेल के सिद्धान्त की आलोचनात्मक जानकारी के लिए द्रष्टव्य—आपेक्षिकता का अभिप्राय, मूल लेखक—डॉ अलबर्ट आइन्स्टाइन अनुवादक—डॉ देवीदास रघुनाथ भडारकर तथा डॉ निहालकरण सेठी प्रकाशन शाखा, उत्तर प्रदेश, 1960 पृष्ठ सख्या—26-27, 38 47, 93 101, 128, 133 151।

हुआ करती है। इस प्रकार मैक्सवेल और हर्ज के बाद विज्ञान-जगत् मे ईथर का महत्त्व बहुत विघटित हो गया। कारण, अन्य प्रमुख वैज्ञानिकों—माइकेलसन हाइजेनबर्ग, आइन्स्टाइन, लुइडीब्रोई इत्यादि—ने ईथर को गौण दृष्टि से देखा। अत अत्याधुनिक काल मे ईथर की धारणा गौण नही, उपेक्षित हो गयी है। आज के वैज्ञानिक ईथर को 'सुपरफ्लुअस' मानते हैं और एतावत्त्व-प्रिय विज्ञान मे 'सुपरफ्लुअस' का क्या महत्त्व हो सकता है—यह सर्वविदित है। इसलिए हम आधुनिक विज्ञान की अधुनातन मान्यताओ के आलोक मे आर्थर लॉवेल की कल्पना-सम्बन्धी ईथरवादी धारणा को अधिक समीचीन और पूर्णत वैज्ञानिक नही मान सकते हैं।

कल्पना की तरह ही सौन्दर्यशास्त्र के अन्य तत्त्वो—सवेग, सौन्दर्य, इत्यादि पर उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध के सौन्दर्यशास्त्रियो ने भी शरीरविज्ञान तथा पदार्थविज्ञान की दृष्टि से सोचने का प्रयत्न किया था, जिसके समवेत रूप को हम एक प्रकार का 'फिजियोलाजिकल एस्थेटिक्स' अथवा 'फिजिकल एस्थेटिक्स' (दैहिक सौन्दर्यशास्त्र या भौतिक सौन्दर्यशास्त्र) कह सकते हैं।[1] पदार्थ विज्ञानवादी सौन्दर्य-शास्त्रियो ने अपनी विवेचना म विशेषकर दृग्विषय-विज्ञान (ऑप्टिक्स) और ध्वनि विज्ञान (एकुस्टिक्स) को आधार बनाया था। इसी तरह सौन्दर्यशास्त्रीय तत्त्वों की दैहिक व्याख्या करनेवाले विचारको ने विभिन्न अगा एव नाडी-मस्याओ—प्रधानत प्रमस्तिष्क रज्जु-चेतासहति के अग्रभागीय पारिणाहिक अगो (टर्मिनल पेरिफेरिक आर्गेन्स ऑव द सेरेब्रोस्पाइनल नर्वस सिस्टम)—के आधार पर सौन्दर्य-शास्त्र के विभिन्न तत्त्वो को विवेचित करने का प्रयास किया। किन्तु यहाँ हम इसकी अधिक चर्चा न कर कल्पना, सवेग इत्यादि पर कलाशास्त्रीय दृष्टि से ही विचार करने का प्रयास करेंगे, कारण, कला और विज्ञान की कल्पना एव अन्य तत्त्वो मे पर्याप्त अन्तर है। जैसे, कलाकार की कल्पना भावनाओ के सहारे उद्बुद्ध होती है, जबकि वैज्ञानिक की कल्पना किसी व्यावहारिक उपयोगिता अथवा भौतिक कार्य

1 सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र मे शरीरविज्ञान सम्बन्धी दृष्टिकोण की चर्चा करनेवाले भारतीय विचारकों मे अवनीन्द्रनाथ ठाकुर और अहमद सिद्दीक मजनू उल्लेखनीय महत्त्व के अधिकारी हैं। अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'शिल्प ओ देहतत्त्व' शीर्षक अध्याय मे शरीरविज्ञान के अनुसार कला की दैहिक व्याख्या प्रस्तुत की है। (द्रष्टव्य—वागेश्वरी शिल्प प्रबन्धावली, अवनीन्द्र-नाथ ठाकुर कलकत्ता विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1941 पृ 101-115) तदनन्तर मजनू गोरखपुरी ने यद्यपि शरीरविज्ञान या जीवविज्ञान की दृष्टि से सौन्दयशास्त्र पर विचार करना असगत माना है, तथापि इन्होंने अपनी पुस्तक के प्राक्कथन में डार्विन का खण्डन करते समय शरीरविज्ञान और जीवविज्ञान की आवश्यक चर्चा की है। (द्रष्टव्य—तारीखे जमालियात, ले—अहमद सिद्दीक मजनू एम ए अजुमन तरक्किये उर्दू अलीगढ द्वितीय सस्करण जनवरी 1959, पृ 15)

की पूर्णता के उद्देश्य से उद्बुद्ध होती है। इसलिए वैज्ञानिक की कल्पना पर तर्क-सकुल बुद्धि का निर्मम अकुश रहता है।

इस विवेचन के उपरान्त कल्पना के अनेक प्रचलित अर्थों को समझ लेना हमारे लिए आवश्यक है। कल्पना के मुख्यत छह् अर्थ या प्रयोजन प्रचलित हैं—

1. जीवन्त चित्र-विधान, विशेषकर, दृश्य अथवा गोचर प्रत्यक्षीकरण से सम्बन्धित।

2 अलकृत भाषा का प्रयोग, जिसमे प्रकृष्ट प्रेक्षणो से काम लिया गया हो।

3 दूसरे की मन स्थिति का सहानुभूतिपूर्ण कथन। इस प्रकार की कल्पना भाव-सम्प्रेषण की आवश्यकता मे उद्भूत होती है।

4 सादृश्य विधान या अप्रस्तुतयोजना, अर्थात् ऐसी वस्तुओ मे पारस्पर्य-स्थापन या सम्बन्ध-निबन्धन करना, जो सामान्यत नही मिलता हो।

5 उदाहरणो का सचयन। इस प्रकार की कल्पना विज्ञान के लिए उपयोगी है। इसे हम किसी दृश्य या वस्तु के प्रति अपनी क्रमबद्ध अनुभूतियो को एक क्रम से और एक निश्चित उद्देश्य के लिए अनुशासन मे बाँधना कह सकते हैं। इसमे अनुभूतियो का याथातथ्य रहता है। कला की शिल्पीय उपलब्धियाँ भी इसी प्रकार की कल्पना के फल हैं।

6. कल्पना वह केन्द्रणशील और जादूभरी शक्ति है, जो विरोधी अतिवादो या कोटिवादो (एक्स्ट्रीमिज्म) के बीच सन्तुलन उपस्थित करती है और परिचित अथवा प्राचीन वस्तुओ मे भी असाधारण भाव-बोध के कारण नवीनता का आधान करती है।[1]

आधुनिक काव्यालोचन अथवा सौन्दर्यशास्त्र मे कल्पना का प्रयोग लगभग इसी अर्थ मे होता है। कल्पना का यह अर्थादेश सर्वप्रथम कॉलरिज ने बायग्राफिया लिटरेरिया मे प्रस्तुत किया, किन्तु, यहाँ हम कॉलरिज अथवा उसके पूर्ववर्ती और परवर्ती कल्पना के पाश्चात्य व्याख्याताओ की विवेचना करने के पहले यह देखना चाहेंगे कि भारतवर्ष के प्राचीन काव्यशास्त्रियो ने कल्पना पर कुछ विचार किया है अथवा नही। कल्पना के प्रसग मे हिन्दी के आधुनिक विचारको ने पाश्चात्य विवेचनो का ही पूर्णत अथवा आंशिक अनुगमन किया है। अत भारतीय मनीषा की तल-स्पर्शिनी मौलिकता से लाभ उठाने के लिए यह आवश्यक है कि हम प्राचीन काव्य-शास्त्रियो के उन मन्तव्यो का अवगाहन करें, जिनमे कल्पना से सम्बन्धित विचारणाओ के लिए हमे उपयुक्त चिन्तामणि मिल सके।

प्राचीन काव्यशास्त्र और सस्कृत साहित्य मे 'कल्पना' शब्द के अनेक प्रयोग

1 'प्रिन्सिपल्स ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज्म', ले आइ ए रिचर्ड्स, राउटलज एण्ड केगन पॉल, लन्दन, 1955, पृ. 238-242।

मिलते हैं, किन्तु सर्वथा भिन्न अर्थ मे। यहाँ कल्पना का अधिकतर प्रयोग मिथ्या-ज्ञान या मिथ्या रचना के लिए हुआ है। संस्कृत साहित्य मे कहीं-कहीं 'कल्पना' का व्यवहार सिद्धि और हाथी को सजाने के अर्थ मे भी हुआ है। श्रीहर्ष के **'नैषधचरित'** मे 'श्रद्धालु सकल्पित कल्पनायाम्' मे कल्पना शब्द का प्रयोग सिद्धि के अर्थ मे है।[1] इसी प्रकार **'अमरकोष'** की रामाश्रयी टीका मे 'स्तोकसत्या' को कल्पना का पर्याय माना गया है। इतना ही नहीं, भामह ने **'काव्यालंकार'** के पचम परिच्छेद मे (प्रत्यक्ष कल्पनापोढ सतोऽर्थादिति केचन। कल्पना नामजात्यदियोजना प्रति-जानते।), धर्मकीर्ति ने **'न्यायबिन्दु'** मे (कल्पनापोढम् भ्रान्त प्रत्यक्षम्) और आर्यदेव ने **'चित्तशुद्धिप्रकरण'** नामक पुस्तक मे,(जिसका उल्लेख **एस एन. दासगुप्त** ने 'भारतीय दर्शन का इतिहास' नामक ग्रन्थ के प्रथम भाग मे 'मीमांसादर्शन के अन्तर्गत किया है,) 'कल्पना' शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु इनमे से एक भी प्रयोग कल्पना के आधुनिक अर्थ के समतुल्य नहीं है। लेकिन आधुनिक सौन्दर्य-शास्त्र मे कल्पना का प्रयोग जिस (शास्त्रीय) अर्थ मे किया जाता है, उस अर्थ को अभिप्रेत करने के लिए प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने एक दूसरे शब्द का प्रयोग किया है। वह शब्द है 'प्रतिभा'। *डॉ. श्यामसुन्दरदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रभृति* विद्वानों ने भी ऐसा ही मत प्रस्तुत किया है।[2] अत आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र या पाश्चात्य कला-चिन्ता की कल्पना को हम भारतीय काव्यशास्त्र की 'प्रतिभा' कह सकते हैं। इस 'प्रतिभा' का (अपूर्ण) अंग्रेजी पर्यायवाची है—'जिनियस'। तथापि अनेक आग्ल आलोचकों ने भी प्रतिभा (जिनियस) को कल्पना के अर्थ मे स्वीकार किया है।[3] इसलिए भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिभा-निरूपण पर कुछ विस्तृत

1. श्रीहर्ष ने एक और स्थल पर कल्पना शब्द का प्रयोग किया है—
   मदन्यदान प्रति कल्पना या वेदस्त्वदीये हृदि तावदेषा।
   निशोऽपि सोमेनरकान्तशङ् कामोडकारमग्रेसरमस्य कुर्या ॥
   —नैषधचरित, अनुवादक, ऋषीश्वरनाथ भट्ट, पृ 65
2. आनन्दकुमार स्वामी ने भी कल्पना (इमाजिनेशन) को 'प्रतिभा' के ही अर्थ में स्वीकार किया है। द्रष्टव्य—द ट्रॉसफॉर्मेशन ऑव नेचर इन आर्ट, लेखक आनन्दकुमार स्वामी, न्यूयार्क, 1956। दार्शनिक दृष्टि के कुछ विद्वान् 'कल्पना' का साम्य दिङ्नाग और धर्म-कीर्त्ति (कल्पनापोढमभ्रान्त प्रत्यक्षम्) द्वारा अभिहित 'मानस प्रत्यक्ष' के साथ बिठाते हैं। मानस-प्रत्यक्ष एक प्रकार का प्रत्यक्षीकरण है। इसका स्थान संवेदना और बुद्धि के बीच मे बतलाया जाता है। दिङ्नाग ने बोध के दो प्रकारों को स्वीकार किया है—प्रत्यक्ष-बोध और कल्पना बोध। द्रष्टव्य—*Jwala Prasad*, History of Indian Epistemology, published by Munshi Ram Manohar Lal, p 205-207 निश्चय ही दिङ्नाग का यह कल्पना-बोध काव्यशास्त्र या सौन्दर्यशास्त्र की विवेच्य कल्पना से नितान्त भिन्न है।
3. उदाहरणार्थ इमर्सन ने 'एसे ऑन पोइट्री एण्ड इमाजिनेशन' शीर्षक निबन्ध मे 'प्रतिभा' (जिनियस) को कल्पना का समानार्थक माना है।

विचार करने से हमे कल्पना पर तात्त्विक चिन्तन के लिए अवश्य ही आशिक आलोक मिलेगा।

प्राचीन आचार्यों ने काव्य-हेतु के प्रसग मे प्रतिभा[1] का तर्कपुष्ट विश्लेपण किया है। भामह ने काव्यहेतुओ मे प्रतिभा को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान किया है। इनके अनुसार, प्रतिभा के बिना काव्य-रचना की तो बात दूर रही, काव्य का आस्वादन तक (गुरु उपदेश के बाद भी) नही हो सकता—

गुरूपदेशादध्यतु शास्त्र जडधियोऽप्यलम्।
काव्य तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावत ॥[2]

इस तरह इन्होने प्रतिभा को ही काव्य का एकमात्र कारण माना है और इसका अत्यन्त आत्मनिष्ठ स्वरूप निर्धारित किया है। प्रतिभा के स्वरूप निर्धारण की दृष्टि से इन्ही की परम्परा मे आनेवाले ध्वनिवादी आचार्यों ने प्रतिभा की वैसी व्याख्या की है, जो आधुनिक काव्यालोचन की 'कल्पना' से पर्याप्त साम्य रखती है। भामह के बाद दण्डी ने प्रतिभा के महत्त्व को सकुचित कर दिया। इन्होने प्रतिभा के साथ ही शास्त्रज्ञान तथा अभ्यास को काव्य-साधक हेतुओ मे स्थान दिया है। इनके अनुसार केवल प्रतिभा से काव्य की स्फूर्ति नही हो सकती। प्रतिभा पर विचार करनेवाले आचार्यों मे दण्डी ने भामह के विपरीत (काव्य हेतु) प्रतिभा की वस्तुनिष्ठ व्याख्या की है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि दण्डी की 'प्रतिभा' से पाश्चात्य अथवा आधुनिक काव्यालोचन की 'कल्पना' का कोई साम्य नही है।[3] साथ ही हम कह सकते हैं कि दण्डी का प्रतिभा-विवेचन भामह का प्रतिपक्ष है। वामन ने भी दण्डी के ही विचारो का अनुगमन किया है। यद्यपि इन्होने प्रतिभा अथवा प्रतिमान को कवित्व का बीज कहा, तथापि इन्होने प्रतिभा के साथ ही काव्य स्फूर्ति के लिए गुरु सेवा, शास्त्र-ज्ञान, अवधान (चित्त की

1 प्रतिभा' के मनोवैज्ञानिक विश्लेपण की सक्षिप्त जानकारी के लिए द्रष्टव्य—साइको-एनालिसिस एण्ड लिटररी क्रिटिसिज्म, ले के अहमद, अजन्ता प्रेस पटना में सगृहीत 'जिनियस एण्ड ल्यूनेसी' तथा साइकोएनालिटिक स्टडी ऑव इण्डिविजुअल जिनियस' शीर्षक लेख।

2 भामह काव्यालकार 1 5

3 दण्डी ने काव्य हेतु के प्रसग मे 'प्रतिभा' का इस प्रकार उल्लेख किया है—

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुत च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोस्या कारण काव्य सपद ॥
न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना
गुणानुबन्धि प्रतिमानमद्भुतम।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता
ध्रुव करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ॥

—काव्यादर्श, 1-103 और 1-104

एकाग्रता) इत्यादि को अनिवार्य माना है। प्रतिभा के प्रति वस्तुपरक दृष्टिकोण रखने के कारण इन्होने लोक ज्ञान और विद्या को पहले स्थान दिया है तथा प्रतिभा का तीसरे काव्यांग प्रकीर्ण के अन्तर्गत उल्लेख किया है। इस तरह **वामन** प्रतिभा की आत्मपरक व्याख्या करनेवाले उन आचार्यों की परम्परा स दूर मालूम पडते है, जिनके प्रतिभा निरूपण से आधुनिक काव्यालोचन की कल्पना का मेल है। **डॉ नगेन्द्र** का तो कथन है कि **वामन** ने प्रतिभा को वाछित गौरव नही दिया' है।[1] तदनन्तर, **रुद्रट** ने प्रतिभा' के स्थान पर शक्ति' का प्रयोग किया है और शक्ति' को काव्य का प्रधान हेतु माना है।[2] **रुद्रट** ने इस 'शक्ति' के दो भेदो का उल्लख किया है—सहजा और उत्पाद्या। सहजा स्वाभाविक शक्ति है और उत्पाद्या व्युत्पत्तिलभ्य।[3] कुल मिलाकर **रुद्रट** ने शक्ति अथात् प्रतिभा के साथ व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी महत्त्व दिया है और इन्हाने स्वीकार किया है कि केवल समाहित चित्त म प्रतिभा का उन्मेष होता है तथा इसी उन्मेष के उपरान्त अभिधेय अर्थ रमणीय शब्दावली मे अभिव्यक्त हो पाता है। **महिमभट्ट** ने भी प्रतिभा के सम्बन्ध म कुछ ऐसा ही मत व्यक्त किया है।[4] इसके बाद **आनन्दवर्द्धन** ने प्रतिभा और व्युत्पत्ति के बीच प्रतिभा को ही विशेष महत्त्व दिया है। इन्होने **भामह** की परम्परा के निकट आकर घोषित किया है कि प्रतिभा महाकवियो का 'अलोक सामान्य गुण' है। यह मान्यता प्रतिभा को आधुनिक काव्यालोचन की 'कल्पना के पास ले आती है, जिसका विवेचन हम आगे चलकर करेंगे।

प्रतिभा पर विचार करनेवाले आचार्यों मे **राजशेखर** अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इनके अनुसार प्रतिभा कवि के हृदय मे काव्य की सामग्री को प्रतिभासित करती

1 हिन्दी काव्यालकार सूत्र सम्पादक डा नगेन्द्र आत्माराम एण्ड सन्स 1954 भूमिका पृ 18।

2 मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्ति ॥

—काव्यालकार 1। 15

3 प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति।
पुसा सह जातत्वादनयोस्तु ज्यायसी सहजा ॥
स्वस्यासौ सस्कारे परमपर मृगयते यतो हेतुम।
उत्पाद्यो तु कथचिद व्युत्पत्त्या जयते परया ॥

—काव्यालकार 1। 16 और 1। 17

4 महिमभट्ट के अनुसार प्रतिभा प्रज्ञा का एक एसा विशेष रूप है, जिसके द्वारा कवि शब्द अर्थ के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करता है और जिसका सहसा उन्मेष केवल समाहित चित्त की अवस्था मे होता है—

रसानुगुण शब्दार्थ चिन्तास्तिमित चेतस ।
क्षण स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञ व प्रतिभा कवे ॥

है। इसे प्रमाणित करने के लिए राजशेखर ने मेधाविरुद्र, कुमारदास आदि जन्मान्ध कवियो का उल्लेख किया है। इससे ऐसा प्रकट होता है कि राजशेखर भी भामह की तरह प्रतिभा का आत्मनिष्ठ और स्वयविधायक रूप स्वीकार करते हो। किन्तु बात ऐसी नही है। राजशेखर ने भामह और दण्डी, दोनो की परम्परा का समन्वय उपस्थित किया है। इनका मत है कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति मे लावण्य तथा रूप सौन्दर्य जैसा सम्बन्ध है, अर्थात् प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनो सयुक्त रूप से काव्य-रचना मे उपकारिणी होती हैं—"प्रतिभा व्युत्पत्ति-मिश्र समवेते श्रेयस्यौ।" तथापि राजशेखर ने प्रतिभा को व्युत्पत्ति से अधिक महत्त्व दिया है। इन्होने प्रतिभा की मूर्त्तिविधायिनी शक्ति को स्वीकार करते हुए लिखा है कि 'जिसमे प्रतिभा नही है, उसके लिए प्रत्यक्ष दीखते हुए भी अनेक पदार्थ परोक्ष-से मालूम पड़ते हैं और प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति के लिए अनेक अप्रत्यक्ष पदार्थ भी प्रत्यक्ष-से प्रतीत होते हैं।" राजशेखर की 'प्रतिभा' का यह पक्ष आधुनिक काव्यालोचन की 'कल्पना' से अत्यन्त साम्य रखता है, क्योकि कल्पना मे भी अदृश्य अथवा अदृष्ट को दृश्य अथवा दृष्ट रूप मे उपस्थित करने की शक्ति होती है। काव्य मे वर्णित कल्पवृक्ष, राजहस, नन्दनकानन, स्वर्ग-वर्णन, तिलस्मी और ऐयारी उड़ानें, तालतटवासी कवि का समुद्र वर्णन इत्यादि इसी प्रतिभा अर्थात् कल्पना-शक्ति के उदाहरण हैं। राजशेखर ने भी अप्रत्यक्ष देशान्तर, द्वीपान्तर एव कथा-पुरुषो के प्रत्यक्षोपम सजीव वर्णन को इसी मूर्तिविधायिनी और अदृश्य-गोचरकारिणी प्रतिभा का परिणाम माना है। इनके पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने प्राय कवि-प्रतिभा अर्थात् रचनात्मक कल्पना पर ही विचार किया था, किन्तु, इन्होने उस भावयित्री प्रतिभा अर्थात् ग्राहिका कल्पना पर भी विचार किया है, जो भावक, पाठक अथवा आलोचक के पास रहती है। इसी भावयित्री प्रतिभा या ग्राहिका कल्पना के द्वारा पाठक आलोचक की रस-सवेदना काव्य निबद्ध रस-दशा तक पहुँच पाती है। इस तरह राजशेखर ने प्रतिभा (कल्पना) के एक महत्वपूर्ण पक्ष को, जो प्राचीन काव्यशास्त्र मे उपेक्षित सा था, प्रथम बार प्रकाश मे लाने का प्रयास किया है। इस प्रसग मे यह भी ध्यातव्य है कि प्रतिभा-विवेचन मे राजशेखर द्वारा निरूपित सारस्वत कवि की सहजा[1] कारयित्री

1 राजशेखर के अनुसार प्रतिभा दो प्रकार की होती है—कारयित्री और भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा कवि की उपकारक होती है। यह तीन प्रकार की मानी गयी है—सहजा, आहार्या और औपदेशिकी। पूर्वजन्म के सस्कारों मे प्राप्त जन्मजात प्रतिभा सहजा, शास्त्र एव काव्यों के अभ्यास से उत्पन्न प्रतिभा आहार्या तथा मन्त्र-तन्त्र देवता गुरु आदि के वरदान या

'प्रतिभा' कालरिज, क्रोचे एव अन्य अनेक आधुनिक विचारकों की बिम्बविधायिनी 'कल्पना' से पृथुल साम्य रखती है।

राजशेखर की तरह भट्टतोत द्वारा निरूपित प्रतिभा भी आधुनिक काव्यालोचन की 'कल्पना' मे बहुत साम्य रखती है। इन्होने कहा है कि नये-नये अर्थों का उन्मीलन करनेवाली प्रज्ञा ही प्रतिभा है— प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।' इस तरह कल्पना मे जो नूतन निर्माण की आवर्तक क्षमता होती है, उसे भट्टतोत का 'नवनवोन्मेष' बहुत अच्छी तरह व्यजित करता है। किन्तु कुछ प्राचीन आचार्यों ने प्रतिभा का विवेचन इस प्रकार किया है कि उससे हमे कल्पना के सन्दर्भ में कोई तथ्य प्राप्ति नही होती है। जैसे, कुन्तक का कहना है कि पूर्वजन्म तथा इस जन्म के सस्कार के परिपाक से पुष्ट होनेवाली विशिष्ट कवित्व शक्ति ही प्रतिभा है—'प्राक्तनाद्यतन सस्कार परिपाक प्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्ति।'[1] आलोचको का कथन है कि प्रतिभा विवेचन मे कुन्तक ने रसवाद और अलकारवाद का मध्यवर्ती पथ ग्रहण किया है। अत प्रतिभा के सम्बन्ध मे इनका दृष्टिकोण समन्वयवादी है। तदनन्तर प्राचीन काव्यशास्त्र के अनन्य मनीषी आचार्य अभिनवगुप्त का प्रतिभा विवेचन हमारे सामने आता है। इन्होने प्रतिभा को अपूर्ववस्तु निर्माण क्षमा प्रज्ञा के अर्थ मे स्वीकार किया है। इन्होने भी प्रतिभा को ऐसा व्यापार माना है जिससे कारणकलाप के बिना ही अपूर्ववस्तु का निर्माण होता है—'अपूर्व यद् वस्तु प्रथयति विना कारणकलाम्।'[2] यह प्रतिभा भी शिव मे सतत विश्राम करनेवाली परा प्रतिभा की भाँति विलक्षण विश्व का उन्मीलन करती है। अभिनवगुप्त ने प्रतिभा को वामन के 'जन्मान्तरागत सस्कार विशेष कश्चित्' की तरह एक प्राक्तन सस्कार माना है—'अनादि प्राक्तन सस्कार प्रतिभानमय।' इस प्रसग म यह स्मरणीय है कि भट्टतोत ने और विशेषकर अभिनवगुप्त ने (कल्पना के अर्थ मे) प्रतिभा की सर्वाधिक सटीक व्याख्या प्रस्तुत की है। हम जानते हैं कि कल्पना सामान्यत मानसिक रूप सृष्टि की शक्ति के अर्थ मे प्रयुक्त होती है। अभिनवगुप्त ने भी स्पष्टत प्रतिभा को नवनवरूपविधायिनी मानसिक शक्ति के अर्थ मे स्वीकार किया है— प्रतिभा अपूर्व वस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा।'[3] इस तरह

सारस्वत आभ्यासिक और औपदेशिक।—काव्य मीमासा अनु केदारनाथ शर्मा सारस्वत विहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना 1954 पृ 29।

1 कुन्तक के अनुसार अम्लान प्रतिभा के द्वारा ही शब्द और अर्थ मे नवीन चमत्कार प्रस्फुटित होता है—

अम्लान प्रतिभोद्भिन्न नवशब्दार्थबन्धुर ।
अयत्नविहितस्वल्पमनोहारि विभूषण ॥

—हिन्दी वक्रोक्ति जीवित आत्माराम एण्ड सन्स 1955 पृ 104

2. ध्वन्यालोक लोचन चौखम्बा संस्कृत सिरीज 1940 पृ 1 (मंगल श्लोक)।

3. वही पृ 92

कल्पना मे मानसिक रूप-विधान, बिम्ब-विधान अथवा मूर्तविधान की जो शक्ति होती है, जिसे कालरिज ने 'एजेम्प्लास्टिक पावर' कहा है, उसे प्रतिभा-विवेचन मे प्रतिष्ठित करने का श्रेय अभिनवगुप्त को ही है। सक्षेप मे, अभिनवगुप्त का मन्तव्य यह है कि रसात्मक परिवेश मे (तथ्या विशेषो रसावेश वैशद्य सौन्दर्य काव्य-निर्माणक्षमत्वम्) नये-नये रूपो की सृष्टि करनेवाली प्रज्ञा ही प्रतिभा है। इतना ही नही, अभिनवगुप्त ने जहाँ 'शक्ति' को प्रतिभा रूप मे स्वीकार करते हुए यह लिखा है—'शक्ति प्रतिमान वर्णनीय वस्तु-विषयनूतनोल्लेखशालित्वम्'[1]—वहाँ इन्होने प्रतिभा को कल्पना के और भी निकट ला दिया है। कारण, कल्पना मे भी प्रस्तुत विषय को एक नूतन परिवेश और सयोजन देकर नवीन तथा अभिराम अवर्ण्य अथवा अप्रस्तुत के सृजन की क्षमता रहती है।[2] अन्तर यह है कि ध्वनिवादी आचार्यों ने प्रतिभा-विवेचन मे आध्यात्मिक रहस्य की बहुत झलक देखी है, जो कल्पना के आधुनिक निरूपण से मेल नही खाती। तथापि, आध्यात्मिक तत्त्व-रहस्य की झलक के रहने पर भी हम ध्वनिवादियो की 'प्रतिभा' और कालरिज की 'कल्पना' (प्राइमरी इमाजिनेशन) मे प्रचुर साम्य पाते हैं, क्योकि कालरिज ने तो 'कल्पना' मे ससीम के बीच असीम की झलक देखी थी। इतना ही नही, ब्लेक[3] और शैली ने कल्पना को स्वर्गीय विभूति के रूप मे स्वीकार किया था। अत. अध्यात्म-तत्त्व से उपेत ध्वनिवादियो की 'प्रतिभा' रोमाण्टिक कवियो की 'कल्पना' से बहुत साम्य रखती है।

1 ध्वन्यालोक लोचन, पृ 317, तृतीय उद्योत, चौखम्बा सस्कृत सिरीज, 1940।

2 इसलिए डॉ. सत्यव्रतसिंह का यह कथन कुछ उचित प्रतीत होता है कि काव्य मे रस-ध्वनि-तत्त्व के द्रष्टा आचार्यों की प्रतिभा सम्बन्धी धारणा अपने आपमे इतनी पूर्ण है कि पाश्चात्य काव्यालोचकों की कवि-कल्पना (पोयेटिक इमाजिनेशन) सम्बन्धी सभी विश्लेषण-दृष्टियाँ इसमे समा जाती हैं और तब भी इसके लिए यही कहा जा सकता है कि यह इन सब कल्पनाओं से परे किन्तु इन सब कल्पनाओं का अक्षय स्रोत है।'—हिन्दी काव्यप्रकाश, चौखम्बा विद्याभवन, काशी, 1955, भूमिका, पृ 14।

3 रोमाण्टिक कवियो के बीच विलियम ब्लेक ने कल्पना की इस स्वर्गीयता मे अपने विश्वास को बहुत ही उत्साह के साथ व्यक्त किया है—' दिस वर्ल्ड ऑव इमाजिनेशन इज द वर्ल्ड ऑव इटर्निटी ' दिस वर्ल्ड ऑव इमाजिनेशन इज इनफिनाइट एण्ड इटर्नल ' ' " इस तरह ब्लेक ने कल्पना जगत् को एक 'ट्राम्सल्यूनर पैरेडाइज' माना है। रोमाण्टिक कवियो में कीट्स और शैली ने भी कल्पना के इस पक्ष को महत्त्व दिया है। हिन्दी के छायावादी कवि पन्त का मन्तव्य भी इसी कोटि का है—' मैं कल्पना के सत्य को सबसे बडा सत्य मानता हूँ और उसे ईश्वरीय प्रतिभा का अश भी मानता हूँ।" — (आधुनिक कवि, पृ 39)। वस्तुत काव्य को रहस्यात्मक महिमा प्रदान करनेवाले तत्त्वो मे कल्पना का उल्लेख्य स्थान है, क्योकि कवि रहस्यगर्भित तथ्यो को कल्पना के द्वारा ही धयुमान्, मधु-स्निग्ध और चर्वणासुलभ बनाता है।

प्रतिभा और कल्पना के इस तुलनात्मक विवेचन मे यह भी स्मरणीय है कि पाश्चात्य कला-चिन्तन मे कल्पना जहाँ एक मानसिक शक्ति के रूप मे विवेचित हुई है, वहाँ भारतीय काव्य-सिद्धान्त मे प्रतिभा के दो रूपो—प्रख्या और उपाख्या को आत्मा की शक्ति के रूप मे भी स्वीकार किया गया है।

अब हम पाश्चात्य, विशेषकर आग्ल साहित्य मे निरूपित कल्पना पर विचार करेंगे। यो तो कालरिज के कल्पना सिद्धान्त पर ही हम मुख्यत विचार करेंगे, क्योकि कल्पना का तात्त्विक विवेचन हमारा अभिप्रेत विषय है न कि कल्पना-सिद्धान्त का क्रमिक अथवा ऐतिहासिक विकास, तथापि हम कल्पना की तात्त्विक विवेचना की अनुकूल पृष्ठिका प्रस्तुत करने के लिए कालरिज के कुछ पूर्ववर्त्ती और परवर्त्ती विचारको की सक्षिप्त आनुक्रमिक चर्चा करेंगे।

प्रारम्भिक विचारको मे प्लेटो ने कल्पना के विषय मे कोई चिन्तन-गर्भ या सौन्दर्यशास्त्र के लिए उपयोगी स्थापना नही प्रस्तुत की है। नैतिकता के प्रबल पक्षधर प्लेटो ने असत्य को कल्पना का आधार माना है। इन्होने कल्पना के लिए प्राय 'फैण्टेसिया' शब्द का व्यवहार किया है। इस तरह इनके अनुसार कल्पना एक अवर अलीक सर्जन का साधन है।[1] तदनन्तर, अरस्तू ने यह दृष्टिकोण व्यक्त किया कि कल्पना विचारो को सुसगठित रूप देती है और कल्पना के बिना मनुष्य किसी धारणा को धारण नही कर सकता। इसी दिशा मे सोचते हुए अरस्तू स्कूल के मध्यकालीन विचारको ने यह स्वीकार किया कि कल्पना, तर्क और स्मृति परस्पर सम्बद्ध हैं तथा तर्क के द्वारा कल्पना का नियमन होता है। इसके अलावा मध्य-कालीन विचारक कुछ नई बात नही कह सके, कारण, उनकी अधिक शक्ति कल्पना और 'फैण्टेसी' के अन्तर अथवा पार्थक्य को समझाने मे खर्च हो गयी। और, इस सम्पूर्ण पार्थक्य-निरूपण से यह फलितार्थ निकाला गया कि कल्पना से अधिक सम्बन्ध कवि का है और फैण्टेसी[2] से निकट सम्बन्ध सगीतज्ञ, गणितज्ञ तथा वास्तु-कार का है। कुछ विचारको ने तो प्लेटो की नैतिकतावादी धारणा को पुनरुज्जीवित करते हुए कल्पना को अत्यन्त निकृष्ट सिद्ध किया। जैसे, हॉब्स की दृष्टि मे कल्पना एक ध्वसात्मक शक्ति है तथा जागतिक प्रेय की क्रीतदासी है। इन्होने कल्पना को

1 दृष्टव्य—'रिपब्लिक' मे 'मिथ' का प्रसग और 'सिम्पोजियम'।

2. 'फैण्टेसी' को हम कल्पना की उन्मुक्त क्रीडा कह सकते हैं। किन्तु, वाद्यसगीत के विधान-विवेचन मे 'फ़ैण्टेसी' शब्द का प्रयोग एक दूसरे अर्थ मे भी होता है। द ह्यू मैनिटीज, ले डडले फैरिसॉ, पृ 411। कभी-कभी 'फैण्टेसी' से भी कलासृष्टि होती है। ऐसी कला सृष्टि में 'कौतुक' की प्रधानता रहती है। यदि 'स्वश दवाच्यत्व दोष' को भूलकर देखा जाय तो बर्चफील्ड (Burchfield) की चित्र-कृति 'ऑटम्नल फैण्टसी' मे 'फ़ैण्टेसी' का सारा कौतुक विद्यमान है। दृष्टव्य—द पॉकेट हिस्ट्री ऑफ़ अमेरिकन पेण्टिग, ले जेम्स थोमस फ्लेक्सनर, न्यूयार्क, 1950 में प्लेट सख्या, 42।

'डिवेयिग सेन्स' कहा है। अत यह स्पष्ट है कि इन विचारको का कल्पना-सिद्धान्त नन्दतिक दृष्टि से कितना हीन था। दूसरी ओर काण्ट और हीगेल-जैसे दार्शनिको ने भी कल्पना पर दार्शनिक दृष्टि से विचार किया। काण्ट के अनुसार कल्पना बोध-जगत् और प्रत्यय-जगत् के बीच सयोजन-सूत्र का काम करती है। इन्होने 'क्रिटीक ऑव प्योर रिजन' मे कल्पना को मन की सस्थिति-विशेष ('एटिच्युड ऑव माइण्ड') के रूप मे स्वीकार किया है। आगे चलकर इन्होने कल्पना, समन्वय (सिन्थेसिस) और विचार चित्र ('स्केमटा') के विश्लेषण के प्रसग मे कल्पना के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए दो महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं—1 कल्पना आत्मा की अन्ध, किन्तु अपरित्याज्य क्रिया है। और, 2 कल्पना वह शक्ति है, जो उस अप्रस्तुत वस्तु को भी, जिसका गोचर प्रत्यक्ष या सवेद्य सम्पर्क प्राप्त नही है, सहजानुभूति का अग बना देती है।[1] तदनन्तर, काण्ट ने विनियोग की दृष्टि से कल्पना के दो स्वरूपो को उपस्थित किया है—पुनरुत्पादक स्वरूप और उत्पादक स्वरूप। पुनरुत्पादक कल्पना ऐन्द्रिय अथवा वस्तु-बोध-निर्भर अनुभूतिपरक सहजानुभूति ('एम्पिरिकल इण्ट्यूशन') को बिम्बो मे परिवर्तित करती है। कल्पना की इस बिम्बविधायक प्रक्रिया मे आसगो ('एसोसियेशन') का महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है। इसलिए काण्ट ने कल्पना को, कुछ सीमा तक, प्रत्यक्ष का अश भी माना है। किन्तु, कल्पना मे, जैसा ऊपर कहा गया है, केवल पुनरुत्पादन की शक्ति ही नही रहती है, वह अपने विनियोग मे बोध और प्रभावो ('सेन्स एण्ड इम्प्रेसन') का सयोजन भी वस्तुओ के बिम्ब विधान के निमित्त करती है। इसलिए पुनरुत्पादक कल्पना मे प्रभावो की ग्रहण-शक्ति के अलावा सृजनक्षमता की आवश्यकता होती है, जिसे हम कल्पना की 'समन्वय-शक्ति' कह सकते हैं। हम आगे चलकर देखेंगे कि काण्ट की इस पुनरुत्पादक कल्पना को ही कॉलरिज ने 'प्राइमरी' इमाजिनेशन कहा है। बहुत गहराई मे देखने पर दोनो के बीच कुछ दृष्टिभेद भी प्रतीत होता है। जैसे, काण्ट के अनुसार पुनरुत्पादक कल्पना ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष पर निर्भर अमूर्त्त सहजानुभूतियो को अभिज्ञेय और सम्बन्ध निबन्धक विधानो मे बाँधकर बोधगम्य बनाती है, किन्तु कॉलरिज 'प्राइमरी इमाजिनेशन' को प्रत्यक्ष बोध से भिन्न कोई दूसरी शक्ति नही मानते हैं। इनके अनुसार 'प्राइमरी इमाजिनेशन' का क्षेत्र प्रत्यक्ष-बोध के अन्तर्गत है। अन्तर है इनके विधायकत्व मे। अब काण्ट की उत्पादक कल्पना पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। यह उत्पादक कल्पना एक ऐसी अयास और आत्मनिर्भर शक्ति है, जो सहजानुभूति को विचारचित्र बना देती है, क्योकि सहजानुभूतियाँ निराकार चिन्तन हुआ करती हैं। इस प्रसग मे काण्ट ने बिम्ब और विचार-चित्र के अन्तर

1 कमेण्टरी टु काण्टस क्रिटीक ऑव प्योर रीजन, ले. नामन केम्प स्मिथ पृ 112 165, 182

को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। इनके अनुसार बिम्ब भावनाओं से वेष्टित प्रत्यक्ष है और कल्पना की अनिवार्य एवं लघुतम इकाई भी। इन्हीं इकाइयों के संयोजन अथवा समीकरण से कल्पना को अन्विति मिलती है। इसके विपरीत विचारचित्र धारणात्मक (कन्सेप्चुअल) हुआ करता है और भावनाओं से इसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। सच पूछा जाय तो विचार-चित्र एक प्रकार से धारणाओं का बौद्धिक भावानयन है। इसीलिए काण्ट ने विचार चित्र को 'डायग्राम्स ऑव आइडियाज' कहा है। जिस प्रकार बिम्ब कल्पना की अनिवार्य और लघुतम इकाई है, उसी प्रकार विचार-चित्र विश्लेषणात्मक या सैद्धान्तिक चिन्तन की लघुतम इकाई है। संक्षेप में, बिम्ब पुनरुत्पादक कल्पना से बनते हैं और सर्वत्र 'विशेष' होते हैं, जबकि विचार-चित्र उत्पादक कल्पना से निष्पन्न होते हैं और सर्वदा 'सामान्य' रहते हैं। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि कल्पना के प्रति काण्ट का सम्पूर्ण दृष्टिकोण दार्शनिक है।[1] अतः इन्होंने इस सन्दर्भ में कला-चिन्तन को कोई सुविचारित रमणीयता देने की कोशिश नहीं की है। फलस्वरूप, इनकी कल्पना, बिम्ब और विचार चित्र सम्बन्धी मान्यताओं को हम कला के व्यापक तत्त्व निरूपण या सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। उदाहरणार्थ, कला के क्षेत्र में जितने भी बिम्ब आते हैं, उनमें प्रत्यक्षीकरण के साथ ही भावोद्वेलन के वहन की क्षमता अवश्य रहती है, किन्तु, काण्ट की दृष्टि में बिम्बों के लिए प्रत्यक्षीकरण की प्रचुरता ही अलम् है। इस तरह काण्ट ने कल्पना को विचारणा ('आइडियेशन') के अत्यन्त समीप ला दिया है। दूसरी बात यह है कि इन्होंने कल्पना को एक ऐसी बिम्ब-विधायक शक्ति के रूप में स्वीकार किया है, जिसका मुख्य लक्षण मन को उन पदार्थों का बोध देना है जो वस्तुतः इन्द्रियग्राह्य नहीं हैं अथवा जिनका ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष मन को नहीं मिल सका है। किन्तु कला का कल्पना के इस इन्द्रियातीत पक्ष से कम सम्बन्ध है और कलान्तर्गत कल्पना का विवेचन स्वप्न, छायाभास, आमग, प्रातीतिक बिम्ब (आइडियेटिक इमेजरी),[2] इत्यादि को दृष्टिगत रखकर किया जाता है। तीसरी बात यह है कि काण्ट ने सम्पूर्ण ज्ञान को विषय और विषयी के माध्यम से समझने की चेष्टा की है। इन्होंने ज्ञान को 'इदम्' के प्रति 'अहम्' की सजगता के रूप में स्वीकार किया है। किन्तु इन दो आधारों पर जब ये यथार्थ ग्रहण और तर्कात्मक ग्रहण ('रियल अण्डरस्टैण्डिंग' और 'लॉजिकल अण्डरस्टैंडिंग)

1 *E J Furlong* जैसे कुछ अत्याधुनिक पाश्चात्य विचारकों ने भी ह्यूम और काट की परम्परा का अनुसरण कर कल्पना पर प्रधानतः दार्शनिक दृष्टिकोण से विचार किया है और कल्पना के प्रति सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण को नितान्त उपेक्षित स्थान दिया है। द्रष्टव्य -Imagination by *E J Furlong*, Professor of Moral Philosophy in the University of Dublin New York, 1961

2 प्रातीतिक बिम्ब को कालरिज ने आप्टिकल स्पेक्ट्रा कहा है।

के नाम से ज्ञान का दो टूक विभाजन नही कर सके, तब इन्होने इन दोनों के मध्य मे पडनेवाली स्थिति को, जो ऐन्द्रिय और अतीन्द्रिय—दोनो क्रियाओ का उपलक्ष्य हो सकती है, 'कल्पना' के नाम से अभिहित कर दिया। इस तरह इनकी कल्पना यथार्थ ग्रहण और तर्कात्मक ग्रहण के बीच की मध्यस्थ कडी है, जो सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से विशेष उपयोगी नही है।[1]

उक्त आलोचना केवल काण्ट के ही कल्पना-निरूपण पर लागू नही होती, बल्कि यह तो एडिसन के पूर्ववर्ती प्राय सभी विचारको के कल्पना-सिद्धान्त की सीमा है। प्लेटो के प्रसग मे भी हम इस सीमा का सकेत कर चुके हैं। हमने देखा कि कला चिन्तना के प्रारम्भिक विचारो ने सामान्यत प्रतीति ('एपीयरेन्स')और यथार्थ (रियलिटी') के भेद को दृष्टिगत रखते हुए कल्पना पर विचार किया है। इस दृष्टि से कल्पना एक ऐसी शक्ति प्रतीत होती है, जो किसी पदार्थ के सम्पृक्त आधार के बिना भी बिम्बो का विधान कर सकती है। अर्थात् कल्पना निराधार सृजन की क्षमता है। प्लेटो जैसे दार्शनिक ने भी कल्पना के प्रति ऐसा ही दृष्टिकोण रखा था।

यह सीमा तो एडिसन के कल्पना-निरूपण के बाद समाप्त हुई। इसके पूर्व कल्पना के तथाकथित दार्शनिक स्वरूप पर ही विचार होता रहा था और उसका काव्यगत अथवा कलात्मक महत्त्व उपेक्षित सा था। इस अभाव की पूर्ति एडिसन ने की। सर्वप्रथम, इन्होने (ऑन द प्लेजर्स ऑव द इमाजिनेशन' शीर्षक निबन्ध मे कल्पना के काव्यगत मूल्य की व्याख्या की तथा कल्पना का सम्बन्ध बिम्बविधान और रसग्राहकता से जोडा। इन्होने तर्क और स्मृति की तुलना मे कल्पना को सर्वोपरि मानते हुए यह सिद्ध किया कि रचनात्मक शक्ति की दृष्टि से कल्पना सर्वाधिक समृद्ध है। इनकी दूसरी मान्यता यह रही कि कल्पना का अधिकाश सम्बन्ध उन बिम्बो से है, जिनका श्रेय सामान्यत हमारी दृष्टि (चाक्षुप व्यापार) को है। इनकी तीसरी महत्त्वपूर्ण मान्यता यह है कि चाक्षुप व्यापारा से निर्मित, सम्बद्ध अथवा प्रभावित इस कल्पना का अधिकरण सम्पूर्ण प्रकृति और ललितकला है। इस क्रम मे इनकी एक ध्यातव्य विशेषता यह रही कि इन्होंने कल्पना और

1 सेप्टिसिज्म एण्ड पोयेट्री ले डी जी जेम्स, ज्यॉर्ज एलेन एण्ड अनविन, लन्दन, 1960, पृ 18 24। कॉलरिज ने अर्थग्रहण ('अण्डरस्टैण्डिंग') और कल्पना के भेद को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि मन का किसी एक बिम्ब पर स्थिर अथवा एकनिष्ठ हो जाना अर्थग्रहण है। शायद, काट ने इसे ही 'इण्टेलेक्चुअल सिन्थेसिस' कहा है। लेकिन जब मन किसी एक बिम्ब पर स्थिर न होकर दो या अनेक बिम्बो के बीच दोलायमान स्थिति म रहता है और अन्तत किसी एक को स्वायत्त नहीं कर सकता, तब मन की इस अवस्था को हम कल्पना की दशा कहते हैं। निश्चय ही कॉलरिज की इस स्थापना में काट की अपेक्षा अधिक स्पष्टता है।

तन्निर्मित बिम्बों का सम्बन्ध 'एसोसिएशनल साइकॉलोजी' से माना तथा कल्पना के अन्तर्भूत तत्त्वों में स्मृति और आसंग को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। साथ ही, इन्होंने कल्पना से मिलनेवाले आनन्द (जो कलात्मक अनुकरण से प्राप्त आनन्द के साथ सादृश्य रखता है) के दो प्रकारों का निरूपण किया—'प्राइमरी प्लेजर' और 'सेकेण्डरी प्लेजर'। इनके अनुसार कल्पना का प्राथमिक आनन्द हमें वहाँ मिलता है जहाँ हम प्राकृतिक वस्तुओं के वास्तविक प्रत्यक्ष से साधारण अनुभूतियाँ प्राप्त करते हैं और कल्पना का द्वितीय आनन्द हमें वहाँ मिलता है, जहाँ हम प्रत्यक्षीकृत प्राकृतिक वस्तुओं के (कलात्मक अनुकरण द्वारा प्रस्तुत किये गये) तादृश पुनः प्रत्यक्षाधायक प्रतिरूपों का अवलोकन करते हैं। इस तरह एडिसन द्वारा निरूपित कल्पना के द्वितीय आनन्द और कलात्मक अनुकरण से उपलब्ध होनेवाले आनन्द में कोई विशिष्ट पार्थक्य या तात्त्विक अन्तर नहीं दीख पड़ता है। हाँ, यह बात अवश्य उल्लेखनीय है कि एडिसन ने कल्पना के द्वितीय आनन्द (जिसे इन्होंने प्राथमिक आनन्द की तुलना में श्रेष्ठ स्वीकार किया है) *का चाक्षुष प्रत्यक्ष, चाक्षुष संवेग और चाक्षुष बिम्ब से विशेष घनिष्ठ सम्बन्ध* माना है। इस चाक्षुष सम्बन्ध की घनिष्ठता सचमुच विचारणीय है, क्योंकि किसी भी कलाकार की कल्पना की श्रेष्ठता का निर्णय कल्पना में समाविष्ट ऐन्द्रिय तत्त्वों की मात्रा से ही हो सकता है। जिस कल्पना में ऐन्द्रिय तत्त्व जितना ही अधिक होता है, वह कल्पना उतनी ही उत्कृष्ट होती है। कल्पना का जादू यही है कि सामान्यतः इन्द्रियगम्य रूप में दुःखद प्रतीत होनेवाली वस्तुएँ भी कल्पना के स्पर्श से नन्दतिक सुख देनेवाली बन जाती हैं। जैसे, स्विनबर्न की इस पंक्ति में—'एण्ड सोर्ड लाइक वाज द साउण्ड ऑव द आइरन विण्ड'—तलवार और लोहा भी *कलात्मक बन गये हैं। अतः एडिसन ने कल्पना की* ऐन्द्रियता, विशेषकर उसके चाक्षुष पक्ष पर बल देकर चिन्तन के लिए एक समृद्ध दिशा दी है। किन्तु, निष्कर्षात्मक टिप्पणी देते हुए इतना कह देना आवश्यक है कि एडिसन ने कल्पना पर 'स्पेक्टेटर' (विशेषकर जून और जुलाई, 1712 ई० के अंक) में जितने लेख लिखे थे, वे एक शीर्षक पर होते हुए भी फुटकर रूप में लिखे गये थे। इसलिए उनमें एकसूत्रता का ऐसा अभाव है कि इनका दृष्टिकोण यत्र-तत्र कुछ उलझ सा गया है। पुनः हम जहाँ यह कह सकते हैं कि एडिसन ने ही सर्वप्रथम कल्पना पर साहित्यिक दृष्टि से व्यवस्थित विचार किया, वहाँ हमें यह भी स्वीकार करना चाहिए कि एडिसन के कल्पना सिद्धान्त पर हॉब्स और लॉक की उन दार्शनिक विचारणाओं का पर्याप्त प्रभाव है जिन्हें साधारणतः 'सेन्सेशनलिज्म' के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है।

एडिसन के बाद कल्पना के तात्त्विक विचारकों में कॉलरिज का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। किन्तु, कॉलरिज के कुछ समकालीनों, यथा वर्ड्सवर्थ, ब्लेक,

शैली, कीट्स इत्यादि ने भी कल्पना पर कुछ चलदृष्टियाँ प्रस्तुत की हैं।[1] अत इनकी संक्षिप्त चर्चा के उपरान्त हम कॉलरिज के कल्पना-सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना करेंगे।

ब्लेक के अनुसार सहजानुभूति-सम्पन्न अन्तर्मुख व्यक्तियों की कल्पना-शक्ति अधिक समृद्ध होती है।[2] ऐसे व्यक्तियों की अन्तर्मुख सहजानुभूति (इण्ट्रोवर्टेड इण्ट्यूशन) को ब्लेक ने 'डबल विज़न' कहा है, क्योंकि सहजानुभूति-सम्पन्न अन्तर्मुख व्यक्ति के पास वस्तु-जगत् के अलावे एक भाव-जगत् भी रहता है।[3] इस तरह

1 सभी रोमाण्टिक कवि—ब्लेक, कॉलरिज, वर्ड्सवर्थ, शैली और कीट्स—अन्य मान्यताओं में मतान्तर रखते हुए भी कल्पना को मुख्यता देने में एकमत हैं। अठारहवीं शताब्दी के पूर्व कविता में कल्पना को यह महत्त्व प्राप्त नहीं था। पोप, जान्सन, ड्राइडन इत्यादि ने अगर कल्पना का क्वचित् प्रयोग किया भी था, तो अत्यन्त सीमित अर्थ में। रोमाण्टिक युग, तत्त्वतः, कल्पना के सीमाहीन स्फुरण और उसकी आत्यन्तिक स्वीकृति का काल है। पूर्ववर्ती युग में कल्पना के बदले न्याय भावना (जजमेण्ट) से नियन्त्रित 'फैन्सी' को स्थान मिला था। फलस्वरूप, तत्कालीन कवि नवीन भाव-लोक के सृजन की अपेक्षा जागतिक परिचिति और तत्सम्बन्धित दृष्टि-चैतन्य को ही अधिक संवेदनशील बनाकर प्रस्तुत किया करता था। अत वह अदृश्य और परात्पर के उद्घाटन की अपेक्षा गोचर और अनुभूत तथ्यों का विधिवत भाष्य प्रस्तुत करने के कारण स्रष्टा की जगह व्याख्याता की कोटि में ही रह जाता था। उसका उद्देश्य जीवन के विगोपित रहस्यों का अनावरण अथवा मूल्यांकन न होकर जीवन के सामान्य परिचित क्षणों को यथाशक्य सत्य एवं सुन्दर बनाकर उपस्थित करना था। किन्तु, रोमाण्टिक कवियों के लिए इन सबसे ऊपर कल्पना का चूडान्त महत्त्व था। रोमाण्टिक कवियों का कल्पना में यह निष्कम्प विश्वास समकालीन जीवन-दर्शन के उदग्र व्यक्ति-बोध का एक फलितांश था। ये व्यक्तिवादी कवि कल्पना की अद्भुत शक्ति के ऐसे विश्वासी थे, जो इसके तिरस्कार को जीवन और जगत् की अस्वीकृति मानते थे। यह कल्पना उन्हें सृजन की अभिनव स्फूर्ति देकर स्रष्टा बना सकी और इनके सृष्ट को अप्रत्याशित शक्तिवन्त। अत इन्होंने कल्पना के सहारे नवीन मनोजगत् की रचना कर कविता की पारम्परीण प्रयुक्तियों और प्रयोगों को खुली चुनौती दी। रोमाण्टिक कवियों की कल्पना के प्रति इस महत्त्व-दृष्टि के पीछे तत्त्व दर्शन की पृथुल मान्यताएँ और उनकी प्रतिक्रियाएँ थीं।—द रोमाण्टिक इमाजिनेशन, ले सी एम. बाउरा (द चार्ल्स इलियट नॉर्टन लेक्चर्स)।

2. द्रष्टव्य—पोयेट्री एण्ड प्रोज़ ऑव विलियम ब्लेक, सम्पादक, ज्योफ़ेरी केयनीज, लन्दन, प्रथम संस्करण।

3 ब्लेक ने एक जगह लिखा है—

—Letter to Butts

ब्लेक ने कल्पना के प्रसग मे सहजानुभूतिक अन्तर्मुखीनता को अतिशय महत्त्व दिया है। इनका तो यहाँ तक कहना है कि वस्तु-जगत् की बाह्य वस्तुएँ कल्पना शक्ति को कुठित कर देती हैं। सम्भवत इसी कारण ब्लेक और वड्संवर्थ की कल्पना-सम्बन्धी मान्यताओं मे हमे अन्तर प्रतीत होता है। वड्संवर्थ ने प्रकृति को कल्पना के लिए उपकारी माना है और ब्लेक ने अपकारी, क्योकि प्रकृति सहजानुभूतिक और वस्तुगत- दोनो प्रकार के सत्यो पर एक पर्दा डाल देती है, फलस्वरूप प्रकृति की मध्यस्थता से एक अवरोध पैदा होता है। अत ब्लेक के अनुसार कल्पना-शक्ति की समृद्धि के लिए सहजानुभूति चाहिए, प्रकृति हमे कल्पना नही कुछ प्रतीव भर दे सकती है। इस दृष्टिभेद के कारण हम पाते हैं कि जहाँ वड्संवर्थ ने कवि के लिए पर्यवेक्षण और वर्णन ('ऑब्जर्वेशन एण्ड डेस्क्रिप्शन') को महत्त्वपूर्ण माना है, वहाँ ब्लेक ने केवल कल्पना ('इमाजिनेशन द डिवाइन विजन') को। निष्कर्ष रूप मे हम कह सकते हैं कि ब्लेक ने कल्पना को बहुत ही बृहत् अर्थ मे एक आध्यात्मिक विभावन माना है[1] और एक अनन्त सत्य के रूप मे कल्पना की स्थापना की है। इस प्रकार कल्पना के प्रति ब्लेक का दृष्टिकोण पूर्णत आत्मनिष्ठ और रहस्यात्मक है। इनके अनुसार कल्पना एक ऐसी प्रातिभ शक्ति है, जिसके सहारे मनुष्य बिना तर्क और इन्द्रियबोध की सहायता के 'उस' अनन्त आध्यात्मिक सत्य तक पहुँच सकता है। अत इन्होने कल्पना को एक आध्यात्मिक संवेदन[2] के रूप मे स्वीकार करते हुए यह माना है कि सम्पूर्ण प्रकृति कल्पना के अलावा और कुछ नही है।

अन्य रोमाण्टिक कवियो ने भी कल्पना पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। जैसे, वड्संवर्थ ने वासना के साथ कल्पना का सम्बन्ध जोडते हुए कल्पना की सर्वात्मवादी व्याख्या प्रस्तुत की है, क्योकि वड्संवर्थ के लिए सम्पूर्ण प्रकृति एक जीवित सत्ता थी। इसी प्रकार शैली ने कल्पना को एक विराट् शक्ति के रूप मे ग्रहण करते हुए कल्पना के अतीन्द्रिय रूप-व्यापार की पर्याप्त व्याख्या की। कीट्स ने तो कल्पना को सत्य का हरकारा ही घोषित कर दिया। इन्होने कल्पना की तुलना आदम के सपने से की है। इनके अनुसार कल्पना का

1 *Blake* A Psychological Study by *W P Witcut*, London, 1946, Chapter, 'The Nature of Imagination', Pages 16-22

2 ब्लेक द्वारा निरूपित कल्पना की आध्यामिकता को निर्दिष्ट करते हुए *M B Yeats* ने लिखा है—' He (*Milliam Blake*) had learned from Jacob Boehme and from old alchemist writers that imagination was the first emanation of divinity, 'the body of God', ('the Divine member' and he drew the deduction, which they did not draw, that the imaginative arts were therefore the greatest of Divine revelation "—*M B Yeats*, Essays and Introductions, London, 1961, P 112

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है— सत्य का उद्घाटन। किन्तु, यहाँ हम इन सबो की चर्चा समाप्त कर कॉलरिज के कल्पना-सिद्धान्त पर विस्तृत विचार करेंगे, क्योकि कॉलरिज ने कल्पना-सम्बन्धी विचारणाओ को एक नवीन दिशा दी और सर्वप्रथम, कल्पना के नन्दतिव बोध-पक्ष का ऐसा तात्त्विक उद्घाटन किया, जो आगे चलकर सौन्दर्यशास्त्र के लिए महत्त्वपूर्ण उपजीव्य सिद्ध हुआ। कॉलरिज ने यह मत व्यक्त किया कि कल्पना भावानयन की एक विधि है, जो प्राय सहृतिमूलक और सश्लेषण-प्रधान हुआ करती है। इसलिए कल्पना जीवन मे चिन्तन और क्रिया के बीच एव रागात्मक आन्दोलन प्रस्तुत करती रहती है। कलाओ मे यही कल्पना परिवृत्ति की आश्रयगत अनुभूति को पाठक, दर्शक, श्रोता अयवा सहृदय तक सक्रमित या प्रेपित करने का साधन और माध्यम बनाती है। अत कल्पना को कला के सर्वोपरि मूल्यो का मूल अधिकरण मानना चाहिए। कॉलरिज ने यह विचार भी व्यक्त किया कि कल्पना केवल कवियो की स्वायत्त वस्तु नही है। यह तो सामान्य ज्ञान की सहचरी है। यह अल्पाश में शब्द-रक अकवियो के पास भी रहती है। इस तरह कल्पना सामान्य बोधात्मक अनुभूतियो का विस्तार है। काट ने भी कल्पना की सश्लेषण-वृत्ति मे बोध की अवस्थिति को स्वीकार किया है। किन्तु, हम देख चुके हैं कि काट अपने चिन्तन क्रम मे कल्पना के कलात्मक पक्ष को उद्घाटित करने मे किस प्रकार असमर्थ सिद्ध हुए।

कॉलरिज का कल्पना-सिद्धान्त 'बायग्राफिया लिटरारिया' के तेरहवें परिच्छेद मे मिलता है,[1] जिससे यह पता चलता है कि इनका 'प्राइमरी इमाजिनेशन[2] गेस्टाल्ट साइकालॉजी' के अनुरूप है, क्योकि उसमे विश्लेषण नहीं सश्लेषण और अन्तर्ग्रथन की प्रधानता है। इस 'प्राइमरी इमाजिनेशन' का सम्बन्ध सम्पूर्ण मानव प्रत्यक्ष से है जबकि 'सेकेण्डरी इमाजिनेशन' का सम्बन्ध मनुष्य की चेतन इच्छा ('कॉन्शस

1 'द इमाजिनेशन दैन फिक्स्ड एण्ड डेड।' इस अवतरण के हिन्दी अनुवाद के लिए द्रष्टव्य—पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, सम्पादिका, डॉ सावित्री सिन्हा, दिल्ली, पृ 166।— मेरे विचार में कल्पना या तो मुख्य होती है या गौण। मुख्य कल्पना ता मेरे अनुमार समस्त मानवीय ज्ञान की जीवन्त शक्ति और प्रमुख माध्यम होती है वह असीम में होनेवाली अनन्त सृजन प्रक्रिया की ससीम मन मे आकृति होती है। गौण कल्पना को मैं मुख्य कल्पना की छायामात्र समझता हूँ, सचेतन सकल्प शक्ति के साथ उसका सहअस्तित्व होता है, परन्तु फिर भी माध्यम का प्रकार वह वैसी ही होती है जैसी मुख्य कल्पना—अन्तर होता है मात्रा का और क्रिया विधि का। पुन सृजन के निमित्त उसका तिरोधान, विकिरण विघटन होता है जहाँ वह प्रक्रिया असम्भव होती है वहाँ भी आदर्शीकरण तथा एकीकरण का प्रयत्न तो होता ही है। वह मूलत सजीव होती है—वैसे ही जैसे (वस्तुओ के रूप में) सभी वस्तु मूलत अचल और निर्जीव होती हैं।'

2 काण्ट ने 'क्रिटीक आव प्योर रीजन' में जिसे 'रिप्रोडक्टिव इमाजिनेशन' कहा है, उसे ही कॉलरिज ने 'प्राइमरी इमाजिनेशन' के नाम से अभिहित किया है।

बिल') में है। इस प्रकार कॉलरिज ने कल्पना को मनुष्य की उस सर्वोत्कृष्ट शक्ति के रूप में स्वीकार किया है, जो मनुष्य को उसकी सम्पूर्णता में क्रियमाण बना देती है। अत हम यह कह सकते हैं कि कॉलरिज ने एक कलाकार-दार्शनिक की भूमिका में रहकर कल्पना की सौन्दर्यशास्त्रीय और आस्तिक व्याख्या की है।

कॉलरिज की कल्पना-सम्बन्धी प्रारम्भिक विचारणाओं पर डेविड हर्ट्ले की दार्शनिक मान्यताओं का—विशेषकर आसग-सिद्धान्त–'थ्योरी ऑव एसोसिएशन' का प्रचुर प्रभाव है, जिसे कॉलरिज ने आगे चलकर कांट से प्रभावित होने के कारण लगभग छोड़ दिया। प्रारम्भ में कॉलरिज पर हर्ट्ले का यह प्रभाव इतना मुखर था कि कॉलरिज ने अपने प्रथम पुत्र का नाम भी हर्ट्ले रखा था।[1] किन्तु, कुछ काल पश्चात् जब कॉलरिज ने मनन और निदिध्यासन के सहारे दार्शनिक चिन्तन की गहराइयों में प्रवेश किया, तब इन्होंने हर्ट्ले के प्रभाव से मुक्ति पा ली। इसलिए कॉलरिज के उत्तरकालीन दार्शनिक ऊहापोह और निर्वचन में कांट, फिख्ते और शेलिंग का सीधा प्रभाव पाते हैं। कुल मिलाकर कॉलरिज अपनी उत्तरकालीन विवेचनाओं में *हमारे समक्ष एक आदर्शवादी आध्यात्मिक विचारक के रूप में आते* हैं।[2] यो तो काव्य, कला और कल्पना के सम्बन्ध में इनके विचार यत्र-तत्र और छिटपुट मिलते हैं, जिनमें से कुछ स्वतोव्याघात दोष से पीडित हैं, तथापि इनके ग्रन्थों, लेखों, भाषणों, पत्रों, इत्यादि के आधार पर एक निश्चित नन्दतिक दृष्टिकोण का सकेत मिलता है। यह अवश्य है कि तत्त्व चिन्तन ('मेटाफिजिक्स') से अतिशय प्रभावित रहने के कारण इनके विचारों में भौतिक ऊर्जा का अभाव है, जिससे इनकी मान्यताएँ कभी-कभी अस्पष्ट प्रतीत होती हैं।

कॉलरिज ने आनन्द को (सत्य को नहीं) काव्य का आशु प्रयोजन माना है। यह आनन्द काव्य के खण्ड तथा सम्पूर्ण में एकरस अनुस्यूत रहता है और काव्य-निबद्ध सौन्दर्य से उत्थित होता है। पुन तत्त्व चिन्तन से अत्यधिक प्रभावित रहने

1 'बायग्राफिया लिटरारिया', ल कॉलरिज, सम्पादक अर्नेस्ट रीज, ज एम डण्ट एण्ड सन्स, लिमिटेड, लन्दन 1939, पृ 94।

2 कॉलरिज ने कल्पना के क्षेत्र को 'The holy jungle of transcen dental meta physics' कहा है। कॉलरिज की इस आध्यात्मिकता से अनेक विचारक असहमत हैं, किन्तु, असहमत होकर भी वे कॉलरिज के कल्पना सिद्धान्त का पूर्णत खण्डन नहीं कर सके हैं। उदाहरणार्थ, *J L Lowes* ने कॉलरिज की आध्यात्मिकता के प्रति असहमति की घोषणा करके भी अपनी सम्पूर्ण पुस्तक में कॉलरिज के कल्पना सिद्धान्त की विवृति की है और अन्त में यह स्वीकार किया है कि ग्रन्थ लिखते समय उसके अन्तर्मन में सर्वदा कॉलरिज का कल्पना सिद्धान्त विराजमान रहा है।—The Road to Xandu (A Study in the Ways of Imagination) by *John Livingston Lowes*, second revised edition, Constable, London 1951, p 434

के कारण इन्होने काव्योपलब्ध आनन्द को एक प्रकार का बौद्धिक आनन्द ('इण्टेलेक्चुअल प्लेजर') माना है। काव्य मे इस आनन्द का आगम प्रतिवादो के समन्वय या एकीकरण ('यूनियन ऑव ऑपाजिट्स') से होता है। प्रतिवादो के समन्वयन वाले सिद्धान्त के निरूपण मे कॉलरिज पर पायथागोरस के सहृति-सिद्धान्त ('पायथागोरियन डॉक्ट्रिन ऑव हार्मनी') का प्रभाव परिलक्षित होता है। इस तत्त्व-चिन्तक दृष्टि की प्रधानता के कारण कॉलरिज ने बुद्धिपर्यवसायी सवेग अथवा आवेग को अनियन्त्रित सवेग अथवा आवेग की तुलना म सार्वत्रिक वरिष्ठता प्रदान की है। इनके अनुसार 'कल्पना' के द्वारा ही प्रतिवादो के बीच समन्वयन या एकीकरण स्थापित किया जाता है। इस वाद-प्रतिवाद-समन्वय या विरोधि-समागम को स्थापित करने की क्षमता ही कल्पना की प्रकृष्ट शक्ति है।[1]

उपात्य निष्कर्ष के रूप मे हम कॉलरिज की कल्पना-सम्बन्धी तीन विशिष्ट मान्यताओं को उपस्थित कर सकते हैं। प्रथमत कल्पना किसी भी निश्चित विधान से परे है। कोई कवि या कलाकार कल्पना के लिए एक निश्चित विधान, प्रकार या स्थापत्य निरूपित नही कर सकता है। द्वितीयत कल्पना मे जो ऐक्य सृजन या विरोधि-समागम को स्थापित करने की शक्ति है, वह तर्कनिष्ठ अथवा प्रणालीबद्ध न होकर सहजानुभूतिक अन्तर्दृष्टि के अधीन है। तृतीयत यह कल्पनान्तर्गत सहजानुभूतिक अन्तर्दृष्टि ही काव्यनिबद्ध वस्तु अथवा पात्र की अनन्वयता या

1 कॉलरिज ने इस तथ्य को व्यक्त करते समय एक बहुत बडे वाक्य का मडान बाधा है। द्रष्टव्य—बायग्राफिया लिटरारिया, ले कॉलरिज, सपादक, अर्नेस्ट रीज, जे एम डेण्ट एण्ड सन्स, लन्दन, 1939, पृ 166। इसमें कॉलरिज ने कल्पना के क्रियापक्ष को स्पष्ट करते हुए यह बतलाया है कि कल्पना किस प्रकार द्रष्टा और दृश्य (सब्जेक्ट एण्ड आब्जेक्ट) के परस्पर विरोधी गुणो मे सन्तुलन, सहृति या समीकरण उपस्थित करती है। इनके उपरिनिर्दिष्ट लम्बे वाक्य को हम निम्नलिखित सरलीकृत तालिका से अच्छी तरह समझ सकते हैं। कल्पना द्रष्टा और दृश्य के इन पारस्परिक विरोधी गुणो—

(द्रष्टा या अहम् के गुण)	(दृश्य या इदम् के गुण)
'सेमनेस'	'डिफरेन्स'
'जेनरल'	'कन्क्रीट'
'आइडिया'	'इमेज'
रिप्रेजेण्टेटिव'	'इण्डिविजुअल'
'फैमिलियरिटी	'नॉवेल्टी'
'ऑर्डर'	'इमोशन'
'जजमेण्ट'	'एन्थ्यूजिएज्म'
'आर्टिफिसियल'	'नेचुरल'

के बीच सन्तुलन, संहृति अथवा समागम प्रस्तुत करती है। इस प्रकार कल्पना में सर्वत्र एक तात्त्विक, किन्तु, सवेद्य विभज्यवचनीयता विद्यमान रहती है।

विशिष्टता को व्यंजनागर्भ बनाती है।

उक्त मान्यताओं की वैचारिक पीठिका प्रस्तुत करते हुए कॉलरिज ने कहा है कि मनुष्य की सम्पूर्ण विचारणाओं के दो आधार हैं—एक आधार है वाह्य जगत् या आवेष्टन (जिसे कॉलरिज ने 'नेचर' की संज्ञा दी है) और दूसरा आधार है वह आत्मनिष्ठ शक्ति, जिसे कॉलरिज ने 'सैल्फ' या 'इण्टेलिजेन्स' का नाम दिया है। कल्पना का काम इन दो आधारों के बीच (कला को माध्यम के रूप में गृहीत करते हुए) विनमयशील मध्यस्थता या दौत्य करना है। अर्थात् कल्पना इदम् और अहम्—अथवा आवेष्टन और भावक या वाह्य जगत् और आत्म-जगत् के बीच एक सहृदय दूती का कार्य करती है। इस तरह आवेष्टन से सम्बन्ध रखने के कारण ही कल्पना में ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। इसलिए कॉलरिज का 'प्राइमरी इमाजिनेशन' (प्रथम कल्पना) प्रत्यक्ष (पर्सेप्शन) का ही नामान्तर है। अतः इसे हम प्रत्यक्ष बोधाश्रित कल्पना भी कह सकते हैं। फलस्वरूप यह निष्पन्न होता कि कॉलरिज का 'सेकेण्डरी इमाजिनेशन' (द्वितीय कल्पना) ही 'इमाजिनेशन प्रॉपर' है। 'प्राइमरी' कल्पना तो मात्र ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से सम्बन्धित होने के कारण मुख्यतः विज्ञान का उपजीव्य है। अतः काव्य एवं अन्य कलाओं का सम्बन्ध कॉलरिज की 'सेकेण्डरी' कल्पना से है, क्योंकि 'प्राइमरी' कल्पना का सम्बन्ध इन्द्रियगोचर जगत् के यथातथ्य रूप अथवा प्रारम्भिक प्रभाव संवेदनों से है, जब कि 'सेकेण्डरी' कल्पना इन्द्रिय-गोचर जगत् के प्रत्यक्षों एवं प्रभाव संवेदनों को एक मानसिक धरातल पर विश्लिष्ट और संश्लिष्ट कर एक अर्थ तथा निर्वचन प्रदान करती है।[1] इस तरह 'प्राइमरी' कल्पना प्रत्यक्ष मात्र है, जो सभी प्रकार के ज्ञान में उपस्थित रहती है। किन्तु 'सेकेण्डरी' कल्पना अर्थात् काव्योचित कल्पना अपने मूल में इस प्रत्यक्ष को स्वीकार करने के कारण 'प्राइमरी' कल्पना से किंचित् साम्य रखने पर भी उससे मात्रा (डिग्री) में भिन्न है। कॉलरिज ने आगे चलकर यह भी सिद्ध किया है कि इन दोनों कल्पनाओं की प्रक्रिया पद्धति ('मोड ऑव ऑपरेशन') में भी अन्तर है। इस प्रकार इन दो प्रकार की कल्पनाओं के बीच कॉलरिज का पार्थक्य निरूपण स्वतोव्याघात दोष से पीड़ित मालूम पड़ता है, क्योंकि एक ओर यह कहा गया है कि 'प्राइमरी' कल्पना और 'सेकेण्डरी' कल्पना

1. यहाँ यह ध्यातव्य है कि कॉलरिज द्वारा निर्दिष्ट 'सेकेण्डरी' कल्पना ही संस्कृत काव्यशास्त्र में निरूपित कवि प्रतिभा है। हम काट, कॉलरिज और संस्कृत काव्यशास्त्र के कल्पना सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों की तुलना करते हुए कह सकते हैं कि काट का *Productive Imagination* कॉलरिज के लिए *Primary Imagination* है और यह संस्कृत काव्यशास्त्र के सविकल्पक प्रत्यक्ष से अभिन्न है। इसी तरह काट का *Aesthetic Imagination* कॉलरिज के *Secondary Imagination* से प्रभूत साम्य रखता है, जिसके अर्थ को हम संस्कृत काव्यशास्त्र की 'कवि-प्रतिभा' से व्यक्त कर सकते हैं।

के बीच 'काइण्ड ऑव इट्स एजेन्सी' मे पूर्ण सादृश्य है और दूसरी ओर यह कहा गया कि उक्त प्रकार की दोनो कल्पनाओ के बीच 'मोड ऑव इट्स ऑपरेशन' मे एकदम अन्तर है। अत यह प्रश्न विचारणीय हो जाता है कि 'काइण्ड ऑव इट्स एजेन्सी' और 'मोड ऑव इट्स ऑपरेशन' मे क्या कोई तात्त्विक अन्तर है ? तनिक गहराई म जाने पर कॉलरिज के कथन से ही स्पष्ट होता है कि इनकी दृष्टि मे 'प्राइमरी' कल्पना और 'सेकेण्डरी' कल्पना के बीच एक स्पष्ट अन्तर है, जिसे किसी कारणवश ठीक से अभिव्यक्ति नही मिल सकी। अन्तर यह है कि 'सेकेण्डरी' कल्पना अर्थात् काव्योचित कल्पना मे एक ध्वसात्मक पक्ष (डैस्ट्रक्टिव साइड) रहता है[1] जो 'प्राइमरी' कल्पना मे नही रहता है। इस तरह 'प्राइमरी' कल्पना मे केवल निर्माण है, जब कि 'सेकेण्डरी' कल्पना मे कलाकार की चेतन इच्छा (कॅन्शस विल) के सहयोग से सर्वप्रथम (प्राप्त प्रत्यक्षो के बीच) ध्वस आता है, और तब उन ध्वसावशेषा के समीकरण से एक नूतन निर्माण होता है। अर्थात्, 'सेकेण्डरी' कल्पना दैनन्दिन प्रत्यक्षो को तोडकर जोडती है। जोडने के पहले यह तोडना या निर्माण के पहले यह ध्वस ही सेकेण्डरी' कल्पना का विशिष्ट और विभाजक लक्षण है। निष्कर्ष यह निकला कि प्रत्यक्षो को 'तोडने' के कारण 'सेकेण्डरी' कल्पना 'प्राइमरी' कल्पना से 'मोड ऑव आपरेशन' मे भिन्न है और जानकर तोडे गये प्रत्यक्षो को स्वेच्छया जोडने के कारण 'सेकेण्डरी' कल्पना 'प्राइमरी' कल्पना से 'काइण्ड ऑव इट्स एजेन्सी' मे पूर्णत समान है। यद्यपि हमे यह मानना होगा कि 'प्राइमरी' कल्पना के समान 'निर्माण' ही मूलत 'सेकेण्डरी' कल्पना का उद्देश्य है, 'ध्वस' तो उसका आशिक हेतुभूत मध्यवर्ती है। 'सेकेण्डरी' कल्पना अर्थात् काव्योचित कल्पना 'ध्वस' की डगर से गुजरकर निर्माण' के राजपथ पर पहुँचती है। इस 'निर्माण' मे 'नवीनता से उत्पन्न रमणीयता' (चार्म ऑव नॉवेल्टी) रहती है। अत 'प्राइमरी' और 'सेकेण्डरी' कल्पना के इसी भेद को हम शब्दान्तर से दूसरी तरह भी व्यक्त कर सकते हैं। 'प्राइमरी' कल्पना के द्वारा हम परिचित प्रत्यक्षो के सहारे परिचित जगत् मे ही रहते हैं जबकि 'सेकेण्डरी' कल्पना के द्वारा हम परिचित प्रत्यक्षो के सहारे किसी रमणीय अपरिचित जगत् मे पहुँच जाते हैं। इस प्रकार 'प्राइमरी' कल्पना का सम्बन्ध हमारे व्यावहारिक जीवन से अधिक है और 'सेकेण्डरी' कल्पना का सम्बन्ध हमारे मानसिक अथवा चिन्तनात्मक (कॉन्टेम्प्लेटिव) जीवन से अधिक है।

तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि कॉलरिज की कल्पना-सम्बन्धी विचारणाओ पर प्लेटो, प्लोटाइनस और पेटर स्टेरी के भी विचार का प्रभाव पडा है, यद्यपि कॉलरिज की मौलिकता पर किसी प्रकार की शका नही की जा

1 'इट डिज़ॉल्व्स, डिफ्युजेज़, डिसिपेट्स, इन ऑर्डर टु रिक्रियेट।'

सकती; क्योंकि इन्होंने कल्पना को न तो ड्राइडन की तरह 'अन्वेषण' (इन्वेन्शन) के अर्थ में लिया है, न एडिसन अथवा बगंसा की तरह, क्रमश मानसिक चित्र-चय अथवा 'अवास्तविक' के प्रतीति-चिन्तन के ही अर्थ में। कॉलरिज के पूर्ववर्ती विचारकों में मुरेटोरी ने भी कल्पना पर समर्थ विचार किया है,[1] किन्तु, कॉलरिज ने इनकी तुलना में नयी जमीन काटी है। कॉलरिज की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने कल्पना और 'फैन्सी' के पार्थक्य को युक्तियुक्त ढग से स्वीकार किया है। हालाँकि इनका यह पार्थक्य-निरूपण प्रोफेसर लोस-जैसे विद्वानों को मान्य नहीं है।[2] इनकी उक्त मान्यता से असहमति रखनेवाले विचारकों, जैसे लोस या एबरक्राम्बी का यह मत है कि 'फैन्सी' और कल्पना में कोई तात्त्विक भेद नहीं, केवल मात्रा-भेद है, जो विवक्षित सवेग की शक्ति और गुणात्मकता के न्यूनाधिक्य पर निर्भर करता है अर्थात् फैन्सी' कल्पना का ही एक 'अलीक प्रयोग' है। एफ. आर लीविस ने भी कॉलरिज द्वारा प्रस्तुत किये गये कल्पना और फैन्सी के पार्थक्य-निरूपण को कुछ अस्पष्ट माना है। इनका कहना है कि कॉलरिज ने सिद्धान्तत जिस पार्थक्य को निरूपित किया है, उसे वे व्यावहारिक विनियोग नहीं दे सके हैं।[3] फैन्सी और कल्पना पर हम आगे चलकर विस्तार से विचार करेंगे, अत इस चर्चा को अभी यहाँ समाप्त कर देना उचित है। कॉलरिज के कल्पना-सिद्धान्त को स्पष्टता के साथ समझने के लिए हमे वस्तु और भावक के भावात्मक एकीकरण, जिसे कॉलरिज ने 'कोलेसेन्स ऑव एन ऑब्जेक्ट विद ए सब्जेक्ट' कहा है, पर भी विचार कर लेना चाहिए। यह भावात्मक एकीकरण बहुलाश में भावक, द्रष्टा या प्रमाता की उस ग्राहिका शक्ति पर निर्भर करता है, जिसका कार्य दृश्य वस्तु के छिपे अर्थ-बोध

1. 'कॉलरिज आन इमाजिनेशन', ले आई. ए रिचर्ड्स, केगन पाल, लन्दन, 1934, पृ 29-31।
2. द रोड टू क्षण्डू (Xandu), ले प्रो. लिविंग्स्टन लोस, पृ 103।
3. 'द इम्पॉर्टेन्स ऑव स्क्रुटिनी', एडिटेड बाय एरिक बेण्ट्ले, जार्ज डब्ल्यू स्टेवार्ट, पब्लिशर, इन्ज न्यूयार्क, 1948, पृ 81। फिर भी अनेक आधुनिक विचारक कॉलरिज द्वारा स्थापित कल्पना और फैन्सी के पार्थक्य को स्पष्टरूपेण स्वीकार करते हैं। उदाहरणार्थ, डा देवराज ने (कॉलरिज के निर्दिष्ट सकेतों को ग्रहण करते हुए) फैंसी और कल्पना के अन्तर को इस प्रकार उपस्थित किया है—"हमारे मत में वैचित्र्यमूलक या खामखयाली कल्पना (फ़ैंसी) तथा यथार्थ कल्पना (इमाजिनेशन) का अन्तर इस प्रकार है। जहाँ द्वितीय कोटि की कल्पना (इमाजिनेशन) बाह्य अथवा आन्तरिक वास्तविकता का पुनर्गठन स्वय यथार्थ के नियमों के अनुसार करती है, वहाँ प्रथम कोटि की कल्पना (फैंसी) यथार्थ के तत्त्वों को अनियन्त्रित स्वच्छन्दता से एकत्रित कर डालती है।' टॉल्स्टाय का एना केरीनिना उपन्यास यथार्थ कल्पना की सृष्टि है, जबकि 'अलिफलैला, वैचित्र्यमूलक कल्पना (फैंसी) की।" —सस्कृति का दार्शनिक विवेचन, ले डा देवराज, प्रकाशन ब्यूरो, उत्तरप्रदेश, 1957, पृ 231।

('इनर सेन्स') को स्वीकार करता है। इस अर्थ वोध को ग्रहण करने के पूर्व भावक को तीन चार प्रकार की मन स्थितियो से गुजरना पडता है—प्रथम सन्निकर्ष का सवेदन-सुख, प्राप्त सवेदनो अथवा प्रभावो का मानसिक प्रसार, प्राप्त मानसिक बिम्बो का किसी धारणा अथवा विचारणा से सयोग, इत्यादि। इतनी विभिन्न मन स्थितियो से गुजरने की अनिवार्य आवश्यकता के कारण ही विभिन्न व्यक्तियो मे निहित अर्थ-वोध को ग्रहण करने की अलग-अलग क्षमता रहती है। कॉलरिज ने कल्पना के प्रसग मे उस घनीभूत भावात्मक अर्थ-वोध को वरीयता प्रदान की है, जो प्रमाता और प्रमेय के पार्थक्य को मिटाकर दोनो को एक कर देता है।[1] इस तरह कॉलरिज उन आत्मनिष्ठ विचारको की कोटि मे आते हैं, जो बाह्य वस्तु को भी दृष्टा की आत्म चेतना का प्रक्षेपण आरोपण या विस्तार माना करते हैं।

अब कॉलरिज की कल्पना-सम्बन्धी मान्यताओ को हम यथासम्भव सक्षेप मे इस प्रकार रख सकते है—कल्पना ज्ञान (सभी प्रकार के ज्ञान) के लिए एक आवश्यक, अपरिहार्य और प्राथमिक तत्त्व है। कोई भी ज्ञान अपने प्राथमिक रूप मे कल्पना से मुक्त नही हो सकता। अत. कल्पना पर आश्रित कलाकार के कार्य-कलाप सामान्य जनो की मानसिक दैनिन्दनी या कार्यों की तुलना मे विलक्षण नही हैं। जिस तरह सामान्य जीवन मे वस्तुओ का प्रत्यक्ष हमे भाव सचालित करता है, उसी तरह कवि भी उन्ही वस्तु-प्रत्यक्षो से सचालित होकर वस्तु जगत् या अपनी परिवृत्ति का स्थूल ज्ञान प्राप्त करता है। अत लोगो की यह धारणा भ्रान्त है कि कवि कल्पना जैसी किसी विलक्षण उन्मादना के वशीभूत होने के कारण एक विलक्षण प्राणी होता है और वह आजीवन अनेक विभ्रमो तथा भ्रान्तियो का शिकार रहता है। किन्तु वास्तविकता यह है कि जीवन और जगत् का सामान्य, वास्तविक और प्राथमिक ज्ञान ही कलाकार की कल्पना के लिए आधारशिला का काम करता है। अत कल्पना की उपस्थिति के कारण काव्य को जीवन से दूर या पृथक् नही मानना चाहिए। साराश यह है कि दैनिक जीवन के समान वस्तु प्रत्यक्ष का मानसिक विस्तार ही कवि की कल्पना है। यह सूत्र कॉलरिज की कल्पना-सम्बन्धी समग्र मान्यताओ की रीढ है। उसी सूत्र के आधार पर कॉलरिज ने यह सिद्ध किया है कि जीवन तथा जगत् के प्रति मनुष्य की सभी सचेत प्रत्ययताओ और प्रत्यक्ष मे कल्पना की सर्वव्यापी और सार्वत्रिक उपस्थिति रहती है। अत कविता की अवमानना करना या कल्पना को ठुकराना जीवन-जगत् के दैनन्दिन वस्तु-प्रत्यक्षो की उपेक्षा करना है और कल्पना के द्वारा हमे अपने अनुभूति-प्रवण

1 इस प्रसंग में अनेक आलोचक कॉलरिज के ऊपर शेलिंग का निविड प्रभाव स्वीकार करते हैं।—लिटररी क्रिटिसिज्म ए शार्ट हिस्ट्री, ले विलियम के विम्सेट एण्ड क्लीन्थ ब्रुक्स, पब्लिश्ड बॉय अल्फेड ए नाफ, न्यूयार्क, 1959, पृ 395।

जीवन में जो एक प्रकार का सांगीतिक आनन्द-बोध ('सेन्स ऑव म्यूजिकल डिलाइट') मिलता है, उससे अपने को वंचित करना है। सम्भवतः, वस्तु-प्रत्यक्षों के बीच कल्पना की इसी सार्वत्रिक विद्यमानता के कारण कॉलरिज ने कल्पना को 'प्राइमरी एजेण्ट ऑव ऑल पर्सेप्शन' कहा है।[1]

कॉलरिज के बाद भी अनेक आलोचकों और चिन्तकों ने कल्पना पर विचार किया है, जिनमें रस्किन, फ्रायड, युग, ब्रैडले और आई ए रिचर्ड्स उल्लेखनीय है, किन्तु हम इनकी अलग-अलग चर्चा न कर (कारण, यह हमारी प्रयोजन सिद्धि के लिए आवश्यक नहीं है) इनकी कल्पना-सम्बन्धी मान्यताओं के समवेत रूप को सक्षेप में प्रस्तुत करेंगे।

आधुनिक कला-विचारकों ने कल्पना के साथ अनुभूति पर विशेष बल दिया है। इनकी दृष्टि में अनुभूति-वेष्टित कल्पना ही वरेण्य होती है। दूसरी बात यह है कि आधुनिक कला-चिन्तकों, जैसे आई ए रिचर्ड्स इत्यादि ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि को प्राथमिकता देते हुए कल्पना के ऐन्द्रिय बोध को विशेष महत्त्व दिया है। तीसरे, आधुनिक विचारक बिम्बविधान का सम्पूर्ण श्रेय कल्पना को देते हैं। चौथी बात यह कि इनकी दृष्टि से भाषा और अभिव्यक्ति की जितनी बारीकियाँ हैं, सभी कल्पना के फल है। कल्पना के ही सहारे कवि भाषा और शब्दों में नये अर्थ भरता है[2] अत इन विचारकों के दृष्टिकोण से सहमत होकर सोचने पर भारतीय काव्यशास्त्र में बहुधा विचारित वाग्-वैदग्ध्य, वक्रोक्ति, चमत्कार सृष्टि इत्यादि इस कल्पना के ही परिणाम सिद्ध होते है। इस प्रकार आधुनिक विचारक कथोत्थ अथवा उत्पाद्य प्रसंगों के निर्माण से लेकर बिम्ब-विधान, प्रतीक-चयन और रूपक-सृष्टि तक में कल्पना को ही शीर्षस्थान देते हैं।[3]

सभी प्रत्यक्षों (पर्सेप्शन) में कल्पना की इस सार्वत्रिक विद्यमानता के प्रति काट ने भी ऐसी ही धारणा व्यक्त की है।— सेप्टिसिज्म (Scepticism) एण्ड पोयेट्री, ले डी जी, जेम्स, जार्ज एलेन एण्ड अन्विन, लन्दन, 1960 पृ 33-34। साथ ही, प्रत्यक्ष (पर्सेप्शन) की दार्शनिक विवेचना के लिए द्रष्टव्य— द फेनोमेनोलॉजी ऑव माइण्ड', ले जी डब्ल्यू एफ हीगेल, अनुवादक, जे बी बेली (Baillie), जार्ज एलेन एण्ड अन्विन, लन्दन, 1955, में (पर्सेप्शन) शीर्षक निबन्ध, पृ 162 178।

2 "प्रोजक्शन ऑव मीनिंग इन टु वर्ड्स इज इटसेल्फ एन इमाजिनेटिव प्रासेस।"—'कालरिज ऑन इमाजिनेशन, आई ए रिचर्ड्स, पृ 86।

3 कुछ आधुनिक विचारक कल्पना को एक ऐसी रचनात्मक शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं, जिसके द्वारा सामाजिक अभ्युदय और लोक मंगल की आशु सिद्धि होती है। उदाहरण के लिए द्रष्टव्य— रिफ्लेक्शन्स इन ए मिरर' (सेकेण्ड सीरीज) ले चार्ल्स मार्गन, मैकमिलन एण्ड को, लन्दन, 1946 में संगृहीत 'क्रियेटिव इमाजिनेशन' शीर्षक निबन्ध पृ 75-97।

इस क्रम मे हिन्दी के आधुनिक आलोचकों के कल्पना-विवेचन पर विचार कर लेना उचित प्रतीत होता है, क्योकि इनमे से अधिकाश ने पाश्चात्य, विशेषकर आग्ल विचारको का ही अनुगमन किया है। हाँ, शुक्लजी ऐसे एकाध मनीषी है, जिन्होने पश्चिम की बातो को ज्यो-का त्यो नही रख दिया, बल्कि उन्हे पचाकर और समीकृत कर अपने मौलिक चिन्तन के सहयोग से एक नया रूप भी दिया। यो, श्यामसुन्दरदासजी ने भी कल्पना पर विचार किया है किन्तु, इनका चिन्तन गल्प के उदाहरण-जैसा है और उसे अभिव्यक्त करने की भाषा-शैली अशास्त्रीय है। इन्होने कल्पना का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है—"दार्शनिको ने सब प्रकार के ज्ञान की पाँच अवस्थाएँ मानी हैं परिज्ञान, स्मरण, कल्पना, विचार और सहजज्ञान। सबसे पहले हम बाह्य पदार्थों का ज्ञान अपनी ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा होता है। जब हम किसी मनुष्य के सामने आते हैं, तब हमारे नेत्रो के द्वारा उसका प्रतिबिम्ब हमारे मन पर पडता है। 'इस प्रकार के ज्ञान को परिज्ञान कहते हैं। यदि हमने उस मनुष्य को ध्यान से देखा है, तो पीछे से आवश्यकता पडने पर स्मरण शक्ति की सहायता से उस मनुष्य के रूपादि का कुछ ध्यान कर सकते हैं। ...मान लीजिये कि उक्त मनुष्य एक अग्रेज है। हमने एक सन्यासी को भी देखा है और हमे उस सन्यासी के रूप, आकार तथा उसके वस्त्रो के रग का स्मरण है। अब हम चाहें तो अपने मन मे उस अग्रेज का सूट-बूट छीनकर उसे सन्यासी का गेरुआ वस्त्र पहना सकते हैं और तब हमारी मानसिक दृष्टि के सामने एक अग्रेज संन्यासी का चित्र उपस्थित हो जाता है। मन की एक विशेष क्रिया से स्मरण-शक्ति द्वारा सचित अनुभवो को विभक्त कर और फिर उनके पृथक् पृथक् भागो को इच्छानुसार जोडकर हमारे मन ने एक नवीन व्यक्ति की रचना कर ली, जिसका अस्तित्व बाह्य-जगत् मे नही है। मन[1] की इस क्रिया को कल्पना कहते हैं।" निश्चय ही, कल्पना के स्वरूप का यह स्पष्टीकरण अव्याप्तिग्रस्त है, क्योकि उक्त उदाहरणशील विश्लेषण मे जो कुछ कहा गया है, वह कल्पना की एक दो खण्डवृत्ति है (जैसे—परस्थापन या सयोगीकरण) कल्पना का समग्र रूप नही। पुन श्यामसुन्दरदासजी ने 'साहित्यालोचन' के अन्तर्गत 'कवि-कल्पना' शीर्षक उपखण्ड

1 मन और कल्पना के सम्बन्ध म भारतीय दार्शनिकों की दृष्टि से आज और भी विचार-विमर्श की अपेक्षा है। जब त्रिगुणात्मक मन मे निसर्ग-चचल गुणों का न्यूनाधिक्य होता है, तब कल्पना की अनेक भूमिकाओ का आविर्भाव होता है। अत मन सम्बन्धी भारतीय ज्ञान के विशिष्ट अध्येताओं को चाहिए कि वे मन और कल्पना की सापेक्षता पर विस्तृत विचार करें, जिससे यह स्पष्ट हो जाय कि विभिन्न प्रत्यक्ष-वृत्तियों—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा स्मृति इत्यादि के आधार पर निरूपित मन के विभिन्न प्रकारो—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध—मे तथा मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका, सस्कारशेषा इत्यादि मन की विभिन्न अवस्थाओ से कल्पना का क्या सम्बन्ध है।

मे जहाँ कल्पना के महत्त्व, कल्पना की सत्यता, कल्पना-शक्ति से सौन्दर्यलालसा के उद्दीपन, कल्पना और प्रकृति तथा कल्पना मे ज्ञान के समजन, इत्यादि पर विचार किया है, वहाँ चिन्तन से अधिक लेखक का कवित्व ही फूट पडा है।[1] अत श्यामसुन्दरदासजी के विवेचन से हमे कल्पना के विचार-विश्लेषण के निमित्त कोई तात्त्विक प्रकाश नही मिलता है।

यह तात्त्विक प्रकाश हिन्दी आलोचको के बीच शुक्लजी के कल्पना निरूपण से सर्वाधिक मिल पाता है। अत यहाँ हम शुक्लजी के कल्पना-सिद्धान्त पर तनिक विस्तार मे विचार करने की चेष्टा करेंगे। शुक्लजी के अनुसार काव्य का सारा रूप विधान कल्पना पर निर्भर रहता है। इस कल्पना का आविर्भाव प्रकृति तथा मन के पारस्परिक सम्बन्धो से होता है।[2] किन्तु, शुक्लजी ने इन परिप्रेक्ष्यो के अलावे कल्पना पर रस-दृष्टि से भी विचार किया कि रसनिष्पत्ति मे कल्पना का योग क्या है, क्योकि ये आमूलचूल रसवादी थे। इन्होने 'काव्य मे रहस्यवाद' शीर्षक निबन्ध मे लिखा है—"विलायती साहित्य मे कल्पना की धूम देखकर कुछ लोग कहते हैं कि 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' मे कल्पना पक्ष बिल्कुल छूट गया है। पर जो लोग रस-पद्धति को जानते हैं, वे आधुनिक मनोविज्ञान द्वारा निरूपित भाव के स्वरूप से भी परिचित है। वह एक वृत्ति-चक्र है, जिसके अन्तर्गत प्रत्यय, अनुभूति, इच्छा, गति या प्रकृति और शरीर-धर्म आते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि काव्य के सम्पूर्ण विभाव और अनुभाव कल्पना द्वारा ही योजित होते है। दूसरी ध्यातव्य बात यह है कि शुक्लजी ने काव्य के उपादानो मे भाव को छोडकर शेप सभी को कल्पना की सीमा के अन्तर्गत माना है। किन्तु एक अवस्था म इन दोना—भाव और कल्पना—का भी समीकरण होता है। इसे सकेतित करते हुए शुक्लजी ने लिखा है कि रसकाल म दोनो (भाव और कल्पना) का युगपत अन्योन्याश्रित व्यापार होता

1 दो तीन उदाहरण देखिए —(क) "विज्ञान म जो बुद्धि है दर्शन मे जो दृष्टि है वही कविता म कल्पना है।' (ख) 'कल्पना सत्य होनी चाहिए और यह सत्य की साधना बडी ही दुस्साध्य है। प्रकृति की विस्तृत, दुर्गम निधि से सत्य कल्पना के रत्न चुन लेना और चुनकर कविता मे इस भाँति सजा देना कि वह लोक हृदय का हार बन जाय, साधारण कवियों का काम नहीं है।" (ग) ससार के कवियो ने अपनी प्रतिभा की स्वतन्त्र गति से मनुष्य की भिन्न भिन्न रुचि के लिए सामग्री एकत्र की है और भाँति भाँति मे उसकी सौन्दर्य लालसा को उद्दीप्त किया है तथा उसकी कल्पना शक्ति को वास्तविक जीवन का अलकार बना दिया है।'—साहित्यालोचन, ले श्यामसुन्दरदास, इण्डियन प्रेस, प्रयाग सवत् 2008 पृ 103-105।

2 'इमाजिनेशन कम्स फ्रॉम द माइण्ड्स रेसॉंस ट नेचर।"— कॉलरिज ऑन इमाजिनेशन', आई ए रिचर्ड्स, पृ 127।

है ।[1] तदन्तर, इन्होंने कल्पना के दो मुख्य प्रकारो का निरूपण किया है—विधायक कल्पना और ग्राहक कल्पना । अनुभाव और विभाव दोनो पक्षो के विधान के लिए भी और सम्यक् ग्रहण के लिए भी कल्पना-शक्ति अपेक्षित है । विधान के लिए कवि मे 'विधायक कल्पना' अपेक्षित होती है और सम्यक् ग्रहण के लिए पाठक या श्रोता मे 'ग्राहक कल्पना ।'[2] आगे इन्होने कवि और पाठक की कल्पना के मात्रा-भेद और स्वरूप भेद को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "श्रोता या पाठक "मे यह सहृदयता या भावुकता अधिक अपेक्षित होती है, कल्पना-क्रिया कम । कवि की विधायक कल्पना रस की तैयार सामग्री उनके सामने रख देती है । कवि-धर्म मे कल्पना की बहुत आवश्यकता होती है, पर यह कल्पना विशेष प्रकार की होती है । इसकी क्रिया कवि की भावुकता के अनुरूप होनी है । कवि अपनी भावुकता की तुष्टि के लिए ही कल्पना को रूप विधान मे प्रवृत्त करता है ।"[3] पुन शुक्लजी ने कल्पना के स्वरूप को और भी स्पष्ट करने के लिए भाव एव अनुभूति की चर्चा करते हुए लिखा है, "जब भाव की उमग ही कल्पना को प्रेरित करती है, तब कवि का मूल गुण भावुकता अर्थात् अनुभूति की तीव्रता है । कल्पना उसकी सहयोगिनी है । पर ऐसी सहयोगिनी है, जिसके बिना कवि अपनी अनुभूति को दूसरे तक पहुँचा ही नही सकता । अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना ही कवि-कर्म है । अत हम कह सकते हैं कि कल्पना और भावुकता कवि के लिए दोनो अनिवार्य है । भावुक जब कल्पना-सम्पन्न और भाषा पर अधिकार रखनेवाला होता है, तभी कवि होता है ।"[4]

शुक्लजी की कल्पना सम्बन्धी मुख्य मान्यताओं को हम निम्नलिखित खण्डो मे विभक्त कर उपस्थित कर सकते हैं :—

क शुक्लजी ने काव्योचित कल्पना के लिए वासना का योग अनिवार्य माना है । "वासना की सहकारिणी होकर जब कल्पना काम करती है, तभी वह काव्योचित कल्पना होती है । वासना-कल्पना के सहयोग से भावो के विषय भी प्रत्यक्ष किये जाते हैं और भाव भी व्यक्त किये जाते हैं । सच्चे काव्य मे प्रत्यक्षीकरण के लिए इन दोनो का सयोग परम आवश्यक है ।"[5]

ख शुक्लजी के अनुसार कल्पना का प्रधान कर्मक्षेत्र रस का आधार खड़ा करनेवाला विभावन-व्यापार है । इन्होने स्पष्ट लिखा है कि "रस का आधार खड़ा

1 चिन्तामणि, भाग 2, मे रामचन्द्र शुक्ल, 'काव्य मे रहस्यवाद' शीर्षक निबन्ध, पृ 113
2. वही, भाग 2, पृ. 89
3 वही, पृ 103 104
4 वही, पृ 104
5. रसमीमांसा, मे रामचन्द्र शुक्ल, पृ 90-91, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सवत् 2006

करनेवाला जो विभावन व्यापार है, कल्पना का प्रधान कर्मक्षेत्र वही है।"[1]

ग शुक्लजी की दृष्टि मे कल्पना के महत्त्व का प्रमुख कारण यह है कि "काव्य शब्द व्यापार है। वह शब्द-संकेतो के द्वारा ही अतस् मे वस्तुओ और व्यापारो का मूर्तविधान करने का प्रयत्न करता है। अत जहाँ तक काव्य की प्रक्रिया का सम्बन्ध है, वहाँ तक रूप और व्यापार कल्पित ही होते हैं। कवि जिन वस्तुओ और व्यापारो का वर्णन करने बैठता है, वे उस समय उसके सामने नही होते, कल्पना मे ही होते हैं। पाठक या श्रोता अपनी कल्पना द्वारा ही उनका मानस साक्षात्कार करके उनके आलम्बन से अनेक प्रकार के रसानुभव करता है।"[2]

घ शुक्लजी ने काव्यान्तर्गत रूप विधान के तीन प्रकार माने हैं (प्रत्यक्ष रूप-विधान, स्मृत रूप-विधान और सम्भावित या कल्पित रूप-विधान), किन्तु इन्होने 'कल्पित रूप विधान' के अन्तर्गत ही कल्पना पर मुख्यत विचार किया है। इसके अनुसार इस कल्पित रूप-विधान के दो प्रकार हैं—प्रस्तुत रूप-विधान और अप्रस्तुत रूप विधान।[3] यह प्रस्तुत रूप-विधान प्राचीन आचार्यों का विभाव पक्ष ही है, जिसके अन्तर्गत आलम्बन और उद्दीपन—दोनो आते हैं। अत शुक्लजी ने भारतीय काव्य-दृष्टि के प्रस्तोता की भूमिका मे आकर भी कल्पित रूप-विधान पर विचार किया है।[4] सम्भवत भारतीय काव्य-दृष्टि के प्रति आग्रह रखने के कारण ही शुक्लजी ने पाश्चात्य विचारको की तरह कल्पना का सम्बन्ध केवल काव्य के बोध-पक्ष मे नही माना है, बल्कि उसके भाव-पक्ष से भी।[5]

च शुक्लजी के अनुसार कल्पना के गण्य कार्य ये हैं—काव्यवस्तु का रूप-विधान करना, अनुभाव कहे जानेवाले व्यापारो और चेष्टाओ का सयोजन करना, अप्रस्तुतो की योजना करना तथा लक्षणा और व्यजना की सहायता से भाषा-शैली को अधिक व्यजक एव मार्मिक बनाना। इस प्रकार शुक्लजी की दृष्टि मे कल्पना

1 रसमीमासा, ले रामचन्द्र शुक्ल पृ 105 काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सवत 2006
2 वही, पृ 263
3 वही, पृ 301
4 वही पृ 303
5 कल्पना काव्य का बोधपक्ष है। कल्पना मे आई हुई रूप-व्यापार-योजना का कवि या श्रोता को अत साक्षात्कार या बोध होना है। पर इस बोधपक्ष के अतिरिक्त काव्य का भावपक्ष भी है। कल्पना को रूप-योजना के लिए प्रेरित करनेवाले और कल्पना में आई हुई वस्तुओ में श्रोता या पाठक को रमाने वाले रति करुणा, क्रोध, उत्साह आश्चर्य इत्यादि भाव या मनोविकार होते हैं। इसीसे भारतीय दृष्टि ने भावपक्ष को प्रधानता दी और रस के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। पर पश्चिम मे 'कल्पना' कल्पना' की पुकार के सामने धीरे धीरे समीक्षको का ध्यान भावपक्ष से हट गया और बोधपक्ष ही पर भिड गया। —रसमीमासा ले रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सवत् 2006 पृ 308।

रसावयवों का निर्माण और अप्रस्तुतों की योजना कर भावोत्कर्ष अथवा रस-संचार में सहायता पहुँचाती है।

छ निष्कर्षात्मक बात यह है कि कल्पना के प्रति शुक्लजी का दृष्टिकोण वस्तुनिष्ठ है। इसलिए हम इनकी कल्पना-सम्बन्धी विचारणाओं में प्रत्यक्षाश्रित वस्तुपरकता पाते हैं। इन्होंने इस प्रत्यक्षाश्रित वस्तुपरकता की विवृति करते हुए लिखा है कि "प्रत्यक्ष रूप-विधान के उपादान से ही कल्पित रूप-विधान होता है। जन्मान्ध अपने मन में स्पष्ट रूप-विधान नहीं कर सकते। जिस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभूति से काव्यानुभूति को एकदम अलग कहने की चाल योरप में चली, उसी प्रकार प्रत्यक्ष रूप-विधान से कल्पित रूप विधान को असम्बद्ध घोषित करने की रूढ़ि प्रतिष्ठित हुई। 'कल्पना' की एक निराली दुनिया कही जाने लगी और कवि लोग दूसरी सृष्टि बनानेवाले विश्वामित्र हुए। पर थोड़ा विचार करने पर यह उक्ति स्तुतिपरक ही ठहरती है। सारे वर्ण और सारी रूप-रेखाएँ, जिनसे कल्पित मूर्तिविधान होता है, बाह्य-जगत के प्रत्यक्ष बोध से प्राप्त हुई हैं।...ऐसी दशा में यह कहना कि प्रत्यक्ष रूप-विधान से कवि के काल्पनिक रूपविधान का कोई सम्बन्ध नहीं, बात बनाना ही माना जायगा।"[1]

इस तरह प्रत्यक्षाश्रित वस्तुपरकता पर अधिक बल देने का अर्थ यह है कि शुक्लजी कल्पना का आधार इन्द्रिय-बोध को मानते हैं। फलस्वरूप, पश्चिम के जिन विचारकों ने इन्द्रिय-बोध से परे कल्पना का स्वतन्त्र अस्तित्व माना है, शुक्लजी ने उनका खण्डन किया है।[2] अतः स्पष्ट है कि इन्होंने कल्पना पर लौकिकता, इन्द्रियबोध और प्रत्यक्ष की दृष्टि से ही विचार किया है।[3]

हिन्दी आलोचना में, प्रायः कल्पना-सम्बन्धी सिद्धान्तों को लेकर आचार्य शुक्ल की तुलना एडिसन के साथ की जाती है और इन दोनों के बीच कुछ साम्य तथा कुछ वैषम्य को ढूँढ़ा जाता है। डॉ. रामविलास शर्मा ने इन दोनों की कल्पना-

1. रसमीमांसा, ले. रामचन्द्र शुक्ल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, संवत् 2006, पृ. 299 300
2. शुक्लजी के इस खण्डन के सम्बन्ध में डॉ. रामविलास शर्मा का कहना है कि 'उनका (शुक्लजी का) प्रत्यक्ष विरोध क्रोचे जैसे भाववादियों से है, अप्रत्यक्ष विरोध कॉलरिज-जैसे भाववादियों से भी है, जिन्होंने कल्पना को शाश्वत और निरपेक्ष चेतना का पर्याय मान लिया था और मनुष्य की व्यावहारिक कल्पना को उसी परम चेतना का अंश मान लिया था।'—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, ले. डॉ. रामविलास शर्मा, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, संवत् 2012, पृ. 248।
3. "शुक्लजी कल्पना का आधार लौकिक मानते हैं। उनकी दृष्टि से संसार-सागर की रूप-तरंगों से ही कल्पना का निर्माण होता है। इसीलिए उन्होंने कल्पना की लोकोत्तर, अलौकिक अथवा रहस्यगामी व्याख्या का खण्डन किया है।"—आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त, ले. डॉ. रामलालसिंह, संवत् 2015, वाराणसी, पृ. 242।

सम्बन्धी मान्यताओं के अन्तर को निरूपित करते हुए लिखा है कि "···शुक्लजी दो तरह का रूप-विधान बतलाते हैं। एक तो प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तुओं का ज्यों का त्यों प्रतिबिम्ब होता है, दूसरा इनके आधार पर खड़ा किया हुआ नया वस्तु व्यापार-विधान होता है। पहला रूप विधान स्मृति है, दूसरा कल्पना। एडिसन ने स्मृति को भी कल्पना का नाम दिया है। शुक्लजी ने वह स्थापना अमान्य ठहरा दी है। इसके सिवा प्रत्यक्ष या स्मरण द्वारा जागरित वास्तविक अनुभूति भी विशेष दशाओं मे रसानुभूति की कोटि मे आ सकती है—यह स्थापना एडिसन के चिन्तन से बहुत दूर है।"[1] किन्तु, इसका यह आशय नहीं है कि एडिसन और शुक्लजी मे केवल मतभेद या वैषम्य ही है। डॉ रामविलास शर्मा भी स्वीकार करते हैं कि शुक्लजी अंग्रेजी आलोचकों के बीच एडिसन से ही सर्वाधिक निकट पड़ते हैं[2], यद्यपि यह निकटता शुक्लजी की सीमा नहीं बन सकी। कारण, कल्पना से सम्बन्धित जिस प्रश्न का कोई समाधान एडिसन नहीं दे सके थे, शुक्लजी ने एक तीक्ष्ण-धी समीक्षक की तरह उसका भी हल निकाला। इन्होंने कल्पना का सम्बन्ध भावानुभूति से जोड़ा और उसे रस-सिद्धान्त के आलोक मे एक नयी परिणति दी।

शुक्लजी की इस चर्चा को समाप्त करने के पूर्व यह कह देना आवश्यक है कि शुक्लजी हिन्दी आलोचना मे कल्पना के प्रारम्भिक विचारक थे। अत कल्पना की सीमारेखाओं के निर्धारण और उसके सामान्य स्वरूप के विश्लेषण मे ही इनकी पर्याप्त शक्ति व्यय हो गयी, फलस्वरूप कल्पना के विविध भेद अथवा प्रकारों के निर्धारण पर इनकी सम्यक् दृष्टि नहीं पड सकी। सम्भवत शुक्लजी इसके प्रति सचेष्ट भी नहीं हो सके थे। इसलिए कल्पना सम्बन्धी इनकी सम्पूर्ण विचारणाओं मे कल्पना के साथ विशेषण की तरह प्रयुक्त कुछ शब्दों को ही प्रकार-बोधक रूप मे ग्रहण कर सन्तोष मान लेना पड़ता है। पुन, ऐसे विशेषण भी प्रकार-निर्धारण की दृष्टि से हमे बहुत दूर ले जाने मे अक्षम हैं। विधायक कल्पना

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना—ले डॉ रामविलास शर्मा विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, सवत् 2012 पृ 249।

2. डॉ रामलालसिंह ने भी शुक्लजी पर एडिसन के प्रभाव तथा विचार साम्य को स्वीकार किया है। "अभिनव परम्परावादियों मे शुक्लजी ने एडिसन का गम्भीर अध्ययन किया था। उसके कल्पना सिद्धान्त तथा कल्पनानन्द अथवा काव्यानन्द के विभिन्न स्वरूपों से वे बहुत दूर तक प्रभावित थे।' दोनों आचार्य वस्तुवादी सिद्धान्त के समर्थन मे, काव्यानन्द को लौकिक तथा सार्वभौम मानने मे, कल्पनानन्द या काव्यानन्द के स्वरूप की व्याप्ति के निर्धारण में, कल्पनानन्द की विशेषताओं के निरूपण में काव्य रचना तथा काव्यास्वादन मे कल्पना के महत्त्व की स्वीकृति में, प्रकृति मे, प्रकृति के प्रत्यक्ष दर्शन तथा आलम्बन के वर्णन में स्वतन्त्र कोटि का काव्यानन्द मानने में, काव्यगत न्याय, मर्यादा आदि के समर्थन मे तथा वर्णन में सश्लिष्टता सिद्धान्त के समर्थन में बहुत दूर तक साम्य रखते हैं।"—आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त ले डॉ. रामलालसिंह कर्मभूमि प्रकाशन मन्दिर, वाराणसी, पृ 449।

और ग्राहक कल्पना, जो कल्पना के स्थूलतम भेद हैं, के अलावे शुक्लजी ने केवल स्मृत्याभास कल्पना और अनुमानाश्रित प्रत्यभिज्ञानरूपा कल्पना का पुन-पुन उल्लेख किया है, और एकाध बार सावयव कल्पना तथा विभाव-विधायक कल्पना का भी। इस तरह इनकी विचारणाओ का अधिकाश सम्बन्ध कल्पना के स्वरूप-पक्ष मे ही है। दूसरी ध्यातव्य बात यह है कि इन्होने कल्पना पर केवल काव्य (उसमे भी विशेषकर कविता) की दृष्टि मे विचार किया है, सम्पूर्ण ललित-कलाओ के विस्तृत सन्दर्भ मे नही। अत कल्पना को ललितकला का एक प्रमुख तत्त्व मानकर उसका सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करते समय हमे शुक्लजी के कल्पना-सिद्धान्त से आशिक प्रकाश ही मिल पाता है।

शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचको तथा साहित्यकारो ने भी प्रसगवश (आलोच्य विषय के प्रसग मे) कल्पना पर विचार किया है, जिसमे मौलिकता का प्राय अभाव-सा मिलता है। इन विचारको ने या तो शुक्लजी के कल्पना-सिद्धान्त की शब्द भेद से आवृत्ति की है या कॉलरिज के कल्पना-निरूपण की छाया ग्रहण की है अथवा शुक्लजी और कॉलरिज के निरूपणो को एक साथ मिला-जुलाकर उपस्थित कर दिया है।[1] अत शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचना मे कल्पना पर तात्त्विक विचार की दृष्टि से कोई नवीन या उल्लेख्य सामग्री नही मिलती है।

अब हम उपर्युक्त उल्लेख्य विचारको के कल्पना-सिद्धान्तो के सर्वेक्षण के बाद और कल्पना की निजी तात्त्विक समीक्षा के पूर्व एक बहुधा विचारित प्रश्न का विवेचन प्रस्तुत करेंगे। वह है—कल्पना और 'फैंसी'[2] का स्वरूप-भेद, पार्थक्य-

1 जैसे कॉलरिज और शुक्लजी के निरूपणा का यह मिला-जुला रूप हम डॉ देवराज के कल्पना विचार मे देख सकते हैं। डॉ देवराज कल्पना को अनुभव निरपेक्ष कोई मानसिक व्यापार नहीं मानते हैं। इनके अनुसार कल्पना बुद्धि का एक सक्रिय पहलू है और इसके विस्तृत तथा व्यापृत होने का क्षेत्र अनुभूति सापेक्ष है। कल्पना का विवेचन करते हुए इन्होंने लिखा है—'मानसशास्त्री प्राय स्मृति और कल्पना का एक साथ वर्णन करते हैं। दोनों मे समानता है और भेद भी। स्मृति और कल्पना दोनों म अतीत अनुभवों की आवृत्ति होती है। भेद यही है कि जहाँ स्मृति मे (1) यह चेतना रहती है कि स्मृत अनुभव पहले कभी ज्ञान का विषय हुए थे, और (2) अनुभवों का प्राय वही क्रम या सगठन होता है जो उनके प्रथम ग्रहण के समय था, वहाँ कल्पनागत आवृत्ति में पूर्वानुभव' की चेतना नहीं होती तथा अनुभूत तत्त्वों का क्रम या सगठन भी बदल जाता है। सक्षप म, कल्पना का काम अनुभूत तत्त्वो को नये ढग से सगठित करके नयी समष्टियाँ (Wholes) में ढालना है।
—छायावाद का पतन, ले डॉ देवराज प्रथम सस्करण, पृ 83।

2. आनन्दकुमार स्वामी ने 'फैंसी' के लिए 'वासना' शब्द का प्रयोग किया है। देखिए—'द ट्रान्सफॉर्मेशन ऑव आर्ट', ले आनन्दकुमार स्वामी, डोवर पब्लिकेशन्स, 1956 पृ 45। हिन्दी मे 'फैंसी' के लिए ललित कल्पना', 'अतिकल्पना' या 'उपकल्पना', शब्द का व्यवहार मिलता है। किन्तु हम अगले विवेचनो के आधार पर पायेंगे कि ये शब्द 'फैंसी' के पूरे अर्थ को नही ढो पाते हैं।

निरूपण तथा व्यपदेश निर्धारण। इस प्रश्न के सम्बन्ध में हमें बहुत भिन्न मान्यताएँ मिलती है। कुछ विचारक 'फैंसी' को कल्पना का निम्न, कृश या अल्प रूप मानते हैं, कुछ विचारक 'फैंसी' को कल्पना से श्रेष्ठ मानते है और कुछ विचारक दोनों को एक ही अर्थ का द्योतन करनेवाला पर्यायवाची मानते हैं। किन्तु, अधिक मान्यता इसी पक्ष को मिल सकी है कि 'फैंसी' कल्पना का एक अवर या निम्न रूप है, अर्थात् 'फैंसी' उपकल्पना या अतिकल्पना है। अत हम सर्वाधिक मान्य इसी पक्ष को लेकर अपनी विवेचना प्रारम्भ करेंगे और शेष दो पक्षों को प्रसगानुसार यथास्थान सक्षिप्त चर्चा कर देंगे।

कॉलरिज ने ही, सर्वप्रथम, 'फैंसी' की व्यवस्थित परिभाषा दी है।[1] इनके द्वारा निरूपित 'फैंसी' को हम एक प्रकार की नेतिमूलक अर्हता ('निगेटिव

---

1 यहाँ यह स्मरणीय है कि 'फैंसी' को काण्ट ने एक प्रकार का उपलक्षित सयोजन—'फिगरेटिव सिन्थेसिस' कहा है। इतालियन में 'फैंसी' के लिए '*Imaginazzione*' शब्द का व्यवहार होता है और कल्पना के लिए '*fantasia*' का। अठारहवीं शताब्दी की आलोचना में प्राय ये शब्द पर्यायवाची की तरह प्रयुक्त होते थे। प्लेटो ने 'रिपब्लिक' में 'फैण्टेसिया' की कड़ी आलोचना की है। इनके अनुसार 'फैण्टेसिया' आत्मा के निम्न स्तर की वह वृत्ति है, जो भ्रम और इलहामों की सृष्टि करती है तथा मनुष्य की तर्कशील रुचि को खण्डित कर उसे सवेग का पुज बना देती है। अरस्तू ने 'फैण्टेसी' की कुछ *अधिक सुविचारित* व्याख्या प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। इन्होंने 'फैण्टेसी' को सवेदन सम्मति, स्मृति और बुद्धि का उपकारी माना है। इनके अनुसार 'फैण्टेसी' चिन्तन को आकृति प्रदान करनेवाली सर्वोत्तम शक्ति है। कोई भी विचार 'फैण्टेसी' की सहायता के बिना निर्मित नहीं हो सकता। किन्तु अरस्तू भी प्लेटो की तरह 'फैण्टेसी' का सम्बन्ध कुछ अशो में आत्मा के निम्न स्तरों से मानते थे। तदनन्तर लोजाइनस और क्विण्टिलियन ने 'फैण्टेसी' को मनावेग (पैसन) से सम्बन्धित माना। तब कुछ दिनों के बाद 'फैण्टेसी' में नवीन अर्थागम हुआ और उसका पर्याय '*Imaginatio*' शब्द बन गया। मध्यकाल तक ये दोनों शब्द साहित्य में पर्याय की तरह व्यवहृत होते रहे। मध्यकाल के बाद '*fantasia*' और '*Imaginatio*' में यह अन्तर माना गया कि पहले में सयोजक या उत्पादक शक्ति प्रधान है—और दूसरे में पुनरुत्पादक प्रक्रिया। 'फैण्टेसिया' (Fantasia) शब्द पाश्चात्य सगीतशास्त्र में भी एक विशिष्ट अर्थ में प्रचलित है जो कल्पना-विवेचन के प्रसग में आनेवाली 'फैण्टेसिया' से भिन्न है किन्तु सगीतशास्त्र की 'फैण्टेसिया' में भी आश्चर्य, कौतूहल और मुक्त भाव की विद्यमानता रहती है। *Leonard G Ratner* ने 'फैण्टेसिया' के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"The fantasia is a piece. It appeals to sense of the improvisatory, the element of surprise is cultivated, the music seems to wander freely without balance of phrase or well-defined candences The figures in a fantasia are brilliant, the harmony is boldly exploratory"—*Leonard G Ratner*, Music—The Listner's Art, New York, 1957, p 213

कैपबिलिटी') कह सकते हैं।[1] नेतिमूलक अर्हता का अर्थ मनुष्य की वह क्षमता है, जिसके सहारे वह तथ्यों और तर्कों का आश्रय लिए बिना ही कुछ काल के लिए अनेक अनिश्चयों, रहस्यमय इलहामों और सन्देहों के बीच रम सकता है। सचमुच, 'फैंसी' ऐसे दूरस्थ और असदृश बिम्बों या वस्तुओं को एक समीकरण अथवा सयोजन मे लाती है, जिनमे धर्म-साम्य, गुण-साम्य या रूप-साम्य की दृष्टि से अनुकूलता या पारस्पर्य का अंश अत्यन्त कम रहता है। अत 'फैंसी' को एक प्रकार से 'जक्स्टापोजीशन ऑव अनरिलेटेड ऑब्जेक्ट्स' भी कहा जाता है।[2] साथ ही 'फैंसी' से निर्मित बिम्बो मे प्राय तर्क और इच्छा शक्ति ('च्वायस एण्ड विल') की प्रधानता रहती है, किन्तु, यह विनियोजित तर्कशक्ति अत्यन्त अन्तर्मुख और कौतुकपूर्ण होती है। दूसरी ओर कल्पना एक ऐसी सृष्टि है, जिसमे अनेक बिम्बो का समीकरण नही होता, बल्कि एक बिम्ब ही प्रधान रहकर अनेक सम्बद्ध बिम्बो की सृष्टि करता है। अर्थात्, कल्पना द्वारा निर्मित बिम्ब विधान मे अनेकता का वैविध्य नही, उसकी अन्तरग एकता यानी साम्य की प्रधानता रहती है। कल्पना द्वारा निर्मित बिम्ब विधान की दूसरी विशेषता यह है कि उसमे स्मृति का अंश, अत वस्तु-बोध अवश्य विद्यमान रहता है। तीसरी विशेषता यह है कि कल्पना से बने बिम्ब 'फैंसी' से निर्मित बिम्बो की तरह खाका (डाइग्राम) मात्र नही होते बल्कि भावाक्षिप्त या भावनाविष्ट ('रिचली टोण्ड विद फीलिंग') हुआ करते हैं। चौथी विशेषता यह है कि कल्पना मानव मन की अनेक स्थितियो को चेतना के 'एक क्षण' मे केन्द्रित और मूर्तिमान कर देती है। इसलिए कल्पना अपनी उडान मे भी केन्द्रगामिता को नही भूलती है। अत मूर्त्तिविधान,[3] केन्द्र-

1 फैंसी को परिभाषित करते हुए कॉलरिज ने 'बायग्राफिया लिटरारिया' के तेरहवें परिच्छेद मे लिखा है—'Fancy has no other counters to play with, but [illegible] than a mode of [illegible] pace while it is [illegible] mena of the will, [illegible] with the ordinary memory the fancy must receive all its materials readymade from the law of association '—Biographia Literaria, *Coleridge*, London, 1939, p 160

2 आलोचना म व्यावहारिक ढग से 'फैंसी' की विवृति के लिए द्रष्टव्य—जॉन कीट्स'स फैंसी', ले जे आर काल्डवेल कार्नेल युनिवर्सिटी प्रेस, 1955।

3 कॉलरिज ने कल्पना को एजेम्प्लास्टिक पावर कहा है। एजेम्प्लास्टिक शब्द '*elsenoplasy*' से बना है जिसका अर्थ होता है 'को-आडनेशन' अर्थात् एकीकरण—द फैकल्टी दैट फॉर्म्स द मेनी इन टु वन। इसलिए विरोधि समागम (रिकॉन्सीलियेशन ऑव आपोजिट्स') को भी कल्पना का एक गुण माना जाता है। वस्तुत कल्पना दो या अनेक दूरस्थ वस्तुओं के बीच सायास बुद्धि के सहारे अथवा अनायास ही सांस्थिक ऐक्य स्थापित कर देनेवाली एक विचित्र सश्लेषणशील जादूभरी शक्ति है।

गामी संयोजन[1] और समीकरण, कॉलरिज के अनुसार, कल्पना के विभाजक लक्षण है। फलस्वरूप कल्पना के बिम्ब जहाँ इकहरे, विशिष्ट और आशु होते हैं, वहाँ 'फैंसी' के बिम्ब स्थिर और चाकचिक्य से भरे होते है। पुन कल्पना मे दो तत्त्वो की आत्यन्तिक आवश्यकता रहती है—भावना एव स्मृति की। किन्तु, 'फैंसी' म स्मृति का अश नगण्य रहता है और भावना रहती भी है, तो आवेशयुक्त एव तत्पर नही, शिथिल और निबल। इसलिए 'फैंसी' सर्वत्र नन्दतिक बोध की निम्न अवस्थाओ से सम्बन्धित रहती है। इसमे लावण्य रहता है और यह अधिक-से-अधिक रजक अथवा 'सुन्दर' की कोटि तक पहुँच सकती है, किन्तु, इसस कभी भी 'उदात्त' की सृष्टि नही हो सकती। तदनन्तर, 'फैंसी' मे वस्तुबोध नही के बराबर रहता है। इसे ही (कल्पना को नही) हम प्लेटो की फैण्टेसिया' कह सकते है, जिसे उन्होने सत्य का विलोम माना था। इस प्रकार वस्तुबोध की कमी के साथ ही 'फैंसी' मे स्थिरता, निश्चय तथा देश-काल के बन्धना का अभाव रहता है। इसके अलावे कल्पना मे बोध के साथ प्रतिबोध भी रहता है, जब कि फैंसी' में केवल बोध। 'बोध' का अर्थ होता है इन्द्रियो के माध्यम से प्राप्त होनेवाला वस्तु-विषय का ज्ञान तथा 'प्रतिबोध' का अर्थ होता है, वस्तु-विषय का वह ज्ञान जो आत्मा को इन्द्रियो की सहायता से नही, बुद्धि की वृत्तियो के माध्यम स प्राप्त होता है। इसीलिए 'केनोपनिषद् मे कहा गया है—'प्रतिबोध विदित मतममृतत्व हि विन्दते।'[2] साराश यह है कि फैंसी' मे केवल अव्यवस्थित उडनशीलता रहती है बौद्धिक सन्तुलन नही।

किन्तु कुछ विचारक, जिनम हॉब्स प्रमुख हैं, फैंसी' और 'इमाजिनेशन' (कल्पना)—दोना शब्दो को पर्यायवाची मानते हैं। हॉब्स का कथन है कि 'फैंसी'

1 कालरिज की कल्पना सम्बन्धी विचारणाओ म दो शब्दो—कोऑर्डिनेटिंग फैकल्टी और एसीमिलेशन की आवृत्तिमूलक प्रधानता है। ये दोनो शब्द कॉलरिज के द्वारा विशिष्ट और पारिभाषिक अथ म प्रयुक्त किये गये हैं। कॉलरिज के इन दानो विशिष्ट और पारिभाषिक शब्दो पर फ्रैंक कर्मोड ने एक बडी अच्छी टिप्पणी दी है—"Coleridge s terminology for the imagination --as Mr M H Abrams, who has made a thorough study of it, points out,-- is biological in favour The imagination assimilates, it is the 'co odunating faculty'-- this term refers to what is now called 'symbiosis' It 'generates and produces a form of its own' 'It is astonishing', says Mr Abrams, 'how much of Coleridge s critical writing is couched in terms that are metaphorical for art and literal for a plant, if Plato's dialectic is a wilderness of mirrors, Coleridge's is a very jungle of vegitation "—Romantic Image, *Frank Kermode*, London, 1957, p 93

2 केनोपनिषद्, उपनिषद् भाष्य सानुवाद, खण्ड 1, गीताप्रेस गोरखपुर, नवम सस्करण, पृ 78।

भी कल्पना की तरह संश्लेषणात्मक है, इसलिए ये दोनों परस्पर भिन्न नहीं हैं। इसी तरह ड्राइडेन ने भी 'फैंसी' और कल्पना में कोई विशेष अन्तर नहीं माना है। ड्राइडेन की 'फैंसी' तो कॉलरिज के 'इमाजिनेशन' का पर्याय मालूम पड़ती है। कॉलरिज ने 'फैंसी' को उस देशकाल-मुक्त स्मृति के रूप में स्वीकार किया है, जिसमें व्यक्ति का यदृच्छाचार साहचर्य या आसंग के तत्त्वों से प्रधान रहता है। अतः 'फैंसी' काव्योपयुक्त नहीं होती है और कल्पना की अपेक्षा हीन कोटि की होती है।[1] किन्तु, ड्राइडेन ने 'फैंसी' को ही काव्योपयुक्त कल्पना के रूप में स्वीकार किया है, 'इमाजिनेशन' तो इतना अनगढ़, वन्य और अनियन्त्रित होता है कि उससे काव्य की रचना नहीं हो सकती। इतना ही नहीं, ड्राइडेन के अनुसार 'फैंसी' से ही काव्य को जीवन्त सम्पर्श प्राप्त होता है।

वेब्स्टर ने कल्पना और 'फैंसी' को एक ही सृजनात्मक शक्ति के दो भिन्न प्रयोगों के रूप में स्वीकार किया है। किन्तु, ड्राइडेन के विपरीत इनके अनुसार कल्पना 'फैंसी' की तुलना में एक उच्च स्तर की शक्ति है।[2] वर्ड्सवर्थ ने भी कल्पना और फैंसी' के भेद को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। इन्होंने 'टु द स्काइ-लार्क' शीर्षक कविता को 'फैंसी' का उदाहरण माना है और 'टु द कक्कू' शीर्षक कविता को कल्पना का, किन्तु, बात स्पष्ट नहीं हो सकी है। मेरी दृष्टि से यह बात तभी स्पष्ट हो सकेगी, जब हम कल्पना और 'फैंसी' के अन्य दो समानधर्मा तत्त्वों —'हैल्यूसिनेशन' और 'विट' से इनका पार्थक्य समझ लेंगे।

सामान्य जन को कभी-कभी कल्पना और प्रतीति-भ्रम (हैल्यूसिनेशन) के अन्तर को समझने में कठिनाई हो जाती है। मौके-बेमौके प्रतीति-भ्रम से गुजरने

1. टी. ई. ह्यूम ने भी 'फैंसी' के सम्बन्ध में ऐसा ही मत व्यक्त किया है। इन्होंने 'फैंसी' के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है— When the analogy *has* not enough connection with the thing described to be quite parallel with it, where it overlays the thing it described and there is a certain excess, there you have the play of fancy—that I grant is inferior to imagination" —*T E Hulme*, Speculations, Routledge and Kegan Paul, London, pp 137-138 प्रसिद्ध दार्शनिक हीगेल ने भी कल्पना को 'creative' और फैंसी को 'passive' मानते हुए यह धारणा व्यक्त की है कि कल्पना फैंसी' की तुलना में श्रेष्ठ है और वह कलाकार की सर्वोत्कृष्ट शक्ति (the most conspicuous *faculty*) है। —*Hegel*, The Philosophy of Fine Art, translated by *Osmaston*, London, 1920, p 381

2. वेब्स्टर ने अपनी स्थापना को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"Imagination is the higher exercise of the two, and has *strong* emotion as its actuating and formative cause, whilst fancy moves on a lighter wing, it is governed by laws of association which are more *remote*, and sometimes arbitrary or capricious."

वाले शेली इत्यादि जैसे कवियों की कहानी भी इस कठिनाई को कठिनतर बना देती है। किन्तु, कल्पना और प्रतीति-भ्रम का अन्तर बहुत ही स्पष्ट है। प्रतीति-भ्रम को बाह्य प्रतीति[1] भी कहते हैं। इसका संकेत यह है कि जब कल्पना-प्रसूत बिम्ब मानसिक न रहकर नेत्रों के समक्ष वस्तु-प्रत्यक्ष बन जाय, तब उसे प्रतीति-भ्रम कहते है। जैसे, नाखून भरे चार पाँव, क्षीण कटि और अयाल का मानसिक अंकन 'सिंह' की कल्पना है, किन्तु, कमरे में बैठे-बैठे 'सिंह दौड़ा जी। जान गयी, रे बाप!' कहते हुए सिर पर पैर रखकर भाग खड़ा होना प्रतीति-भ्रम है।[2]

इसी तरह कल्पना और 'फैंसी' के सन्दर्भ में प्रायः 'विट' की चर्चा की जाती है और यह माना जाता है कि कल्पना तथा 'फैंसी' में 'विट' का तत्त्व अवश्य रहता है। हमें इतनी बात मान्य है कि 'विट' में भी एकाधिक दूरवर्ती वस्तुओं में सादृश्य, निकटता या औपम्यमूलकता की स्थापना की जाती है, किन्तु, 'विट' में उक्तिवक्रता, अवरेब और प्रत्युत्पन्न-मतित्व की प्रधानता रहती है। 'विट' के कई व्याख्याताओं, जैसे ड्राइडेन इत्यादि ने 'विट' को कल्पना के समान ही एक काव्योपयुक्त प्रकृष्ट शक्ति के रूप में स्वीकार किया है, लेकिन मेरी दृष्टि में 'विट' का साम्य 'फैंसी' से ही स्थापित किया जा सकता है, कल्पना के साथ 'विट' की तुलना का कोई प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए।

इस अल्प पृष्ठिका के उपरान्त अब हम कल्पना और 'फैंसी' के पार्थक्य-निरूपण में प्रवृत्त होंगे तथा कॉलरिज की एतद्सम्बन्धित मान्यताओं को अपने विश्लेषण की आधार शिला के रूप में ग्रहण करेंगे। जैसा कि हम पहले भी उल्लेख कर चुके हैं, कॉलरिज के अनुसार 'फैंसी' एक प्रकार की ऐसी आमग निर्भर स्मृति है, जो देश-काल की धारणा एवं नियन्त्रण-क्रम से मुक्त होने के साथ ही इच्छा और अभीप्सा (विल एण्ड च्वायस) से संशोधित होती है। इस तरह 'फैंसी' को हम 'सूडो इमाजिनेशन' कह सकते हैं। 'फैंसी' की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें किसी खण्ड-दृष्टि या वैयक्तिक रुचि के आधार पर दो या दो से अधिक ऐसे असदृश्य बिम्बों का संयोजन या सम्मिलन रहता है, जो स्वभावतया परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं रखते हैं। 'फैंसी' की इस विशेषता और कल्पना की वरीयता के प्रति कॉलरिज बहुत सचेत थे। सम्भवतः, इसीलिए इन्होंने कल्पना का 'आइजेनो-प्लासी'[3] से सम्बन्ध दिखाते समय 'कैटोप्ट्रिक'[4] या 'मैटोप्ट्रिक' 'फैण्टेसी' से

1 स्पीयरमैन का भी मत है—" hallucinations are essentially the same thing as images, only pushed to a fuller degree of sensuousness "—Creative Mind, C Spearman, p 139
2, 'Exteriorite'.
3, Eisenoplasy,
4 Relating to reflection.

'आइजेनोप्लासी' के पार्थक्य को स्पष्टतया सूचित कर दिया है। पुन. यह भी विचारणीय है कि 'फैंसी' के सयोजन मे केवल 'सग्रह' रहता है, जबकि कल्पना के सयोजन मे 'मिश्रण' की अधिकता तथा इस 'मिश्रण' के सहारे किसी नवीन 'सृजन' की आकाक्षा रहती है। इसलिए फैंसी' मे स्मृति-निर्भर उपादानो का एक बहुरगी वैविध्य रहता है।

इस प्रकार कॉलरिज ने कल्पना और 'फैंसी' मे एक निश्चित पार्थक्य माना है।[1] इन्होने इन दोनो की, क्रमश, 'डेलिरियम' और 'मैनिया' से तुलना की है। विस्तार से सोचने पर ऐसा लगता है कि कल्पना मे विभिन्न पदार्थो, उपमानो, प्रतिकृतियो, धारणाओ का एक ऐसा विलयनशील सम्मिश्रण अथवा सयोजन रहता है, जिसमे सभी अपना पृथक् पृथक् अस्तित्व खोकर प्रपाणक रस की तरह मिल जाते हैं और अयुतसिद्धावयव बनकर सर्वथा एक नूतन सृजन का रूप धारण कर लेते हैं। किन्तु, 'फैंसी मे आयोजित विभिन्न सदृश प्रतिकृतियाँ, धारणाएँ, पदार्थ अथवा उपमान एक स्थान पर इकट्ठे तो होते हैं परन्तु सभी अपना बिलग बिलग अस्तित्व सुरक्षित रखते हैं तथा नूतन सृजन के बदले किसी चमत्कारपूर्ण सम्भावना की विस्मिय छटा भर पैदा करते हैं। अत कल्पना मे जहाँ विलयन और सृजन की प्रधानता होती है, वहाँ 'फैंसी' म सग्राहकता और सम्भावना मात्र रहती है। फलस्वरूप, कविगण जहाँ वस्तु चित्रण अथवा मानसमूर्त्ताभिधान के सन्दर्भ मे उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, उदाहरण सम्भावना, विशेषकोन्मीलित या रूपक का मण्डान बाँधते हैं, वहा कल्पना स अधिक के 'फैंसी' का ही सहारा लिया करते हैं। हम कुछ उदाहरणा के द्वारा फैंसी को पर्याप्त यथातथ्य के साथ समझने की चेष्टा करेंगे। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस' मे विवाह-प्रसग के अन्तर्गत दो स्थिति चित्रो को मानसमूर्त्ताभिधान के रूप मे उपस्थित किया है—

सोहत जनु जुग जलज सनाला
ससिहि सभीत देत जयमाला।

और

अमिय पराग जलज भरि नीके
ससिहि भूप अहि लोभ अमी के।

पहले चित्र मे सीता राम को जयमाला पहना रही हैं और दूसरे चित्र मे राम सीता

1 "Repeated meditations led me first to suspect,—(and a more intimate

of being, according to the general belief, either two names with one meaning, or, at furthest, the lower and higher degree of one and the same power' —*Biographia Literaria*, London, 1939, p 45

को सिन्दूर दे रहे हैं। इन दोनों स्थिति-चित्रों को प्रस्तुत करने मे महाकवि ने 'फंसी' का ही सहारा लिया है, क्योंकि प्रथम चित्र मे आये हुए सनाल जलज और शशि केवल एकत्र ही हो सके है, तदात्म और तद्रूप नही। पुन दूसरे चित्र में आये हुए जलज, शशि और अहि एकत्र होकर भी अपनी पृथकता नही खो सके हैं। वास्तविक जगत् मे भी कमल, चाँद और साँप का कोई निकट सम्बन्ध नही रहने से इन पक्तियो को पढने के उपरान्त हमारे मन मे केवल एक *'सम्भावना' जगती है।* इसी तरह कामायनी मे प्रसादजी ने जहाँ श्रद्धा की दृष्टिरजना मूर्ति को शब्दो के द्वारा उरेहने की चेष्टा की है, वहाँ 'फंसी' का ही सहारा लिया गया है—

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखिला अग
खिला हो ज्यो बिजली का फूल
मेघ-वन बीच गुलाबी रग।[1]

क्योंकि इन पक्तियो मे भी मानसमूर्त्ताभिधान के क्रम मे आये हुए मेघ और वन एव बिजली और फूल एक जगह एकत्र भर हो सके है, परस्पर विलीन नहीं हो सके है। उन्हे पढने के बाद सहृदय-चित्त मे एक दूरवर्ती सम्भावना अवश्य जगती है कि यदि बिजली का फूल हो, तो वह कितना सुन्दर होगा। इसी प्रकार प्रसादजी ने आँसू मे भी एक अनामा सुन्दरी की लावण्यमयी तनिमा की अनन्वयता को व्यक्त करने के लिए 'फंसी' का सहारा लिया है—

चचला स्नान कर आवे
चन्द्रिका पर्व मे जैसी
उस पावन तन की शोभा
आलोक मधुर थी ऐसी।[2]

भला, चचला और चन्द्रिका मे समागम कैसा। चचला के रहने पर चन्द्रिका नही छिटक सकती और चन्द्रिका के रहने पर चचला कभी कौंध नही सकती। अत यहाँ शोभा की सम्पूर्ण अनन्वयता एक असाधारण 'सम्भावना' से व्यक्त [illegible] नी 'फंसी' का विभाजक लक्षण है। इस तरह 'फंसी' मे दो या दो [illegible]
तथा लोक-जीवन मे पर्याप्त पार्थक्य रखनेवाली धारणाओ,
वस्तुओ को एकत्र या सगृहीत कर एक 'सम्भावना' का सकेत [illegible]
इनके प्रपाणक रसवत् मिश्रण से कोई नवीन सृजन।
विवृति मे जो उदाहरण प्रस्तुत किया है—

1. कामायनी, ले जयशकर प्रसाद, भारती भण्डार, प्रयाग, सवत्
2. आँसू, ले. जयशकर प्रसाद, भारती भण्डार, प्रयाग, पृ. 24।

फुल जेण्ट्ली नाउ शी टेक्स हिम बाय द हैण्ड,
ए लिली प्रिजण्ड एन ए गोल[1] आव स्नो,
ऑर आइवरी इन एन अलबास्टर बैंण्ड,
सो ह्वाइट ए फ्रेण्ड एनगर्ट्स सो ह्वाइट ए फो।

(वेनस एण्ड एडोनिस)

उससे भी इसी धारणा का समर्थन होता है। यहाँ एडोनिस तथा वेनस के हाथो की श्वेतिमा सुकोमलता के मानसमूर्ताभिधान के लिए क्रमश 'लिली' और 'गोल ऑव स्नो' अथवा 'आइवरी' या 'अलब्रास्टर बैण्ड' को प्रस्तुत किया गया है। किन्तु यहाँ ये सारी चीजें इक्ट्ठी भर हो सकी है कारण, लिली' और 'स्नो' अथवा 'आइवरी' और 'अलवास्टर' जैसे मिस्री (मिस्र देश का) श्वेत पाषाण को परस्पर क्या लेना-देना है। अत ऐसे असदृश पदार्थों के एकत्रीकरण से कवि हमारे सामने एक चमत्कारपूर्ण सम्भावना भर पैदा कर सका है। किन्तु (ठीक इसके विपरीत) जहाँ प्रसाद ने श्रद्धा और मनु के पाणिग्रहण (हाथ मिलाने) का वर्णन प्रस्तुत किया है, वहाँ हमे कल्पना का सुन्दर विनियोग मिलता है—

जलदागम मारुत से कम्पित,
पल्लव सदृश हथेली,
श्रद्धा की धीरे से मनु ने
अपने कर मे ले ली।[2]

कारण, यहाँ श्रद्धा के कोमल करो का दृश्य-विधान प्रस्तुत करने के लिए कवि ने असदृश पदार्थों के एकत्रीकरण से कोई चमत्कारपूर्ण सम्भावना नही पैदा की है, बल्कि बरसाती हवा से हिलते हुए कोमल पल्लव (जो हमारे लिए अत्यन्त सुपरिचित है) का एक साधारणीकरण-सुलभ उपमान खडा किया है। इतना ही नही, यदि रसशास्त्र की भाषा म कहे तो कवि ने 'जलदागम' और 'कम्पित' के सहारे क्रमश, प्रस्वेद और कम्प सात्विक का भी सक्ेत कर दिया है। इस तरह जहाँ कवि दूर की कौडी चुने बिना, ऊहा को छोडकर सौन्दर्य-बोध से उपेत अभिप्रायपूर्ण उपमान खडा कर दे, वहाँ कल्पना का प्रयोग समझना चाहिए।

'फैसी' की उडान म अथवा 'फैंसी' के अन्तर्गत सम्भावनाओ के विधान मे लोकविश्रुत कथा रूढियाँ और गतानुगत विश्वास भी पर्याप्त योग देते है। जैस रामचरितमानस से उपरि-उद्धृत द्वितीय स्थिति-चित्र मे शिव के मस्तक पर विराजनेवाले चाँद और उनके गले मे राजनेवाले अहिभूषण की पौराणिक धारणा ने पृष्ठभूमि का काम किया है। इसी तरह 'पर्वत भी उडते हैं'—ऐसी लोक-प्रचलित

1. Goal
2. कामायनी, ले जयशकर प्रसाद, भारती भण्डार, प्रयाग, सवत् 2009, पृ 127।

भारतीय धारणा ने अधोलिखित पक्तियो मे प त की फसी को कितनी अच्छी तरह उकसा दिया है—

उड गया अचानक लो भूधर
फडका अपार पारद के पर।
रव शेष रह गये है निर्झर।
है टूट पडा भू पर अम्बर।[1]

भला भूधर और पर (उसमे भी पारद के पर) मे कौन सा समीपी सम्बन्ध है ? यह फसी का ही कमाल है कि इतने दूरस्थ पदार्थों और गुणो को एकत्र कर एक चमत्कारपूर्ण सम्भावना पैदा कर दी है। इस प्रसग मे हम यह याद रखना है कि कविता ही नही गल्प (विशेषकर तिलस्मी ऐयारी से सम्बन्धित और डिटेक्टिव रचनाओ) म भी फसी का पर्याप्त उपयोग होता है।

किन्तु उक्त उदाहरणो के द्वारा फसी को निरूपित करने का यह आशय नही है कि फसी और कल्पना मे कोई अरि भाव अथवा व्यतिरेकी सम्बन्ध है। कही कही कल्पना विधान म भी फसी का योग स्वीकार किया जाता है। जसे भारवि की निम्नलिखित पक्तियो की उत्तरवर्तिनी कल्पना का प्रभाव पक्ष फसी पर निर्भर है—

सवाता मुहुरनिलेन नीयमाने दिव्यस्त्रीजघन वरांशुके विवत्तिम।
पयस्यतपृथुमणिमेखलांशु जाल सञ्जन युतकमिवान्तरीयमूर्वो ।[2]

अर्थात गतिशील पवन ने (अर्जुन को तपोभ्रष्ट करने के लिए इन्द्रप्रेषित) दृष्टि रजना सुरबालाओ के जघनच्छादी वस्त्रो को विमुग्ध कामी पुरुष की तरह बार बार हटा दिया—यहाँ तक विशुद्ध कल्पना है। किन्तु भारवि जहाँ विवसनाओ की सहायता मे यह कहते हैं कि जघनच्छादी वस्त्रो क हट जाने पर भी उन सुरबालाओ की रत्न जटित मेखलाओ से विकीर्ण किरण समूह ने उनकी पृथुल जाघो को लहँगे (साया) की तरह ढक लिया (जिसस वे नग्न न होने पायी) वहाँ फसी है। कारण, यहाँ भावुकता को योग देने के लिए वह हल्की बुद्धि खडी है (क्योकि प्रकाशाधिक्य से दृष्टि का अवरोध होता है) जिसने कल्पना को हद स बाहर कर दिया है। और यह जानी हुई बात है कि फसी बुद्धि के व्यायाम से हद के बाहर पहुँचायी हुई कल्पना है। इस प्रकार ऐसे अनेको उदाहरण मिलते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि कही-कही कल्पना विधान म भी फसी का योग स्वीकार किया जाता है और अधिकाश रचनाएँ इस योग से चमत्कारपूर्ण हो जाती है। किन्तु हमे इस महत्त्वपूर्ण

1 आधुनिक कवि ले सुमित्रानन्दन पन्त हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग छठा सस्करण पृ 13।
2. किरातार्जुनीयम सप्तम सर्ग श्लोक सख्या 14।

बात को स्वीकार कर लेना है कि काव्य एवं अन्य ललितकलाओं के नन्दतिक बोध की दृष्टि में 'फैंसी'[1] की तुलना में कल्पना का निर्विवाद ऊँचा स्थान है। परम्परा में ही 'फैंसी' की तुलना में कल्पना को अधिक ऊँचा स्थान दिया गया है। विशेषकर, एडिसन ने कल्पना के साथ जो नयी अर्थवत्ता जोड़ दी, उससे इस शब्द ('इमाजिनेशन'—कल्पना) का अर्थ-गौरव और भी बढ़ गया। किन्तु, अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब साहित्यिक विचारणाओं के क्षेत्र में आसंग सिद्धान्त (थ्योरी ऑव एसोसियेशन) की धूम मच गयी, तब कल्पना की वरीयता कुछ सन्दिग्ध मानी जाने लगी और कभी-कभी तो यह कहा जाने लगा कि लालित्य, सृजनक्षमता तथा चमत्कृत मानसिक सन्दर्भ की दृष्टि से 'फैंसी' ही कल्पना की अपेक्षा श्रेष्ठ है।[2] फिर भी अठारहवीं शताब्दी के समाप्त होते होते कॉलरिज प्रभृति तात्त्विक दृष्टि के विचारकों ने यह स्पष्ट कर दिया कि कल्पना 'फैंसी' की अपेक्षा एक श्रेष्ठ सृजनक्षम मानसिक शक्ति है।[3] हमने भी पिछले पृष्ठों में जो विवेचन प्रस्तुत किया है, उसके आधार पर यही मान्यता सिद्ध होती है। अत निष्कर्ष रूप में हम कहना चाहेंगे कि ललितकलाओं के लिए तात्त्विक एवं सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से कल्पना 'फैंसी' की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण और हितावह है, साथ ही नन्दतिक बोध को जगाने में अधिक समर्थ भी।

कल्पना और 'फैंसी' पर विचार करने के बाद अब हम कल्पना और स्मृति पर विचार करेंगे, क्योंकि अपने पूर्ववर्ती विवेचनों में हमने कल्पना के सन्दर्भ में अनेकों बार स्मृति का उल्लेख किया है। स्मृति और कल्पना में इतनी समता तथा निकटता है कि विचारकों ने कल्पना को स्मृति का ही एक विकसित रूप कहा है। बात यह है कि कल्पना और स्मृति दोनों का आधार प्रत्यक्ष ज्ञान है। स्मृति प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा प्राप्त अनुभव को चेतना के समक्ष सुरक्षित रखती है और कल्पना उन अनुभूत विषयों का स्वेच्छानुसार पुनर्निर्माण करती है। अत कल्पना में सदैव स्मृति

1 कॉलरिज ने 'फैंसी' के चार विशिष्ट लक्षण या गुण बतलाये हैं।—(क) 'फैंसी' वह शक्ति है जिसके द्वारा मूलत असदृश बिम्बों को किसी आंशिक सादृश्य के आधार पर एकत्र किया जाता है। (ख) 'फैंसी' द्वारा योजित (परस्पर असदृश) बिम्ब एकत्र होने पर भी उतना ही पारस्परिक पार्थक्य रखते हैं, जितना कि अलग अलग रहने पर। (ग) 'फैंसी' द्वारा संग्रथित बिम्बों का एकत्रीकरण भी कवि प्रतिभा के तत्त्वत उन्मेष सूझ और आकस्मिक संयोग पर निर्भर करता है। तथा (घ) बिम्बों के इस एकत्रीकरण या संग्रह में कवि की उस इच्छारुचि की प्रधानता रहती है जो मूलत कवि के सेन्द्रिय प्रत्यक्ष तथा परवर्ती आमर्शों पर अवलम्बित रहती है।

2 लिटरेरी क्रिटिसिज्म ए शार्ट हिस्टरी', विलियम के विमसैट एण्ड क्लीन्थ ब्रुक्स, न्यूयार्क, 1959 के पृ 386 पर उद्धृत।

3 'इमेजिनेशन एण्ड थाट्स', जे डी डी जेम्स, चौज एनन एण्ड अनविन, लन्दन 1960, पृ 45 43।

इस प्रकार कल्पना, स्मृति और प्रत्यभिज्ञा की उपरिलिखित चर्चा का निष्कर्ष यह निकला कि कल्पना भूत पर आधारित होती हुई भी भविष्योन्मुख रहती है, जबकि स्मृति का सम्बन्ध मात्र भूतकाल की घटनाओं और अनुभूतियों से रहता है। दूसरी ओर प्रत्यभिज्ञा केवल अतीत और वर्तमान से सम्बन्ध रखती है, जबकि कल्पना भविष्य से सम्बन्ध ही नहीं रखती, बल्कि कल्पना में आयी बहुत-सी वस्तुएँ भविष्य में निर्मित भी हो जाती हैं। इस प्रकार काल को स्वायत्त करने की दृष्टि से कल्पना सर्वाधिक समृद्ध है। पुन स्मृति और कल्पना में एक अन्तर यह है कि स्मृति में हमें किसी पूर्वानुभव की वस्तु का (केवल वस्तु का) सचित सस्कारों के उद्बोध से स्मरण होता है, किन्तु, कल्पना में स्मृति के मात्र आलम्बन (वस्तु) का नहीं, उसके आसगो और साहचर्य का भी स्मरण होता है। उदाहरणार्थ, किसी के कथन-विशेष का स्मरण स्मृति है, किन्तु, उस कथन के साथ ही कथनकर्त्ता की भाव-भगिमा, सलील मुद्रा आदि का भी स्मरण हो आना कल्पना है। दूसरी बात यह है कि स्मृति और प्रत्यभिज्ञा में मनुष्य भोक्ता-मात्र रहता है, किन्तु, कल्पना में कुछ अशो तक नवीन का स्रष्टा' भी। तदनन्तर, अतीत, वर्तमान और भविष्य—तीनों के समागम के कारण कल्पना में क्रान्तदर्शिता रहती है।[1]

कल्पना के प्रसग में सवेदन (सेन्सेशन) पर भी विचार करना आवश्यक है क्योंकि कल्पना में सवेदन का प्रचुर महत्त्व है। सवेदन के सहारे ही कल्पना जीवन्त होती है। इसलिए कल्पना चाक्षुष श्रावण अथवा स्पर्शिक सवेदनो का, प्राय, साथ नहीं छोडती है। वास्तविकता यह है कि हमारी ऐन्द्रिय अनुभूतियो की अनुकूल और प्रतिकूल वेदना ही, जो हमारे सवेदनो के मूल रूप हैं, कल्पना को गति प्रदान करती हैं। अत हर्टले का यह मत सुविचारित प्रतीत होता है कि हमारे सवेदन अर्थात् ऐन्द्रिय अनुभूतियों के सुख दु ख ही कल्पना पर आरोपित होते हैं। इस ऐन्द्रिय अनुभूति की प्रधानता के कारण कल्पना में चाक्षुष प्रत्यक्ष का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा चक्षु सवेदन प्राप्त करने का अधिक व्यापक माध्यम प्रस्तुत करते हैं।[2] साराश यह है कि कल्पना का हमारे सवेदनो से निकट सम्बन्ध सिद्ध होता है। कल्पना के प्रति यह सवेदनावादी दृष्टि-कोण सत्रहवीं शताब्दी में बहुत ही प्रबल था।[3] यौवनावस्था में सामान्यत व्यक्ति का अधिक काल्पनिक होना भी इसे सिद्ध करता है कि कल्पना का सवेदन से निकट

1 'पावर ऑव मेण्टल इमेजरी', ले. वारेन हिल्टन, फक एण्ड वैग्नल्स कम्पनी, न्यूयार्क, 1927, पृ 5।

2 इस दृष्टि से एडिसन की ये पक्तियाँ विचारणीय हैं—' वी कैन नॉट इनडीड हैव ए सिंगल इमेज इन द फैंसी दैट डिड नॉट मेक इट्स फर्स्ट एण्ट्रेंस थ्रू द साइट।''—स्पेक्टेटर, पृ 487, 503।

3 देखिए—एस्थेटिक्स, ले क्रोचे, अनुवादक, डगलस एन्स्ली, लन्दन, 1953, पृ 201 203।

सम्बन्ध है। यौवनावस्था मे सवेदन-शक्ति तीव्रतम रहती है, क्योंकि वस्तु प्रत्यक्ष के उपरान्त तीव्र ऐन्द्रिय प्रतिक्रिया का उत्सारण एक अभ्यास-सा हो जाता है। इसलिए युवक आत्मनिष्ठ या वस्तुनिष्ठ राग विराग और अधिकतर प्रेय के प्रति बहुत जागरूक तथा सचेष्ट रहता है। वस्तुत वय-दृष्टि से यौवनावस्था सवदनशील कल्पना के लिए सर्वोत्तम काल है।

अब हम सक्षेप मे बुद्धि और कल्पना पर विचार करेंगे। बुद्धि वह शक्ति है, जिसके द्वारा मनुष्य किसी उपस्थित विषय के सम्बन्ध मे ठीक ठीक विचार या निर्णय कर सकता है। इसीलिए बुद्धि को कुछ विचारक 'अन्त करण की निश्चयात्मिका वृत्ति' कहते हैं। सारयदर्शन के अनुसार बुद्धि महतत्त्व है, अत प्रकृति का प्रथम विकास तत्त्व है। अर्थात्, बुद्धितत्त्व सत्त्वगुण का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव है। गीता मे बुद्धि के तीन प्रकार माने गये हैं—सात्विकी, राजसी एव तामसी।[1] जिस बुद्धि के द्वारा हम प्रवृत्ति, निवृत्ति, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, बन्धन और मोक्ष का ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह सात्विकी है, जिस बुद्धि के द्वारा हम धर्म, अधर्म अथवा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का यथार्थ निर्णय नही करते है, वह राजसी बुद्धि है और जो बुद्धि सब बातो मे उल्टी समझ पैदा करती है, उसे तामसी बुद्धि कहते हैं।[2] किन्तु, बुद्धि के इन स्वरूपो से कला जगत् की कल्पना का कोई ऋजु अथवा अनृजु सम्बन्ध नही है। हमारे शास्त्रो मे बुद्धि का निरूपण एक दूसरे ढग से हुआ है, जिसके अनुसार निद्रावृत्ति, व्यवसाय, चित्तस्थैर्य, सशय और प्रतिपत्ति बुद्धि के पाँच विशिष्ट गुण है। दूसरी दृष्टि से बुद्धि के सात गुण माने गये हैं--शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊह, अपोह, और अर्थविज्ञान। बुद्धि के इस विश्लेषण से भी कल्पना का प्रयोजन सिद्ध नही होता है। उपर्युक्त गुणो के अतिरिक्त बुद्धि की पाँच वृत्तियाँ मानी गयी हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। इनमे विपर्यय, विकल्प और स्मृति का कल्पना के साथ सीधा सम्बन्ध पडता है। पुन नैयायिको ने नित्या और अनित्या रूपो को छोडकर बुद्धि के जो दो भेद--अनुभूति और स्मृति--बतलाये हैं, उनका कल्पना के विश्लेषण मे पुष्कल उपयोग सिद्ध होता है। हम देख चुके हैं

1 प्रवृत्ति च निवृत्ति च कार्याकार्ये भयाभये।
बधं मोक्ष च या वेत्ति बुद्धि सा पार्थ सात्विकी ॥30॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमव च।
अयथावत प्रजानाति बुद्धि सा पार्थ राजसी ॥31॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थाविपरीताश्च बुद्धि सा पार्थ तामसी ॥32॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय, 18

2 श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य, ले. लोकमान्य बालगगाधर तिलक, अनुवादक, माधवरावजी सप्रे, पूना, 1955, पृ 146।

कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कल्पना के विश्लेषण में अनुभूति और स्मृति को कितना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

इस अल्प पृष्ठिका को प्रस्तुत करने के उपरान्त कल्पना पर दार्शनिक दृष्टि से विचार कर लेना उचित है। दार्शनिक दृष्टि से कल्पना एक प्रकार की आत्मस्थ 'अविद्यामाया' है। इसलिए इसमें सत्य नहीं सत्याभास और सादृश्य नहीं 'आपात सदृश' की अनिवार्य स्थिति रहती है। इस प्रकार कल्पना चित्त की निवृत्ति नहीं, मन की प्रवृत्ति है, अर्थात्, एक प्रकार का 'उपराग' है। अत ऋतु-दृष्टि स कल्पना मे केवल 'प्रातिभासिक सत्य' रहता है, क्योकि कल्पना मूलत व्यक्तिगत प्रतीति पर निर्भर रहती है। जैसे, चाँदनी मे उठती गगा की लहरो को देखकर कवि का यह लिखना—

चाँदी के साँपो-सी रलमल नाचती रश्मियाँ जल मे चल
रेखाओ सी खिच तरल सरल।[1]

एक व्यक्तिगत प्रतीति है। सबो को चन्द्रिका स्नात लहर चाँदी के साँप सी प्रतिभासित नही हो सकती है। इसलिए मूर्तविधायिनी शक्ति से मण्डित होने पर भी कल्पना सर्वथा और सर्वदा सविशेष होती है, वह निर्विशेष कभी नही होती। साथ ही, उक्त प्रातिभासिक सत्य पर निर्भर रहने के कारण कल्पना कभी भी ऋतम्भरा नही होती है। अत मेरी दृष्टि मे सत्य के साथ कल्पना को तुलित करने का दृष्टिकोण मूलत भ्रान्त है। कोई कल्पना कला के क्षेत्र म स्वायत्त 'सत्य या असत्य' के कारण श्रेष्ठ अथवा अवर सिद्ध नही होती, बल्कि उसका इतना ही प्रयोजन है कि वह कलाकार की 'वासना' को रस-रूप मे परिणत कर दे।

कल्पना जहाँ उस वस्तु का बोधाभास प्रस्तुत करती है, जो 'वस्तु' वास्तव में इन्द्रिय ग्राह्य नही है वहाँ उसमे अनुमान का समावेश हो जाता है, क्योकि जो वस्तु या पदार्थ इन्द्रिय ग्राह्य नही है, उसके ज्ञान के साधन को ही अनुमान कहते है। सांख्य दर्शन मे, इसीलिए, अनुमान को इस प्रकार परिभाषित किया गया है—'प्रतिबन्ध दृश प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम्'। जैसे, मानसरोवर म रहनेवाले हसो की कल्पना। सचमुच, किसी ने मानसरोवर मे रहनेवाले हसो को नही देखा है। इस कवि-प्रसिद्धि का कारण अनुमान ही है। मानसरोवर उत्तर में है सुन्दर पुष्कर है और हस भी उत्तर की ओर उडकर जाते हैं, जबकि वे प्राय पुष्कर-सेवी हुआ करते हैं। इस प्रकार एक सरणि पर यह अनुमान-लब्ध कल्पना हो गयी कि मानसरोवर म हस रहते है। अनुमान की प्राय: तीन कोटियाँ मानी जाती है—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतो-

1 आधुनिक कवि, सुमित्रानन्दन पन्त, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, छठा सस्करण, पृ 57।

दृष्ट।[1] जहाँ कवि अपनी अनुभूतियों के आधार पर पात्र का मनोनिवेश प्रस्तुत करता है, वहाँ पूर्ववत् अनुमान काम करता है। जैसे, निजी सुहागरात में प्राप्त नवेली की आत्यन्तिक लज्जालु चेष्टाओं के आधार पर काव्य-निबद्ध नायिका की अलम्बुषा-सी सलज्ज-सलील क्रियाओं का अंकन। शेषवत् अनुमान उसे कहते हैं, जिसमें कवि आगत प्रत्यक्ष को देखकर (बिना दूर की कौड़ी चुने हुए) किसी आगमिष्यत् अप्रत्यक्ष का अन्दाज लगा लेता है। जैसे, श्यामल या मेदुर मेघखण्डों को देखकर वृष्टि की कल्पना। और, सामान्यतोदृष्ट अनुमान उसे कहते हैं, जिसमें 'विशेष' के कार्य से 'सामान्य' की अथवा 'एक' के आधार पर 'समस्त' की जातिगत 'गुण-कल्पना' की जाती है। जैसे, एक-दो लाजवन्ती के कपोलों पर लाली देखकर सामान्य नारी-जाति के सम्बन्ध में लज्जा की अवस्था में कपोल और कर्णमूलों के लाल होने का अनुमान कर लेना। इस प्रकार वीत और अवीत[2] अनुमान की सभी कोटियों में यथार्थ का थोड़ा-सा पुट अवश्य रहता है। दूसरे शब्दों में 'अनुमान' का 'आधार-स्वरूप' प्रत्यक्ष ही उसका यथार्थ है, जैसे—प्रथम उदाहरण में हस, दूसरे में मेघ और तीसरे में प्रत्यक्षीकृत या आलम्बनगत लाजवन्ती। इसीलिए वही कलाकार उत्कृष्ट कल्पनाओं के लिए समर्थ सिद्ध होता है, जो यथार्थ द्रष्टा हुआ करता है और वस्तु का नैमित्तिक ज्ञान रखता है।

क्रिया पक्ष की दृष्टि में कला कल्पना का भोग—'चिदवसानो भोग'—है। इसलिए जीवन के प्रारम्भ में कल्पनाओं का धनी रहनेवाला कवि अन्त में दार्शनिक मात्र रह जाता है, क्योंकि कला-सृजन के क्रम में कल्पना की शक्ति छीजती रहती है। यदि हम प्रश्नोपनिषद् के दो शब्दों का सहारा लें, तो कल्पना और कलाकार के सम्बन्ध को हम 'आद्य' और 'अत्ता' का सम्बन्ध कह सकते हैं।[3]

कल्पना के क्षणों में कलाकार की चित्तवृत्तियाँ असम्प्रज्ञात योग (सम्प्रज्ञात योग अर्थात् वृत्तियों के निरोध की विपरीत दशा) की अवस्था में रहती हैं, किन्तु, उसका आनन्द लेनेवाला 'सहृदय' कला के विषय' को अपना 'विषय' बनाकर प्रत्याहार की स्थिति में आ जाता है। इसलिए कला कभी भी 'वृत्ति निरोध' के अर्थ में प्रयुक्त होनेवाला 'योग' नहीं बन सकती। विशेषकर आधुनिक कला में प्राप्त

1 सांख्यतत्त्वकौमुदी प्रभा, व्याख्याकार—डॉ आद्याप्रसाद मिश्र, सत्य प्रकाशन मन्दिर प्रयाग, 1956, पृ 38।

2 अनुमान काल की दृष्टि में दो प्रकार का होता है—वीत और अवीत। वीत अनुमान के अन्तर्गत पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट आते हैं तथा अवीत के अन्तर्गत शेषवत्।—*The Samkhya Karika of Iswara Krsna*, with an Introduction and Translation by *S S Suryanarayana Sastri*, University of Madras, 1930, p 17

3. प्रश्नोपनिषद् द्वितीय प्रश्न, श्लोक संख्या 11।

होनेवाली कलाकार की वह 'अस्मिता' तो योग को प्रतिपादित करनेवाले दर्शन की दृष्टि से 'बन्ध का हेतु-विपर्यय' सिद्ध हो जायगी, जो आस्थावान कलाकारों के लिए सब कुछ है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि कल्पना में, प्राय, विविक्त बोध (एकान्त ज्ञान) नहीं के बराबर रहता है। अर्थात्, कल्पना का बोध सर्वत्र, सर्वथा और सर्वदा सापेक्ष हुआ करता है, क्योंकि 'विविक्त बोध' होने से सृजन-चेतना के प्रति निवृत्ति और निरोध का भाव जग जाता है,[1] जो कलाकार के लिए अनिष्टकर है।

तदन्तर, कल्पना-जगत् और वास्तविक जीवन के एक एम अन्तर पर हम ध्यान देना है, जिसके चलते ललितकलाओं का सम्पूर्ण नन्दतिक परिवेश एक विशिष्टता के साथ निर्मित होता है। बात यह है कि कल्पना-जगत् के सवेग वास्तविक जीवन के सवेगों की तुलना में साधारणत कमजोर होते हैं। किन्तु, कल्पना-जगत् के सवेग वास्तविक जीवन के सवेगों की अपेक्षा अधिक बोधगम्य, सुलझे हुए और टिकाऊ होते हैं, क्योंकि वास्तविक जीवन में हम नैतिक एवं अन्य दायित्वों के कारण सवेगों को भोगने में शीघ्रता करते हैं फलस्वरूप उसका रस नहीं ले सकते हैं, जबकि कल्पना-जगत् में दायित्व-मुक्त रहने के कारण हम सवेगों का रुक-रुककर, कभी उसमें लीन होकर और कभी उससे पृथक् होकर रस लेते हैं, सचमुच, वास्तविक जीवन में व्यक्ति और सवेग के बीच एक त्वरा और अद्वयता रहती है जो रुक रुककर स्वेच्छा में मनोनुकूल रसानुभूति लेने में बाधक सिद्ध होती है।[2] इसीलिए अनेक जागतिक दायित्वों से मुक्त होकर मनोनुकूल रसानुभूति लेने के लिए मानव मन कल्पना की ओर प्रलुब्ध होता है और कल्पना-निर्भर कला सृजन के द्वारा आन्तरिक तोष प्राप्त करता है।

उपरिलिखित सम्पूर्ण विवेचन का निष्कर्ष यही है कि कल्पना एक प्रकार की मानसिक सृष्टि है। कल्पना का अर्थ है सृजन करना, जिसका कर्त्ता प्राणि मात्र का मन है। सामान्यत मन को सकल्पविकल्पात्मक[3] कहा गया है। अर्थात् मन विना

1 विविक्त बोधात सृष्टिनिवृत्ति प्रधानस्य सूदवत पाके। —साङ्ख्यदर्शन 63

2 रोजर फ्राय ने 'एन एसे ऑन एस्थेटिक्स' शीर्षक निबन्ध में इस तथ्य को बहुत सटीक अभिव्यक्ति दी है— विजन एण्ड डिजाइन ले रोजर फ्राय पृ 26 27। रोजर फ्राय की इस स्थापना का सम्बन्ध कलाकार और सहृदय दोनों के कल्पना-जगत् से है। किन्तु कुछ इसी तरह की बात फिलिप गिल्बर्ट हैमर्टन ने केवल कलाकार की कल्पना अर्थात कारयित्री कल्पना के सम्बन्ध में भी लिखी है कि यदि कलाकार आवेग सवेग को पूरी त्वरा में भोगेगा तो वह शैलियत चयन का अवकाश कैसे प्राप्त कर सकेगा ?—इमाजिनेशन इन लैण्डस्केप पटिंग ले फिलिप गिल्बर्ट हैमटन सीले एण्ड को लन्दन 1896 पृ 77 78।

3 डॉ नगेन्द्र ने सकल्प विकल्प की व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की है— सकल्प का तात्पर्य अनुभूत वस्तु से सम्बद्ध पहली मानसिक धारणाओं से है— विकल्प उनकी अनुयोगी अथवा प्रतियोगी धारणाएँ हैं। प्रत्यक्ष इन्द्रिय ज्ञान (परिज्ञान) से जो हमारे अन्तकरण पर प्रभाव प्रतिबिम्ब पडते हैं उनका मन ही में समीकरण करके उन्हे बुद्धि के समक्ष उपस्थित करता है। —विचार और अनुभूति ले डॉ नगेन्द्र पृ 19 प्रथम सस्करण।

'निश्चय' किए हुए हर प्रकार से चालित होनेवाली इन्द्रिय है और कल्पना का मूल आधार है।[1] अत सभी ललितकलाओ को दृष्टिगत रखते हुए हमारा निष्कर्ष यह है कि कल्पना एक प्रकार की मानसिक सृष्टि है, जो अपने सम्मूर्त्तन के लिए साधन या माध्यम के रूप मे ईंट, पत्थर, रग-तूली, स्वर या बिम्ब—किसी को भी ग्रहण कर सकती है। जो विचारक कल्पना को मानसिक बिम्ब-विधान कहते हैं, वे कल्पना को केवल काव्य तक सीमित कर देते है, फलस्वरूप अन्य ललितकलाओ का विस्तृत परिसर इस परिभाषा के अनुसार कल्पना से असम्पृक्त रह जाता है। किन्तु, कल्पना को केवल 'मानसिक सृष्टि' कहने से भी उसमे एक अनिव्याप्ति आ जाती है। अत सम्पूर्ण ललितकलाओ को दृष्टिगत रखते हुए यह कहना निरापद प्रतीत होता है कि कल्पना एक ऐसी मानसिक सृष्टि है, जिसमे नन्दतिक बोध के साथ सम्मूर्त्तन की क्षमता और भावोद्‌बोधन का गुण रहता है।

यह नन्दतिक कल्पना सनातन और निरपेक्ष नही होती है। विभिन्न कालो और विभिन्न कलाओ मे कल्पना के स्वरूप और स्तर भिन्न होते हैं। कल्पना के स्वरूप-निर्माण और स्तर-निर्धारण मे युग, मूल्य-दृष्टि और परिवेश का उल्लेखनीय योग रहता है। प्रस्तरगुफाकालीन मानव और आज के स्पुतनिक युगीन मानव की कल्पना के रग-ढग म पर्याप्त अन्तर है। नानी और मौसी की यह कहानी कि चाँद मे कोई बुढिया कत्तिन बैठी-बैठी सूत कातती है—चाँद पर उपनिवेश बनाने के बाद कितनी हास्यास्पद लगेगी। इतना ही नही, आगामी दो चार दशको के भीतर ही काव्य के प्रसिद्ध 'अप्रस्तुत', सादृश्य मूलक और अतिशयमूलक और अलकारो के प्रशस्त 'उपमान' चाँद के प्रति, जो हमारी पौराणिक नन्दतिक कल्पना और सौन्दर्य-बोध का एक आकर्षक केन्द्र रहता आया है, हमारी कल्पना-भगी मे कितना बडा परिवर्तन हो जायगा ? तब ग्रहण के दिन राहु के ग्रसने की बात, काव्य मे प्रयुक्त होनेवाले राहु-चन्द्र के रूपक—सब कुछ विचित्र लगेंगे। साराश यह है कि युग-

1 सम्भवत इसीलिए महाभारत म (शान्तिपर्व 251, 11) मन को व्याकरण अथवा विस्तार करनेवाला (मनोव्याकरणात्मकम्) कहा गया है। श्री बालगगाधर तिलक ने मन का लक्षण निरूपण करते हुए लिखा है—"इस देह रूपी कारखाने मे 'मन' एक मुशी (क्लर्क) है, जिसके पास बाहर सबका माल ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा भेजा जाता है। और यही मुशी (मन) माल की जाँच किया करता है।' तदनन्तर तिलकजी ने मनोव्यापारों के तीन विभाग प्रस्तुत करते हुए कहा है कि सब मनोव्यापारों में से इस सार-असार विवेकशक्ति को अलग कर देने पर सिर्फ बचे हुए व्यापार ही जिस इन्द्रिय के द्वारा हुआ करते हैं, उसी को साख्य और वेदान्तशास्त्र मे मन कहते हैं। यही मन वकील के सदृश, कोई बात ऐसी है (सकल्प) अथवा उसके विरुद्ध वैसी है (विकल्प) इत्यादि कल्पनाओ को बुद्धि के सामने निर्णय करने के लिए पेश किया करता है। इसीलिए इसे 'सकल्प विकल्पात्मक' अर्थात् बिना निश्चय किये केवल कल्पना करनेवाली इन्द्रिय कहा गया है।"—गीता रहस्य, ले. बालगगाधर तिलक, पूना, 1955, पृ. 139 140।

दृष्टि और परिवेश क परिवर्त्तन के साथ ही कल्पना के अनेक आयाम बनते, बिगडते और बदलते रहत है।

तदनन्तर, सभी कलाओ म कल्पना के विनियोग का स्वरूप भिन्न होता है। जिस कला का मूर्त्त आधार जितना ही स्थूल होता है, उस कला म कल्पना क विनियोग की मात्रा उतनी ही कम रहती है। कल्पना का यह इन्द्रजाल है कि यह मूर्त्त से मूर्त्त का नही, अमूर्त की सहायता से मूर्त्त का निर्माण करती है। इसलिए अमूर्त्त कल्पना अपने मूर्त्तविधान क लिए अमूर्त्त आधार खोजती है। इस दृष्टि स कल्पना का निम्नतम विनियोग स्थापत्य कला म और सर्वोत्तम विनियोग काव्य कला म मिलता है। काव्य का सम्पूर्ण अप्रस्तुत-विधान कल्पना पर निर्भर रहता है तथा कल्पना क द्वारा ही काव्य के रस-प्रसग मे विभावन-व्यापार चलता है। वस्तु और भाव के उत्कर्ष को बढाने मे, साम्य अथवा वैपम्यमूलक अलकारो के प्रयोग मे, अतिशयोक्ति-पद्धति पर दूर-स्थित वस्तुओ के समीकरण मे—सर्वत्र कल्पना के पारस स्पर्श की आवश्यकता होती है। काव्य तथा काव्येतर कलाओ मे *कल्पना के विनियोग का एक मुख्य उद्देश्य होता है—रिक्त स्थानो की पूर्ति अथवा* विपमताओं का निवारण। विनियोग के इस स्वरूप का सम्बन्ध कला क विपय-पक्ष की अपेक्षा रूप विधान से निकटनर है। इस प्रकार के विनियोग मे कलाकार कभी *कभी दो वस्तुओ के बीच गोपित सम्बन्धो का उद्घाटन और लुप्त, किन्तु सम्भाव्य* सम्बन्धो का पुन स्थापन करता है।

दृश्यकला और श्रव्यकला स विभाजन को दृष्टिगत रखते हुए हम कह सकते हैं *कि प्रथम प्रकार की कला मे सम्मूर्त्तन-प्रधान कल्पना ('प्लास्टिक इमाजिनेशन')* का विनियोग होता है, जबकि द्वितीय प्रकार की कला म सवेग सचर कल्पना (डिफ्लुयेंट ऑर इमोशनल इमाजिनशन') का। सम्मूर्त्तन प्रधान कल्पना वस्तुगत *यथार्थ को गौण* बना देती है और उसके माध्यम से जीवन के किसी अनवद्य सत्य या महिम भाव दशा को व्यक्त करती है। उदाहरणार्थ, सम्मूर्त्तन प्रधान कल्पना से सचालित कलाकार के लिए इन्द्रधनुष सात प्रकार के दृष्टिरजक रगो का सम्पुजन मात्र है, जो इन्द्रियगम्य और अनुकरण-सुखद हैं। किन्तु, सवेग सचर कल्पना से आविष्ट कलाकार के लिए वह विविधवर्णी इन्द्रधनुप जिज्ञासा, कौतूहल और नयन सुख का एक ऐसा उद्दीपक है, जो ज्ञात और अज्ञात के बीच एक रहस्यमय सेतु का काम करता है। इसलिए, सामान्यत, स्थापत्यकार, शिल्पकार, और चित्रकार के पास सम्मूर्त्तन-प्रधान कल्पना की अधिकता रहती है, जबकि सगीतकार और कवियो के पास सवेग-सचर कल्पना की प्रधानता रहती है।[1]

1. द्रष्टव्य— क्रियेटिव इमाजिनेशन', ल जे ई डाउनी, केगन पाल, लन्दन, 1921, पृ 2

कई प्रकार प्रतीत होते है । जैसे, विचार-दृष्टि स कल्पना की दो कोटियाँ है—जीवनोन्मुख कल्पना और जीवनमुक्त कल्पना । जीवनोन्मुख कल्पना जीवन के प्रति अमोघ आग्रह को स्वीकार कर चलती है और जगत् के खुरदुरे यथार्थ को भावानुभूतियों की माला मे मनके की तरह पिरो लेती है । इसलिए जो व्यक्ति कँटील कर्मक्षेत्र मे प्रवृत्त होता है या जो युग युयुत्सु होकर परिवेश की वास्तविकता को अनुकूल बनाने म प्रयत्नशील होता है, उसकी कला मे जीवनोन्मुख कल्पना की अधिकता मिलती है । इसी तरह जो व्यक्ति अथवा युग दैनन्दिन और परिवेशगत वास्तविकता से ऊबकर तथ्य-स्वयत भावुकता के नन्दन कानन मे टहलने लगता है, उसकी कला मे जीवनमुक्त कल्पना की अधिकता मिलती है । उदाहरणार्थ, रोमाण्टिक कवियो मे मुख्यत जीवनमुक्त कल्पना मिलती है । शायद, इसीलिए उनकी कविता पर पलायनशीलता का आरोप लगाया जाता है और उन्हे प्रेमी तथा पागल की कोटि मे बैठाया जाता है । इस सम्बन्ध मे सर्वाधिक ध्यातव्य बात यह है कि कलाकार म कल्पना के प्रति अगाध निष्ठा चाहिए । इस निष्ठा-प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि कलाकार अपनी कल्पना मे मिथ्यात्व की शका न करे और अपनी कल्पना के सृजन, अन्वेषण को 'हवाई' न बनने द, बल्कि किसी-न किसी प्रकार की वास्तविकता से उसका सम्बन्ध अवश्य निर्भर रहने दे । वास्तविकता के अल्प सस्पर्श से भी कलाकार की कल्पना का रग जम जाता है, क्योकि कला मे यथातथ्य के बदले प्रतीक सत्य से ही काम चल जाता है । इस वास्तविकता के आधान के लिए प्रस्तुत और अप्रस्तुत के बीच कलाकार को कृत्रिम सम्बन्ध स्थापन करना पडता है, जिसे परिचित सम्बन्ध-सूत्र के अभाव मे सहृदय पक्ष सन्तोषपूर्वक स्वीकार कर लेता है । इस तरह के कृत्रिम सम्बन्ध-सूत्रो को स्थापित करनेवाली कल्पना एक प्रकार की विदग्ध कल्पना या चित्र प्रगल्भ कल्पना के नाम से पुकारी जा सकती है । किन्तु, इस प्रकार की कल्पना स श्रेष्ठ वह कल्पना होती है, जो दूरारूढ आरोपो और अलीक सम्बन्ध सूत्रो की सृष्टि मे न लगकर वास्तविक अनुभव-जगत् स उत्थित मर्म-छवियो का कलात्मक सगठन करती है ।

कल्पना का प्रकार-निर्धारण गुण दृष्टि और क्रिया दृष्टि से भी किया जा सकता है । गुण-दृष्टि स कल्पना के दो प्रकारो का निरूपण सम्भव है—असकल्पित और सकल्पित कल्पना । सकल्पित कल्पना मे तारतम्य का स्वत चालन नही होता है, उसमे कवि का प्रयास सलग्न रहता है । इसके विपरीत असकल्पित कल्पना स्वत चालित और अनावश्यक रूप मे मुग्ध भाव की हुआ करती है । इस प्रकार की कल्पना अधिकतर दिवा-स्वप्न, स्वच्छन्द कल्पना या कल्पनाभास मे परिणत हो जाया करती है । तदनन्तर, क्रिया दृष्टि से भी कल्पना के दो भेद किये गये हैं—पुनरावृत्यात्मक (रिप्रोडक्टिव) और सृजनात्मक (प्रोडक्टिव) । पहली आवृत्ति-प्रधान है (जैसे— 'राम की शक्ति-पूजा' मे राम के चित्त मे जानकी के

प्रथम मिलन का कल्पना चित्र[1]) और दूसरी नूतन सम्बन्ध निबन्धन के द्वारा निर्मित योग-प्रधान होती है (जैसे—स्वर्ण और मृग को अलग-अलग देखने पर भी स्वर्ण-मृग की नूतन कल्पना)।

इस प्रकार अनेक दृष्टियों से कल्पना का प्रकार-निर्धारण हो सकता है, किन्तु, यहाँ हम अन्य दृष्टियों को छोड़कर सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से तन्दतिक आधार को स्वीकारते हुए कल्पना के कुछ प्रमुख प्रकारों के निर्धारण का प्रयास करेंगे। इस दृष्टि से विधायक कल्पना और ग्राहक कल्पना ऐसे दो टूक स्थूल विभाजनों के अलावे भी कल्पना के कई प्रकार बहुत स्पष्ट हैं। जैसे—पूरक कल्पना, मुक्तया-दृच्छिकी कल्पना, तिर्यक् कल्पना, इत्यादि।

पूरक कल्पना पाठक अथवा भावक के पास रहती है। इस कल्पना के सहारे पाठक कला निबद्ध कल्पना के शेषांश की पूर्ति अपनी ओर से करता है। साधारण प्रेम-पत्रादि या गुप्त बातों के लेखन में भी इस प्रकार के चिह्न '....' से संकेतित निगीर्ण व्यंजना को तत्सम्बन्धित व्यक्ति अथवा पत्र का पाठक अपनी पूरक कल्पना के सहारे ही समझता है। यह पूरक कल्पना भावयित्री प्रतिभा अथवा ग्राहिका कल्पना का एक विशिष्ट रूप है। कला के सम्पूर्ण व्यंजना व्यापार की सफलता पाठक की इसी पूरक कल्पना पर निर्भर करती है। इससे रहित पाठक के समक्ष व्यंजना गर्भ कला पत्थर पर फेंके बीज के समान निष्फल सिद्ध होती है। आजकल की झटके में समाप्त होनेवाली लघुकथाओं अथवा नये तर्ज की कुछ ही शब्दों में समाप्त होनेवाली कविताओं को इसी पूरक कल्पना की सहायता से पाठक समझ पाता है। यह पूरक कल्पना कला की मूल्य सार्थकता अथवा अर्थवत्ता के लिए विष्कम्भक का काम करती है। कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तलम् में दुष्यन्त और शकुन्तला के सम्भोग का साक्षात् वर्णन नहीं किया है, किन्तु, मिलन की उत्कण्ठा, पारस्परिक आकर्षण और सखियों द्वारा दिये गये एकान्त से ही चतुर पाठक अपनी पूरक कल्पना के सहारे भरत के गर्भाधान की भूमिका को समझ लेता है। इसी तरह प्रसाद के प्रसिद्ध गीत 'बीती विभावरी जाग री' में प्रसंग-निगरण के कारण पाठक को पूरक कल्पना से यह अर्थ लगाना पड़ता है कि सखी की 'जगउनी' के माध्यम से यहाँ पर भोर में निंदियाई हुई ऐसी अगम्य वासकसज्जा का चित्रण है, जिसकी सारी रात प्रतीक्षा में बीत गयी, पर प्रियतम न आ सका। कारण, अधरों का अमन्द राग और अलकों में बँद मलयज इसे संकेतित करते हैं कि नायिका की सारी तैयारी ज्यों की-त्यों अनाघ्रात रह गयी, इस तरह किसी भी अवस्थित व्यंजना की रस भूमि पर पहुँचने के लिए पूरक कल्पना का योग अत्यन्त आवश्यक है।

1 '[illegible] जानकी-नयन-कमनीय प्रथम कम्पन तुरीय।'' 'राम की शक्ति-पूजा', अपरा—से निराला, साहित्यकार संसद प्रयाग स 2013 पृ 35।

अवन-प्रधान स्थावर कलाओं—जैसे, मूर्तिकला और चित्रकला—के आस्वादन में इस पूरक कल्पना का और विशेष महत्त्व है, कारण, काव्य-कला की तरह इनमें वर्णित-कल्पित वस्तु की विस्तृत बारीकी का विशद प्रक्षेपण नहीं होता, इनमें ब्यौरे का अभाव और निबद्ध वस्तु का संक्षिप्त संकेत रहता है। अतः इन कलाओं के आस्वादन में अध्याहारनिमित्ता पूरक कल्पना की विशेष आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए हम 'बोटिसेली' के प्रसिद्ध चित्र—'द बर्थ ऑव वेनस'—को देख सकते हैं। इसमें विवसना सौन्दर्य-मूर्ति वेनस सागर की दोलित लहरों पर आत्म-निष्ठ मुद्रा में एक 'कौकनशेल' (शम्बूक-तरी) पर खड़ी किनारे की ओर बहती चली जा रही है। वेनस की बायीं ओर पवन का प्रतीकत्व करनेवाली एक युग्म-म्याकृति है, जो वेनस को उस अपर कूल की ओर प्रेषित कर रही है, जिस पर एक वस्त्राभूषित तरुणी उसका स्वागत करने के लिए समुत्सुक खड़ी है। अर्थात् यह वायु-वेग से सागर की लहरों पर बहती हुई विवसना वेनस का एक गतिशील चित्र है। किन्तु इसमें सामान्य दृष्टि से अथवा पहली नजर में वेनस की गतिशीलता लक्षित नहीं होती, वह तो शम्बूक-तरी पर एकदम स्थिर खड़ी दीख पड़ती है। अतः यहाँ वेनस की दाहिनी ओर उड़ती हुई अलकों को देखकर पूरक कल्पना से यह स्पष्ट होता है कि बायीं ओर से पवन आ रहा है और केन्द्रस्थल से कुछ दायीं ओर हटकर वेनस के दीख पड़ने से तथा दाहिनी ओर स्वागतोत्सुक नारी की उपस्थिति से यह समझना पड़ता है कि वेनस वामवर्ती पवन के झोंकों से दाहिनी ओर स्थित पुलिन के पास बहती चली जा रही है। साराश यह है कि बोटिसेली द्वारा अंकित इस वेनस-चित्र के गतिशील सौन्दर्य की आनन्दानुभूति कोई सहृदय-चित्त पूरक कल्पना के सहारे ही कर सकता है, कारण यहाँ एक दो संकेतों के आधार पर उसे अपनी ओर से गति का अध्याहार करना पड़ता है। इसी तरह हम एदगा देगा के चित्र 'आफ्टर द बाथ' को भी देख सकते हैं। इसमें डुबकी लगाते, जल ढारते या जलपात्र का कोई दृश्य नहीं दिखाया गया है। इसमें केवल जलभार से अधोमुख केश लिये हुए एक झुकी हुई तन्वंगी तरुणी अंकित है, जो तौलिए से अपने पाँव पोछ रही है। यहाँ वसनहीनता, केश की भीगी अधोमुखता और पोछने की क्रिया से हम पूरक कल्पना के सहारे यह समझ लेते हैं कि इस चित्र में एदगा देगा ने एक सद्य स्नाता को अंकित किया है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कलाकार जहाँ अपनी कृति में श्लीलता के निर्वाह, अभिव्यक्ति सौन्दर्य, विभावन व्यापार की उपचिति, व्यापार शोधन अथवा उपचार-वक्रता के लिए कुछ बातों को अकथित अथवा कुछ स्थलों को रिक्त छोड़ देता है, वहाँ पाठक अपनी पूरक कल्पना से उनकी मनसा पूर्ति कर लेता है। अतः पूरक कल्पना सहृदय-चित्त की अनुमानाश्रित सम्बन्ध-नियोजन-शक्ति है।

मुक्तयादृच्छिकी कल्पना कलाकार के मानसिक स्वत चालन से निर्गत होती

है। इस कल्पना मे उडान अधिक रहती है और केन्द्रगामिता का अभाव रहता है, कारण, इसमे कलाकार वस्तुसत्ता से आदिष्ट न होकर अपनी सनकी रुचि या वहक के अनुसार इतस्तत अप्रस्तुतो, उपमानो और अवर्ण्यों का 'गड्डमड्ड' प्रस्तुत कर देता है। अनेक बार श्रेष्ठ कलाकार भी ईमानदार अनुभूति के अभाव मे अपनी रचना की योजना को पूरा करने के लिए मुक्तयादृच्छिकी कल्पना का सहारा लेते हैं। उदाहरण के लिए, पन्तजी की 'बादल' शीर्षक कविता का उत्तरार्द्ध ऐसी ही कल्पना से निर्मित है।[1] क्षण भर मे कवि ने बिना किसी रसात्मकता या नन्दतिक बोध को उभारे अवनि, अम्बर, जल, पवन, तारा और शशि—अनेक लोक तथा पचतत्त्वो का मुआयना कर लिया है। लगता है, कवि की लेखनी ने कविता के तीन-चार बन्धों मे ही गणेशजी के मूषक की तरह सम्पूर्ण सृष्टि की चटपट परिक्रमा कर ली हो। इस तरह मुक्तयादृच्छिकी कल्पना भावुकता का प्रलाप या सामान्य कल्पना-वृत्ति का 'डेलिरियम' है।

इसी तरह तिर्यक् कल्पना एक प्रकार की वक्र कल्पना है। यह सहज-सरल गति मे चलकर तिरछी काट करती है। अत इस कल्पना से निर्मित कृतियाँ प्राय पहेलियों की तरह अनबूझ हो जाती हैं। 'क्यूबिस्ट' चित्रकारो की रचना मे इसका प्रचुर प्रयोग मिलता है। आधुनिक गल्प के शीर्षपाती कथा-विधान की प्रकरण-वक्रता मे भी इसका सहयोग मिलता है। विशेषकर वे बिम्बवादी कवि, जो चित्र-धर्मिता के साथ ही अभिव्यक्ति के समर्थक होते हैं, तिर्यक् कल्पना से विशेष प्रेम रखते हैं। कमिंग्स और निराला की कविताओ मे इस कल्पना के अनेक उदाहरण मिलते हैं। तिर्यक् कल्पना का विशिष्ट लक्षण यह है कि इसका व्यंग्यार्थ सगठना-त्मक नहीं होता। वह सर्वदा प्रतीयमान रहता है साथ ही 'नातिपिहित' और 'नातिपरिस्फुट' भी। काव्य मे प्रयुक्त तिर्यक् कल्पना के लिए पदभग, पदलोप, वाक्यलोप और विरल अक्षर विन्यास विशेष सहायक सिद्ध होते हैं।

उपर्युक्त तीन प्रकार की कल्पनाओ को सभी ललितकलाओ मे समान रूप से गति मिल सकती है किन्तु कल्पना के कुछ ऐसे भी प्रकार हैं, जो काव्यकला मे विशेष विच्छिति के साथ प्रयुक्त होते हैं। अत यहाँ हम काव्यकला के अनुकूल पडनेवाले कल्पना प्रकारों पर अधिक विचार करेंगे, क्योंकि प्रस्तावित विषय के अनुसार काव्य के विशेष सन्दर्भ में कल्पना पर विचार करना हमारे लिए अपेक्षित है। इन काव्यानुकूल कल्पना प्रकारो मे सावयव कल्पना, विभाव विधायक कल्पना और तद्भव कल्पना विशेष विचारणीय हैं।

जहाँ ऊहा की ओर प्रवृत्ति रखनेवाला कवि सटीक उद्भावनाएँ कर पाता है,

1 द्रष्टव्य—आधुनिक कवि, सुमित्रानन्दन पन्त हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, सवत् 2012 पृ 27।

वहाँ हमें सावयव कल्पना मिलती है। ऐसी कल्पना में कही गयी बातें एक-दूसरी से शृंखला की कड़ियों की तरह सम्बद्ध रहती है और उनकी अर्थवत्ता भी अन्योन्याश्रित रहती है। इसलिए सावयव कल्पना की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसकी सभी उक्तियाँ और तदर्थ योजित सभी अप्रस्तुत एक प्रभावान्विति की ओर उन्मुख रहते हैं तथा अयुतसिद्धावयव होते हैं। उदाहरण के लिए देव के इस सवैये पर विचार किया जा सकता है—

> सासन ही में समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
> तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तन की तनुता करि।
> देव जियै मिलिबेई की आस कै, आसहु पास अकास रह्यौ भरि।
> जा दिन तें मुख फेरि हरें हँसि हेरि हियो जो लियो हरि जू हरि ॥[1]

यहाँ वियोग शीर्णा नायिका के शरीर से पचभूतों के निकलने की सावयव कल्पना की गयी है। केवल निःश्वास, आँसू, इत्यादि की अधिकता दिखला देने से इतनी *प्रभविष्णुता नहीं पैदा होती। किन्तु, यहाँ तो कल्पनापटु कवि ने पचभूतों में से* प्रत्येक के निकलने का एक-एक माध्यम बतला दिया है। निःश्वासों से वायु निकल गयी, आँसुओं में सम्पूर्ण जल तत्त्व बह गया, विरह क्लान्ति से मुरझानी हुई कान्ति के साथ तेज भी समाप्त हो गया, शरीर के दुबलाने से पार्थिव तत्त्व भी गायब हो गया और अब उसके चारों ओर फैले हुए शून्य में बच गया केवल आकाश। इस तरह यहाँ देव ने विरह की विभिन्न दशाओं में चार भूतों के निकलने की बड़ी सटीक उद्भावना की है और सावयव कल्पना से काम लिया है।[2]

काव्य एवं अन्य ललितकलाओं के भावन में विभावों के सहारे ही मानवचित्त

1 विरह पीडिता राधा की क्षीणता को वर्णित करते समय विद्यापति ने भी इसी सावयव कल्पना से काम लिया है—माधव जानल न जिवति राही। जतवा जकर लेले छलि सुन्दरी। से सबे सोपलक ताही। सरदक ससधर मुखरुचिसोपलक। हरिन के लोचन लीला। केसपास लए चमरिके सोपल। पाए मनोभव पीला। दसन दसा दालिब के सोपल्न। बन्धु अधर रुचि देली। देहदसा सउदामिनि सोपलक। काजर सनि सखि भेली।—विद्यापति सम्पादक, मित्र मजुमदार, नवीन संस्करण 2010 पृ 138।

2 माघ ने भी शिशुपालवध के चतुर्थ सर्ग में सूर्योदय और चन्द्रास्त के समय रैवतक पर्वत की रणितघण्टायुग्म वाले भूतिशोभित गज से मिलती जुलती शोभा का वर्णन सावयव कल्पना के सहारे किया है—

> उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम्।
> वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वय परिवारित वारणेन्द्रलीलाम् ॥20॥

—*शिशुपालवधम, माघ प्रणीत, चौखम्बा विद्याभवन बनारस 1955, पृ 158*

यहाँ रैवतक पर्वत को गजराज, क्षितिज से सटे अस्तप्राय चन्द्रमा और सद्यः उदित बालारुण को अधोमुख घण्टायुग्म तथा प्रसृत किरणों को घण्टे की रस्सी मान लेने में कल्पना की सावयवता सुरक्षित है।

रसानुभूति अथवा सौन्दर्यानुभूति की दशा तक पहुँचता है। अत कवि जब तक विभाव-पक्ष का सम्यक् मण्डान नही बाँधता, तब तक काव्य के आश्रय के साथ सभी पाठकों का चित्त एक 'सम' पर नहीं आ सकता। अर्थात् काव्य को आश्रय की अनुकूल भूमिका मे लाने के लिए, शास्त्रीय भाषा मे 'साधारणीकरण' के लिए, विभाव का सम्यक् स्थापन अत्यावश्यक है। यह कार्य विभाव-विधायक कल्पना से ही सम्भव है। विभाव-विधायक कल्पना वह कल्पना है, जो अनेक सहृदयो को आश्रय की भूमिका मे लाकर उनके लिए किसी भाव का सामान्य आलम्बन या कारण खड़ा कर देती है। ऐसी कल्पना द्वारा सृष्ट रूप-विधान मे साधारणीकरण की विशिष्ट शक्ति होती है। फलस्वरूप विभाव विधायक कल्पना मे आलम्बन का बहुत प्रभावोत्पादक और कलात्मक चित्रण रहता है। विभाव-विधायक कल्पना के प्रसग मे यह स्मरण रखना चाहिए कि इसका क्षेत्र अतीव विस्तृत होता है और इसकी गति अत्यन्त अप्रतिहतप्रसर। कारण, आश्रय से सम्बन्धित कल्पना केवल मानव-जगत् मे सिमटी रहती है (क्योकि आश्रय की भूमिका मे नरेतर जगत् आ नही सकता) जबकि विभाव से सम्बन्धित कल्पना समग्र सृष्टिव्यापिनी होती है (क्योकि विभावपक्ष के अन्तर्गत मानव जगत् और मानवेतर जगत्—दोनो ही आ जाते हैं)। अत दृष्टिविस्तार-सम्पन्न कवि की प्रतिभा विभाव-विधायक कल्पना की ओर अधिक अग्रसर होती है।

तदनन्तर, तद्भव कल्पना विचारणीय है। मनुष्य के मानस-लोक म भी भौतिक या जैव जगत् की तरह प्रजनन की प्रवृत्ति होती है। अत उसकी मानसिक सृष्टि में भी प्रसव चक्र चलता रहता है। एक चिन्तन दूसरे चिन्तन को, दूसरा चिन्तन तीसरे चिन्तन को, एक कल्पना दूसरी कल्पना को और दूसरी कल्पना तीसरी कल्पना को ''एवम्प्रकारेण आवर्त्तक ढग से जन्म देती है। इसे हम व्युत्पन्नता का सहज गुण कह सकते हैं। कल्पना-विधान में भी यह व्युत्पन्नता और प्ररोह सृष्टि लागू होती है। इस नियम की अनुवर्तिनी कल्पना को हम तद्भव कल्पना कह सकते हैं। अर्थात्, जो व्युत्पन्न कल्पना किसी मूल कल्पना से आनुषगिक रूप मे उत्थित हो, उसे तद्भव कल्पना कहते हैं। ऊहा करनेवाले कवि, सागरूपकों के स्रष्टा कवि अथवा एक ही वर्ण्य को लक्ष्य कर अनेक बिम्बों और अप्रस्तुतों की लड़ियाँ पिरोनेवाले कवि प्राय इस तद्भव कल्पना मे काम लेते हैं। इस तरह तद्भव कल्पना आवर्त्तक प्रसवा होती है। यदाकदा तद्भव कल्पना का रूप बहुत उलझा हुआ होता है। जहाँ यह कल्पना एक वर्ण्य के लिए अनेक अप्रस्तुतो को न लेकर भाव स भाव को पैदा करन लगती है, वहाँ स्वभावत उलझन पैदा हो जाती है। जैसे, पद्माकर ने रघुनाथ राव की गजदानप्रशस्ति म राव की अतिशय दान-शीलता को दिखलाने के लिए मुख्य गजदान का वर्णन किया है। और, तब उनकी कल्पना 'गज' से 'गजानन' (गणेश) पर चली गयी है। फिर इस उड़ान से भी

'प्रस्तुत' दानशीलता के भाव को पुष्ट करने के लिए कवि ने पार्वती के रक्षक मातृत्व-भाव को उभारा है कि रघुनाथ राव गजानन को भी गज समझकर कहीं दान न कर दें, इसी आशका से त्रस्त होकर पार्वती गणेश को गोद से नहीं उतारती हैं—

सम्पति सुमेर की कुबेर की जो पावै नाहि,
तुरत लुटावत विलम्ब उर धारै ना।
कहै 'पद्माकर' सुहेम हय हाथिन के
हलके हजारन के वितरि विचारै ना।
दीन्हें गज बकस महीप रघुनाथ राव
याय गज धोखे कहूँ काहू देई डारै ना।
याही डर गिरजा गजानन को गोय रही,
गिरितें गरेतें निज गोद तें उतारै ना।

इस तरह दानशीलता के भाव से मातृत्व-भाव और मातृत्व-भाव से दानशीलता के भाव के उपचय के कारण इस कल्पना में उलझी हुई तद्भवता आ गयी है। ठीक इसके विपरीत, तद्भव कल्पना का एकदम सुलझा हुआ स्वरूप हमें वहाँ मिलता है, जहाँ कवि एकावली अलकार के ढग पर अपनी उक्ति का मण्डान बाँधता है। जैसे—

पुष्कर सोता है निज सर मे,
भ्रमर सो रहा है पुष्कर मे,
गुजन सोया कभी भ्रमर मे,
सो, मेरे गृह-गुजन, सो।[1]

अथवा

आज वन मे पिक, पिक मे गान,
विटप मे कलि, कलि में सुविकास,
कुसुम मे रज, रज मे मधु प्राण।
सलिल मे लहर, लहर मे लास।

यहाँ पूर्व-पूर्व वस्तु के प्रति पर पर वस्तु का गृहीत-मुक्त-रीति से शृखलास्थापन है, अत मालारूपता के कारण तद्भव कल्पना बहुत सुलझी हुई है। एकावली के दूसरे रूप मे भी, जहाँ पूर्व-पूर्व वस्तु के प्रति पर-पर वस्तु का विशेषण रूप से स्थापन रहता है, तद्भव कल्पना सुलझे हुए रूप मे उतर सकती है।

काव्य के सृजन-पक्ष की दृष्टि से प्रसग कल्पना विविध कल्पना-प्रकारो मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रसग कल्पना का प्रयोग प्रबन्ध-चातुरी की दृष्टि से किया जाता है। इस कल्पना के द्वारा कवि काव्य-निबद्ध कथा अथवा दृश्य को पर्याप्त

1 यशोधरा, ले मैथिलीशरण गुप्त, झाँसी, सवत् 2002 पृ. 61।

मात्रा मे प्रभविष्णु और प्रसृत बना देता है। अत इसके द्वारा प्रबन्धकार कवि, प्राय, यथोचित काव्य मे उत्पाद्य लावण्य भरा करता है। भारवि के 'किरातार्जुनीयम्' के आठवें सर्ग में जहाँ गन्धर्वों और अप्सराओं की क्रीडादि का मूलकथा से हटकर विस्तृत काव्यात्मक वर्णन किया है, वहाँ इसी प्रसग-कल्पना मे काम लिया है। इस सर्ग मे नायक, नायिका अथवा सखियो की जितनी उक्तियाँ हैं, ये सभी प्रसग-कल्पना का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। इस कल्पना का स्वरूप स्वय ही नामानुसार बहुत स्पष्ट है, अत उदाहरणों का विस्तार अनावश्यक प्रतीत होता है।

अब हम अतिशय और ऊहा के आधार पर कुछ कल्पना-प्रकारों का विवेचन करेंगे। काव्य का सम्पूर्ण अप्रस्तुत विधान, चाहे साम्यमूलक हो या वैषम्यमूलक, बहुलाश मे अतिशय पर निर्भर करता है। अतिशय के बिना काव्य मे अलकारत्व और चमत्कार का आविर्भाव नही हो सकता। अत जो काव्य-निबद्ध कल्पना अतिशय के तत्त्व को प्रधान रूप मे स्वीकार कर चलती है, उसे हम अतिशयमूलक कल्पना कह सकते हैं। यहाँ इस भ्रम की गुजाइश है कि अतिशयमूलक कल्पना केवल अतिशयोक्ति अलकार के विविध भेदो—रूपकातिशयोक्ति, भेदकातिशयोक्ति, सम्बन्धातिशयोक्ति, अक्रमातिशयोक्ति, अत्यन्तातिशयोक्ति या चपलातिशयोक्ति—मे मिलती होगी। किन्तु बात ऐसी नही है। अतिशयमूलक कल्पना किसी भी चमत्कृत सन्दर्भ मे मिल सकती है, अत इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। एक उत्प्रेक्षा प्रधान अतिशयमूलक कल्पना का उदाहरण देखिए—

> उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितं नवोपहारेण वयस्कृतेन किम्।
> त्रपासरिद्दुर्गमपि प्रतीर्य सा नलस्य तन्वी हृदयं विवेश तत्॥[1]

यहाँ कवि का कहना है कि 'दमयन्ती के वक्षस्थल पर शोभायमान दोनों कुचकुम्भ क्या यौवन के नवीन उपहार के समान थे? उन कुम्भों की सहायता से वह कृशागी लज्जा रूपी दुर्गम नदी को भी पार करके नल के हृदय में प्रविष्ट हो गयी।' इस उक्ति मे यौवनागम से स्फीत कुचों के दीर्घाकार की व्यजना के लिए अतिशयमूलक कल्पना के सहारे कुच पर कुम्भ की उत्प्रेक्षा की गयी है। यह जानी हुई बात है कि जब कवि अनुभूति की सच्चाई से अलग शरीरी सम्बन्ध को देता है, तब उसकी दृष्टि रूप की स्थूलता पर टिकी रहती है। अत अतिशयमूलक कल्पना कवि की अनाथ मन के कारण, प्राय, अनुभूति-विच्छिन्न होकर ऊहात्मक कल्पना बन जाती है। जैसे, दमयन्ती के कुच-वर्णन मे लिखित श्रीहर्ष की निम्नलिखित पक्तियाँ देखिए—

1 नैषधीयचरितम्—श्रीहर्ष, [illegible] 1963 पृ. 11।

अपि तद्वपुषि प्रसर्पतोर्गमिते कान्तिझरैरगाधताम्।
स्मरयौवनयो खलु द्वयो प्लवकुम्भौ भवत कुचावुभौ ॥(वही, पृ 35)

अर्थात्, दमयन्ती के दोनों कुच उसके (कान्ति के प्रवाह से अगाध हुए) शरीर पर क्रीडा करनेवाले कामदेव और तारुण्य के लिए तैरने के दो घड़े हैं, नहीं तो कामदेव और तारुण्य दमयन्ती के कान्ति सागर मे डूब जाते। भला, किसी सुन्दरी के शरीर मे घिरनई के घडो की योजना कौन सी कल्पना है। ऐसे कल्पक को सूखी जमीन पर ही 'डूबने' का सामना करना होगा। इस तरह की ऊहात्मक कल्पना जब और भी अनुभूति-विच्छिन्न होकर अतिशय के सहारे जमीन-आसमान के कुलाबे मिलाने लगती है, तब वह अनृजु अगूढ कल्पना बन जाती है। उदाहरण के लिए, दमयन्ती के रूप वर्णन की इन पक्तियों पर विचार कीजिये—

हृतसारमिवेन्दुमण्डल दमयन्ती वदनाय वेधसा।
कृत मध्यबिल विलोक्यते धृतगम्भीर खनी खनीलिमा ॥(वही, पृ 34)

सरलार्थ यह है कि 'ब्रह्मा ने दमयन्ती का मुख बनाने के लिए चन्द्रबिम्ब का मानो सार निकाल लिया है। इस कारण उसके बीच मे छेद हो गया है। उसी छेद से आकाश की नीलिमा दिखायी देती है।' स्पष्ट है कि इस प्रकार की कल्पना से किसी गूढता या रमणीयता की उपलब्धि नही हो सकती।

*जहाँ किसी हेतु को दृष्टिगत रखकर ऊहा और अतिशय के योग से उत्प्रेक्षा-*मूलक कल्पना-विधान किया जाता है, वहाँ अल्पांश मे रमणीयता मिलती है। अत इस प्रकार की कल्पना अनृजु-अगूढ कल्पना से कुछ अधिक काव्योपयुक्त होती है। इसे हम उत्प्रेक्षामूलक हैतुकी कल्पना कह सकते हैं। अर्थात्, जो कल्पना ऊहा[1] और अतिशय के सहारे किसी विशेष हेतु *की सिद्धि के लिए की जाय, उसे उत्प्रेक्षामूलक* हैतुकी कल्पना कहते हैं। जैसे श्रीहर्ष ने कामज्वराक्रान्त दमयन्ती के चित्रण मे इसी कल्पना का सहारा लिया है। निम्नलिखित पक्तियो मे काम के ताप से भुननेवाली दमयन्ती की दारुण दशा के आतिशय्य को व्यक्त करना कवि का हेतु है—

1 किसी वस्तु अथवा भाव के आधिक्य या न्यूनता को सूचित करने के लिए ही कवि ऊहात्मक शैली का विधान करता है। अत शुक्लजी ने ऊहात्मक विधान के जिन प्रकारो का उल्लेख *किया है उनके आधार पर भी ऊहात्मक कल्पना का प्रकार निर्धारण किया जा सकता है।* शुक्लजी ने लिखा है— "ऊहात्मक शैली का विधान कवियो मे तीन प्रकार का देखा जाता है—1 ऊहा की आधारभूत वस्तु असत्य अर्थात् कविप्रौढोक्ति सिद्ध है। 2 ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप सत्य का स्वत सम्भवा है और किसी प्रकार की कल्पना नही की गयी है। 3 ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप तो सत्य है पर उसके हेतु की कल्पना की गयी है।"—त्रिवेणी, सम्पादक, कृष्णानन्द, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, सवत् 2006, पृ 43।

अधृन यद्विरहोष्मणि मज्जित मनसिजेन तदूरुयुग तदा।
स्पृशति तत्कदन कदलीतरुर्यदि मरुज्वलदूपरदूषित ॥[1]

यानी 'यदि कदली तरु मरुदेश मे वह्नि से दग्ध ऊसर मे स्थित हो तो वह उस समय कामदेव के द्वारा वियोग के दाह से सन्तप्त हुई दमयन्ती की दोनो जघाओ की पीडा का अनुभव कर सकता है। इस तरह यहाँ ऊहा[2] और अतिशय के योग का हेतु बहुत स्पष्ट है। कभी-कभी हेतुमुक्त होकर भी उत्प्रेक्षामूलक कल्पना की जाती है। जैसे, भारवि ने 'किरातार्जुनीयम्' के नवम् सर्ग मे सन्ध्याकाल का ललित वर्णन इसी उत्प्रेक्षामूलक कल्पना के सहारे विस्तारपूर्वक किया है।

अब हम काव्य मे प्रचुरता के साथ प्रयुक्त सादृश्य-कल्पना पर विचार करेगे। सादृश्य-कल्पना उसे कहते हैं, जिसमे कवि रूप-साम्य रखनेवाले कुछ दूरवर्ती अप्रस्तुतो का बिम्बानुबिम्ब विधान करता है। इस प्रकार सादृश्य-कल्पना काव्य के वर्ण्य और अवर्ण्य या प्रस्तुत और अप्रस्तुत की कुछ उभयनिष्ठ विशेषताओ को ग्रहण कर चलती है। जैसे, निम्नलिखित पक्तियो मे कवि ने नीलोत्पल और खजन को आकर्णाततायताक्षी दमयन्ती के नेत्रो का बिम्बानुबिम्ब अप्रस्तुत बनाकर सादृश्य-विधायिनी कल्पना से काम लिया है—

पद्मान् हिमे प्रावृषि खञ्जरीटान् क्षिपन्नुर्यमादाय विधि क्वचित् तान्।
सारेण तेन प्रतिवर्षमुच्चै पुष्णाति दृष्टिद्वयमेतदीयम् ॥[3]

इसी प्रकार की सादृश्य-कल्पना अतिशय से समन्वित होकर अतिशयोक्तिमूलक सादृश्य-कल्पना बन जाती है। यह कल्पना प्राय सभी सादृश्य-विधान मे रहती है। अत सादृश्य-निबन्धन मे इसकी सार्वत्रिक उपस्थिति के कारण अलग स इसके विभाजन को हम अनावश्यक भी मान सकते है। यह अतिशयोक्तिमूलक सादृश्य-

1 नैषधीयचरितम्, ले श्रीहर्ष, सस्कृत बुक डिपो, काशी 1949, पृ 81-82।

2 ऊहा के द्वारा एकदम अरम्य कल्पना भी की जाती है। यह अरम्य कल्पना वहाँ मिलती है, जहाँ कवि भाव के वस्तुसम्पृक्त आधार को विकृत या अस्वाभाविक बनाकर उपस्थित करता है। जैसे, दमयन्ती के वियोगी जीवन पर हर्ष की यह उक्ति देखिए—

व्यधित तद्धदि शल्यमिव द्वय विरहिता च तथापि च जीवितम्।
क्रिमय तत्र निहत्य निखातवान्नतिर्गति स्तनबिल्वयुगेन तत् ॥ पृ 89।

अर्थात् "कामदेव ने एक तो वियोग तथा दूसरे वियोग के साथ जीवन—ये दो काँटे दमयन्ती के हृदय पर रखे। बाद मे स्तन रूप दो बिल्वफलो से ठोककर क्या उनको भीतर घुसा दिया ?" भला इस कल्पना मे कौन-सी रमणीयता या रस है ? कामिनी के हृदय मे बेल के सहारे दो दो काँटे ठोककर कवि ने विप्रलम्भ शृगार का सारा रस विनष्ट कर दिया है।

3 भावार्थ यह है कि विधाता नीलोत्पलो को शीतकाल म तथा खजनो को वर्षाकाल में कहीं इकट्ठा करके रखता है और प्रतिवर्ष उनसे सार निकालकर दमयन्ती के नेत्रो को पुष्ट करता है।' नैषधीयचरितम्, ले श्रीहर्ष, सस्कृत बुक डिपो, काशी, 1949, पृ. 268।

कल्पना वहाँ मिलती है जहाँ उपमेय और उपमान के बीच सादृश्य तो रहता है, किन्तु यह स्वाभाविक न होकर अतिशयगर्भ होता है। जैसे, भारवि की निम्नलिखित पंक्तियों पर विचार किया जाय—

प्रस्थानश्रमजनितां विहाय निद्रामामुक्ते गजपतिना सदानपङ्के।
शय्यान्ते कुलमलिना क्षणं विलीनं संरम्भच्युतमिव शृंखलं चकाशे ॥[1]

यहाँ गजमद की सुगन्ध पर लुब्ध होकर पंक्तिबद्ध भ्रमरों का टूट पड़ना स्वाभाविक है, किन्तु मदपंक पर बैठी भ्रमरपंक्ति का हठात् उठनेवाले गजराज के पग से टूटी लौह शृंखला के समान होना एक अतिशयमूलक सादृश्य विधान है।

यह सादृश्य-कल्पना अधिक सचेत होने पर कभी कभी तुलनात्मक कल्पना का रूप धारण कर लेती है। यह तुलनात्मक कल्पना प्रायः वहाँ उपस्थित होती है, *जहाँ कलाकार प्रस्तुत उपमेय का उत्कर्ष सिद्ध करने के लिए अनेक प्रसिद्ध उपमानों* का तुलनात्मक उल्लेख इस प्रकार उपस्थित करता है कि इन उपमानों की तुलना में उपमेय की ही उत्कृष्टता प्रतिपादित हो सके। जैसे, भारवि ने इन्द्रकील पर्वत पर वन-विहार करनेवाली सुरबालाओं की सलील गति, उनके नितम्बों की सुपुष्टता तथा मुख कान्ति की उत्कृष्टता को व्यक्त करने के लिए इन पंक्तियों में इसी तुलनात्मक कल्पना का सहारा लिया है—

गतैः सहावैः कलहंस विक्रमं कलत्रभारैः पुलिनं नितम्बिभिः।
मुखैः सरोजानि च दीर्घ लोचनैः सुरस्त्रियः साम्यगुणान्निरासिरे ॥[2]

तात्पर्य यह है कि सौन्दर्योपेत सुरबालाओं ने अपने सविलास मन्थर गमन से राजहंसों की गति को, दोलित नितम्बवाले जघनों के भार से सैकत-पुलिन को तथा विशाल नयनों से युक्त मुखों की कान्ति से कमलों को जीत लिया है। यहाँ उपमेयों—गति की मन्थरता, नितम्बों की सुपुष्टता और मुखकान्ति—की उत्कृष्टता को प्रमाणित करने के लिए उपमानों— हंसगमन, सैकत-पुलिन और कमल-कान्ति—के साथ तुलना की गयी है। यहाँ प्रत्येक उपमेय अपने-अपने उपमान से श्रेष्ठ है। जैसे, कलहंस अपने मन्द गमन के लिए प्रसिद्ध है, किन्तु सुरबालाओं में मन्द गमन के साथ ही हाव की विद्यमानता है। पुनः सरित पुलिनों में केवल ऊँचाई रहती है किन्तु, इन सुरबालाओं के नितम्बों में ऊँचाई के साथ भार भी है और इनके मुखों से कमलों की समानता है, किन्तु, कमल तो इनकी तरह विलोल-लोचन नहीं है। इस तरह कवि उपमेय के उत्कर्ष-प्रतिपादन की दृष्टि से तुलनात्मक कल्पना में प्रवृत्त होता है।

उपर्युक्त अतिशयोक्तिमूलक सादृश्य-कल्पना सीमा को पार कर जाने के बाद

'फैंसी' बन जाती है। ऐसा वहाँ होता है, जहाँ कलाकार सादृश्य के आधार पर किसी अघटनीय घटना, अस्वाभाविक सत्य अथवा असम्भव सम्भाव्य की दूरारूढ़ बातें करता है। जैसे, सरोज तथा मुख मे कुछ सादृश्य है और इस सादृश्य पर कल्पना का मण्डान बाँधा जा सकता है। किन्तु, कोई कवि यदि इस सादृश्य को इतना खींच दे कि मधुलोभी भौंरे कमल की ओर न जाकर पास खड़ी कामिनी के मुख पर झौंरने लगें, तो इस कोटि का अतिशयोक्तिमूलक सादृश्य विधान 'फैंसी' बन जायगा। उदाहरणार्थ, **पण्डितराज जगन्नाथ** की ये पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

तीरे तरुण्या वदनं सहासं नीरे सरोजं च मिलिद्विकाशम्।
आलोक्यधावत्युमयत्र मुग्धा मरदलुब्धालिकिशोरमाला ॥[1]

इतना ही नहीं, **पण्डितराज जगन्नाथ** ने तो चन्द्रमा का भ्रम पैदा करनेवाले मुख तक चोंच मारनेवाले चकोर को पहुँचा दिया है—

आलोक्य सुन्दरि मुखं तव मन्दहासं,
नन्दन्त्यमन्दमरविन्दधिया मिलिन्दाः।
किं चासिताक्षि मृगलाछन सम्भ्रमेण
चञ्चूपुटं चटुलयन्ति चिरं चकोराः ॥[2]

इस तरह नायिका-मुख और चाँद मे रहनेवाले अल्प सादृश्य के आधार पर चकोर को चोंच चलाने के लिए नायिका-मुख तक पहुँचा देना 'फैंसी' का ही कमाल है।[3] रीतिकालीन कवि **बिहारी** ने भी अभिसारिका के वर्णन मे ऐसी अतिशयगर्भ सादृश्यमूलकता का प्रयोग किया है, जहाँ भौंरो ने सहट पर से घबड़ाकर लौटती

1 भामिनी विलास, अनुवादक, महावीरप्रसाद द्विवेदी श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सन् 1958, पृ. 73।

2 वही, पृ. *101*।

3 एक स्थल पर माघ ने भी नेत्र और कमल के बीच रहनेवाले अल्पसादृश्य के आधार पर 'फैंसी' का ऐसा मण्डान बाँधा है कि कान में लटकनेवाले बेचारे कमलों को नेत्रों की तुलना मे (भ्रमर गुंजार के माध्यम से) अपनी पराजय की घोषणा करनी पड़ी है—

अविजितमधुना तवाहमक्ष्णो रुचिरतयेत्यवनम्य लज्जयेव।
श्रवणकुवलयं विलासवत्या भ्रमररुतैरपकर्णमाचचक्षे ॥60॥

—(शिशुपालवधम, सप्तम् सर्ग, पृ. 285, चौखम्बा, 1955)

अर्थात् किसी सुलोचना ने कानों मे नीलकमलों को लटका रखा था, जिनके ऊपर गन्ध के लोभ से भौंरे उड़ रहे थे। इस पर यह उत्प्रेक्षा की गयी है कि उस विलासवती के नेत्रों की सुन्दरता से पराजित होने के कारण अधोमुख हुआ नीलकमल भ्रमर ध्वनि के व्याज से उस नायिका के कानों के पास मानो यह कह रहा था कि 'मैं इस समय तुम्हारे नेत्रों की सुन्दरता से पराजित हो गया।' जैसे, व्यवहार-जगत् में कोई व्यक्ति किसी से पराजित होकर लज्जा से नम्रमुख हो उसके पास आकर अपनी पराजय को स्वीकार कर लेता है।

हुई कमलगन्धा नायिका को कमल समझकर ढँक लिया है और वह नायिका समय का गलत अन्दाज रखने पर भी अर्थात् घडी मारकर चाँद के अचानक उग आने पर भी लोगो की नजर से बच गयी है।[1]

काव्य मे इस प्रकार की एक और यथार्थ-परित्यक्त कल्पना प्रचलित है, जिसे हम लक्षक विशिष्टता के द्योतनार्थ प्रत्युत्पन्नमति स्थिति-कल्पना कह सकते हैं। इसके द्वारा काव्य-निबद्ध पात्र को विचित्र-विचित्र प्रकार की चमत्कारपूर्ण स्थितियो मे प्रस्तुत किया जाता है, जिसके आह्लाद से सहृदय-चित्त का स्निग्ध प्रसादन होता है। यह एक प्रकार की कारण निदान-सम्पन्न ललित कल्पना है। इस कोटि की कल्पना के निदान प्राय कवि-समय या कवि-प्रसिद्धियो की तरह चमत्कारपूर्ण होते हैं। *उदाहरणस्वरूप हम अमरुक की इन पक्तियो को देख सकते है*[2]—

दम्पत्योर्निशि जल्पतोर्गृह शुकेनाकर्णित यद्वचस्तत्प्रातर्गुरुसन्निधौ
निगदतस्तस्योपहार वधू ॥
कर्णालबित पद्मराग शकल विन्यस्य चचपुटे व्रीडार्ता प्रकरोति
दाडिमफलव्याजेन वाग्बन्धनम् ॥

यहाँ कवि ने स्वकीया नायिका के इस सखी वचन मे सम्भोग शृगार के अन्तर्गत व्रीडा सचारी को दिखलाते हुए (छल से कार्य साधने के कारण) पर्यायोक्ति से उपेत प्रत्युत्पन्नमति स्थिति-कल्पना का सुन्दर निदर्शन प्रस्तुत किया है, क्योकि तोते का बोलना (रात की सुनी बातो को दुहरा देना) लज्जा का कारण है और लज्जित वधू के द्वारा पद्मराग के टुकडे को अनारदाना बनाकर सुग्गे के समक्ष दे देना लज्जा की समस्या का निदान है।[3] इस तरह प्रत्युत्पन्नमति स्थिति-कल्पना कारण निदान-सम्पन्न (एक प्रकार की) ललित कल्पना ही है।

काव्य मे तथ्याभिव्यक्ति की वक्रिमा के लिए असगति-निर्भर कल्पना का प्रचुर प्रयोग किया जाता है। *असगति निर्भर कल्पना* मे कारण का आस्पद कार्य का अधिकरण नहीं होता है, फलस्वरूप इससे उक्ति वैचित्र्य के निरूपण मे

1 अरी खरी सटपट परी, बिधु आधे मग हेरि।
सग लगे मधुपनि लई, भागन गली अँधेरि॥
—बिहारी-बोधिनी, चतुर्थ शतक, 314

2 अमरुकशतकम्, लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई, सवत् 1971, पृ 19।

3. इसी भाव की स्थिति-कल्पना को हम शार्दूलविक्रीडित छन्द मे रचित हिन्दी-अनुवाद की इन पक्तियो में पाते हैं—

दम्पति राति करी बतियाँ मिलि निर्जनमौन सुवा सुनि लीनी।
बागे गुरुन के प्रात लग्यौ कहने घटना सबसो रगभीनी॥
आनि बहू कनफूल सों तोडिकै लौन मनी की कनी रखदीनी।
चोच पै दाडिम के छल सों अरु रोकि दई शुकवानि नवीनी॥

पर्याप्त सहायता मिलती है। अत उक्ति को वक्रिम बनाने मे इस कल्पना का विनियोग होता है। चित्रकला के रग-न्यास, सगीत-कला की विसवादी स्वर-योजना और युग्म-मूर्तियो के मुद्रा-निवेश मे हमे इस कल्पना के निदर्शन मिलते हैं। एक उदाहरण स हम इस बात को और भी स्पष्ट कर सकते हैं—

सा बाला वयमप्रगल्भवचस सा स्त्री वय कातरा ।
सा पीनोन्नतिमत्पयोधरयुग धत्ते सखेदा वयम् ॥
साक्रान्ता जघनस्थलेन गुरुणा गन्तुम् न शक्ता वयम्
दोषैरन्य जनाश्रितैरपटवो जाता स्म इत्यद्भुतम् ॥[1]

इस मुक्तक मे विप्रलम्भशृगार की प्रलापदशा के अन्तर्गत नायक की जडता, त्रास इत्यादि व्यभिचारी भावो को असगतिमूलक कल्पना के सहारे एक अच्छी अदा के साथ व्यक्त किया गया है। यहाँ असगति इसमे है कि सभी कारणो का आस्पद नायिका है, किन्तु सभी कार्यों का अधिकरण नायक है। नायक का कथन है कि नायिका बाला है और हमारे मुँह से बात नही निकलती, वह स्त्री है और हम व्याकुल हैं, वह पीन और उन्नत स्तनो को धारण करती है और हमे थकावट मालूम होती है, वह भारी नितम्बो स दमित है और हम चल नही सकते। यह अद्भुत बात है कि अन्य के आश्रित कारणो से हम असमर्थ हो गये हैं। वास्तव म नायिका को ही अप्रगल्भ, कातर, खेदयुक्त और असमर्थ होना चाहिए था। इस तरह असगतिनिर्भर कल्पना पर आश्रित उक्तियो मे एक विशेष चमत्कार रहता है।

यह जानी हुई बात है कि काव्य मे अप्रस्तुत-विधान का बहुत अधिक महत्त्व है, साथ ही अप्रस्तुतो म 'आरोप' की प्रमुखता रहती है और अप्रस्तुतो को जुटाना कल्पना का काम है, इसलिए यह तर्कत निष्पन्न होता है कि काव्य मे आरोप-कल्पना के विनियोग का क्षेत्र बहुत व्यापक है। जहाँ कवि उत्प्रेक्षण या अपह्नव के द्वारा प्रस्तुत पर सादृश्य, साधर्म्य या सारूप्य के सहारे अनेक अप्रस्तुतो का माला-रूप, समतात् या खण्डश चित्तविचित्रमय आरोप करता है, उसे आरोप-कल्पना कहते हैं। जैसे—

स्मित नैतत्किन्तु प्रकृतिरमणीय विकसित
मुख ब्रूते को वा कुसुममिदमुद्यत्परिमलम् ॥
स्तनद्वन्द्व मिथ्या कनकनिभमेतत्फलयुग
लता सेय रम्या भ्रमरकुलनम्या न रमणी ॥[2]

1 अमरुशतकम् लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई सवत् 1971, पृ 38।
2 भामिनी विलास, ल पण्डितराज जगन्नाथ, अनुवादक, महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1958, पृ. 101।

नयी कृतियों, नयी प्रयुक्तियों और ललित प्रवृत्तियों का प्रसार होता है। इसलिए कला-चर्चा में कल्पना से तत्कालिक रचनात्मक कल्पना का ही आशय ग्रहण किया जाता है, जिससे प्रेरित कलाकार अपनी अनुभूतियों में आवश्यक चयन और वर्जन करके सहृदय की प्रत्यर्थता को आकृष्ट करनेवाले बिम्बों या अप्रस्तुतों का विधान करता है।

3 जीववैज्ञानिकों ने इस बात पर विचार किया है कि किस तरह का मस्तिष्क कल्पना के लिए विशेष समर्थ होता है। इनकी धारणा यह है कि जिस मस्तिष्क-धारी के पास चेतकोशों की पर्याप्त संख्या रहती है, साथ ही जिसके सभी चेताकोश बेतोपागमिक (गाइनेप्टिव) योजना-सूत्रों से परस्पर सुसम्बद्ध रहते हैं, उसी के पास रचनात्मक कल्पना की शक्ति रहती है। किन्तु, चेताकोशों की संख्या और सक्रियता के आधार पर किसी मस्तिष्क को कल्पनाशील घोषित करना निरापद नहीं है, क्योंकि शिम्पञ्जी के मस्तिष्क में भी मनुष्य के मस्तिष्क की तरह अस्सी प्रतिशत चेताकोश होते हैं किन्तु उसमें रचनात्मक कल्पना का अभाव रहता है।

4 आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र में कल्पना का प्रयोग जिस अर्थ में किया जाता है, लगभग उसी अर्थ को व्यक्त करने के लिए संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों ने 'प्रतिभा' शब्द का प्रयोग किया है। अतः आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र या पाश्चात्य कला चिन्तन की प्रतिभा को हम भारतीय काव्यशास्त्र की 'प्रतिभा' कह सकते हैं। प्राचीन आचार्यों ने काव्य हेतु के प्रसंग में प्रतिभा का तर्कपुष्ट विश्लेषण किया है। विशेषकर, राजशेखर, भट्टतौत और अभिनवगुप्त के द्वारा निरूपित 'प्रतिभा' आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र की 'कल्पना' से बहुत साम्य रखती है।

5 जीवन तथा जगत् के प्रति मनुष्य की सभी सचेत प्रत्यर्थताओं और प्रत्यक्षों में कल्पना की सर्वव्यापी और सार्वत्रिक उपस्थिति रहती है। अतः कल्पना को ठुकराना जीवन जगत् के दैनन्दिन वस्तु प्रत्यक्षों की उपेक्षा करना है और कल्पना के द्वारा हम अनुभूति-प्रवण जीवन में जो एक प्रकार का संगीतात्मक आनन्द-बोध मिलता है, उससे अपने को वंचित करना है। सम्भवतः, वस्तु प्रत्यक्षों के बीच कल्पना की इसी सार्वत्रिक विद्यमानता के कारण कॉलरिज ने कल्पना को 'प्राइमरी एजेण्ट ऑव ऑल पर्सेप्शन' (Primary agent of all perception) कहा है।

6 हिन्दी आलोचना में कल्पना के स्वरूप और भेद पर समर्थ विचार पर्याप्त मात्रा में नहीं हो सका है। *आचार्य शुक्ल ने भी कल्पना पर केवल काव्य (विशेषकर कविता)* की दृष्टि से विचार किया है, सभी ललितकलाओं को ध्यान में रखकर सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से नहीं। इसी तरह शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचना में भी कल्पना का तात्त्विक विवेचन नहीं हो सका है। शुक्लजी के परवर्ती हिन्दी आलोचकों ने शुक्लजी के ही सिद्धान्त की शब्दभेद से आवृत्ति की है।

7 कल्पना के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए कल्पना और अतिकल्पना (फैंसी) के अन्तर को समझ लेना आवश्यक है। कल्पना मे सम्मूर्त्तन, केन्द्रगामी सयोजन और समीकरण की प्रधानता रहती है; जबकि 'फैंसी' से आनीत बिम्ब केवल चाकचिक्य से भरे रहते हैं। तदनन्तर, कल्पना मे भावना एव स्मृति - दोनो की उपस्थिति रहती है, लेकिन 'फैंसी' में स्मृति का अश नगण्य रहता है और वस्तु बोध भी नही के बराबर रहता है। इसलिए 'फैंसी' की उडान अथवा 'फैंसी' के अन्तर्गत सम्भावनाओ के विधान में लोकविश्रुत कथा-रूढियाँ और गतानुगत विश्वास भी पर्याप्त योग देते हैं। इस प्रकार 'फैंसी' कुछ स्थलो पर हद के बाहर पहुँची हुई कल्पना हुआ करती है। कुछ मिलाकर काव्य एव अन्य ललितकलाओ के नन्दतिक बोध की दृष्टि से 'फैंसी' की तुलना मे कल्पना का निर्विवाद ऊँचा स्थान है।

8 स्मृति के साथ कल्पना का निकट सम्बन्ध है। कुछ विचारको ने कल्पना को स्मृति का ही विकसित रूप माना है। बात यह है कि कल्पना और स्मृति—दोनो का आधार प्रत्यक्ष ज्ञान है। स्मृति प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा प्राप्त अनुभव को चेतना के समक्ष सुरक्षित रखती है और कल्पना उन अनुभूत विषयो का स्वेच्छानुसार पुनर्निर्माण करती है। अत कल्पना मे सदैव स्मृति का योग रहता है। कल्पना के साथ स्मृति के सहयोग का प्रभाव बिम्ब विधान पर पडता है। दुर्बल स्मृति के साथ सलग्न कल्पना से निर्मित बिम्ब भी निर्बल होते हैं। इसलिए प्राय कलाकार की स्मृति सामान्य जन की अपेक्षा अधिक सशक्त होती है। इस प्रकार कल्पना की पृष्ठभूमि मे ज्ञातविषयक ज्ञान (स्मृति और प्रत्यभिज्ञा) की उपस्थिति आवश्यक है। स्मृति के तीन प्रमुख उद्बोधको—सादृश्य, अदृष्ट और चिन्ता में 'सादृश्य' के साथ कल्पना का निकट सम्बन्ध है। वस्तुत कल्पना का एक कार्य यह है कि वह प्रस्तुत अथवा 'प्रत्यक्ष' से सादृश्य रखनेवाली किसी ज्ञातवस्तु को पूर्वानुभव के सस्कारो से कुरेदकर अप्रस्तुत के रूप मे उपस्थित कर देती है। इसी तरह कल्पना का सम्बन्ध ज्ञातविषयक ज्ञान के दूसरे रूप—प्रत्यभिज्ञा से भी है। यह प्रत्यभिज्ञा 'तत्ता' (पूर्व देश और पूर्वकाल) और 'इदन्ता' (एतद्देश और एतद्काल)—दोनो का अवगाहन करनेवाली प्रतीति है। इस प्रत्यभिज्ञा के तीन प्रधान भेदो—तत्सदृश प्रत्यभिज्ञा, तद्विलक्षण प्रत्यभिज्ञा और तद्प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञा म प्रथम दो अर्थात् तत्सदृश प्रत्यभिज्ञा और तत्विलक्षण प्रत्यभिज्ञा के साथ कल्पना का अधिक निकट सम्बन्ध है।

9 कल्पना जहाँ उस वस्तु का बोधभास प्रस्तुत करती है, जो 'वस्तु' वास्तव में इन्द्रिय ग्राह्य नही है, वहाँ उसमे अनुमान का समावेश हो जाता है, क्योकि जो वस्तु या पदार्थ इन्द्रिय-ग्राह्य नही है, उसके ज्ञान मे साधन को ही अनुमान कहते हैं। कल्पना का सम्बन्ध अनुमान के इन तीनो रूपो—पूर्ववत्, शेषवत् और

सामान्यतोदृष्ट—के साथ है।

10 कल्पना एक प्रकार की मानसिक सृष्टि है, जो अपने सम्मूर्त्तन के लिए साधन या माध्यम के रूप मे ईंट, पत्थर, रग-तूली, स्वर या बिम्ब—किसी को भी ग्रहण कर सकती है। जो विचारक कल्पना को मानसिक बिम्बविधान कहते हैं, वे कल्पना को केवल काव्य तक सीमित कर देते हैं। फलस्वरूप अन्य ललितकलाओं का विस्तृत परिसर इस निरूपण के अनुसार कल्पना से असम्पृक्त रह जाता है। दूसरी ओर *'कल्पना' को केवल 'मानसिक सृष्टि' कहने से उसमे एक अतिव्याप्ति आ* जाती है। अत सम्पूर्ण ललितकला को दृष्टिगत रखते हुए यह कहना निरापद प्रतीत होता है कि कल्पना एक ऐसी मानसिक सृष्टि है, जिसमे सौन्दर्य-बोध के साथ सम्मूर्त्तन की क्षमता और भावोद्बोधन का गुण रहता है।

11 सभी कलाओ मे कल्पना के विनियोग का स्वरूप भिन्न होता है। जिस कला का मूर्त आधार जितना ही स्थूल होता है, उस कला म कल्पना के विनियोग *की मात्रा उतनी ही कम रहती है। कल्पना की यह विशेषता है कि वह मूर्त से* मूर्त्त का नही, अमूर्त्त की सहायता से मूर्त्त का निर्माण करती है। इसलिए अमूर्त्त कल्पना इच्छित मूर्त्तविधान के लिए अमूर्त्त आधार खोजती है। इस दृष्टि से कल्पना का निम्नतम विनियोग स्थापत्य कला मे और सर्वोत्तम विनियोग काव्य कला मे मिलता है। दृश्य-कला और श्रव्य-कला के विभाजन को दृष्टिगत रखते हुए हम कह सकते हैं कि स्थापत्यकार, मूर्त्तिकार और चित्रकार के पास सम्मूर्त्तन प्रधान कल्पना की अधिकता रहती है, जबकि सगीतकार और कवियो के पास सवेग सचर कल्पना की प्रधानता रहती है।

विम्ब

बिम्ब

ललितकला के प्रमुख तत्त्वों में बिम्ब भी बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसकी अनिवार्यता इसी से प्रकट है कि कला-सृजन के क्षणों में कलाकार की अमूर्त सहजानुभूतियों को बिम्बों के द्वारा ही आकार, इन्द्रियग्राह्यता अथवा विधान (फॉर्म) मिल पाता है। अत बिम्ब-विधान ही बहुत अंशों में कलाकार की सहजानुभूति की अभिव्यक्ति की सफलता को प्रमाणित करता है और कलाकार की सौन्दर्य-चेतना को भी द्योतित करता है। वस्तुत बिम्ब-विधान कला या वह मूर्त पक्ष है, जिसमें कलाकार की भावानयन (एब्स्ट्रैक्शन) से श्लिष्ट सौन्दर्यानुभूति को वस्तु-सत्य का सहारा या तद्गत सम्पृक्त आधार के साथ सादृश्याभास (सेम्ब्लेन्स) मिल जाता है। फलस्वरूप, कुछ विचारक और कलाकार कला-सृजन में बिम्बों को पारमन्तिक महत्त्व देते हैं।

बिम्ब-विधान कला का क्रिया पक्ष है, जो कल्पना से उत्थित होता है। कला-जगत् में कल्पना के विकास की एक सरणि है। कल्पना में बिम्ब का आविर्भाव होता है और बिम्बों से प्रतीक का। जब कल्पना मूर्त रूप धारण करती है, तब बिम्बों की सृष्टि होती है और जब बिम्ब प्रतिमित या व्युत्पन्न अथवा प्रयोग के पौन पुन्य से किसी निश्चित अर्थ में निर्धारित हो जाते हैं, तब उनसे प्रतीकों का निर्माण होता है। अत कला-विवेचन की तात्त्विक दृष्टि से बिम्ब कल्पना और प्रतीक का मध्यस्थ है।

बिम्ब के स्वरूप को सुलझे हुए रूप में समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम बिम्ब और विचार-चित्र के पार्थक्य को अच्छी तरह हृदयंगम कर लें, कारण, इन दोनों को पहचानने में प्राय भ्रान्ति हो जाया करती है। वास्तविकता यह है कि बिम्ब और विचार-चित्र में पर्याप्त अन्तर है। विचार-चित्र प्रत्ययाश्रित धारणाओं—'कन्सेप्ट्स' को आधार प्रदान करता है। वह अर्थग्रहण का प्रकट द्वारा होता है। किन्तु, बिम्बों का प्रत्यय धारणा से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं रहता है। सम्भवत: इसी अन्तर को दृष्टिगत रखकर काण्ट ने विचार-चित्र-

विधायक कल्पना को उत्पादक कल्पना और बिम्बविधायक कल्पना को पुनरुत्पादक कल्पना कहा है। अर्थात्, उत्पादक कल्पना से हमे विचार-चित्रों की प्राप्ति होती है और पुनरुत्पादक कल्पना से बिम्बो की। पुन पुनरुत्पादक कल्पना से सम्भूत बिम्ब सर्वत्र 'विशेष' होते हैं और उत्पादक कल्पना से सम्भूत विचार-चित्र सर्वदा 'सामान्य' होते हैं। बिम्बो का 'सामान्य' न होकर 'विशेष' होना इससे भी प्रमाणित होता है कि कला का सम्बन्ध 'सामान्य' की अपेक्षा 'विशेष' से अधिक रहता है, क्योंकि कला 'सुन्दर' का अधिकरण है और 'सुन्दर' सर्वत्र अपने 'सामान्य' का उत्कृष्टतम 'विशेष' हुआ करता है। यह दूसरी बात है कि कला 'विशेष' को 'विशेष' ही नही रहने देती, उसे साधारणीकरण के लिए 'सामान्य' भी बना देती है, जो उसकी उत्तर दशा है।

विशेषकर कविता के क्षेत्र में बिम्ब-विधान के रूप को समझने में इसलिए भी कठिनाई होती है कि कुछ विचारकों ने उसे 'मेटाफर' (रूपक) का पर्यायवाची बना दिया है और कुछ ने उसे 'मेटाफर' (रूपक) से नितान्त भिन्न माना है।[1] दूसरी ओर मनोविज्ञान मे रुचि रखनेवाले आलोचको की दृष्टि मे बिम्ब-विधान ऐन्द्रिय अनुभूति की एक ऐसी अभिव्यक्ति है, जो हमारी दृष्टि, श्रवण, घ्राण, स्पर्श अथवा रसना के लिए किसी न-किसी रूप मे रजक हुआ करती है। इस तरह कला-जगत के बिम्ब हमारी ऐन्द्रिय अनुभूति के कलात्मक अकन होते हैं। यह धारणा सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से भी कुछ सन्तुलित मालूम पडती है क्योंकि बिम्बो को केवल सादृश्य निर्भर 'मेटाफर' (रूपक) तक सीमित कर उन्हे एक प्रकार का अलकृत उक्ति-वैचित्र्य मानना उचित नहीं प्रतीत होता है। तदनन्तर, यह भी ध्यातव्य है कि कुछ विचारक बिम्ब विधान को एक प्रकार का चित्रात्मक पुन-प्रत्यक्ष मानते है। किन्तु, ऐसा स्वीकार करने से बिम्बो का चाक्षुप पक्ष इतना प्रधान हो जाता है कि अन्य ऐन्द्रिय पक्ष लुप्तप्राय हो जाते हैं। अत बिम्ब विधान को कलाकार के इन्द्रियानुभूति निर्भर मानसिक सवेदनो की कुछ वस्तु-चित्रो अथवा विशिष्ट शब्दो के माध्यम से एक ऐसी अभिव्यक्ति मान लेना, जो हमारे लिए भी मानसिक धरातल पर इन्द्रिय ग्राह्य अथवा इन्द्रिय-रजक हो, अपेक्षाकृत अधिक उचित प्रतीत होता है। प्रधानत इन्द्रियाँ ही पचभूतो और तन्मात्राओ तक हमारे उपनयन का माध्यम हुआ करती हैं। ये तन्मात्राएँ पाँच हैं—रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, गन्धतन्मात्रा, शब्दतन्मात्रा और स्पर्शतन्मात्रा। इन सभी तन्मात्राओ का प्रत्यक्ष हम अपनी ज्ञानेन्द्रियो—दर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, श्रवणेन्द्रिय अथवा स्पर्शेन्द्रिय द्वारा करते है। इन सभी प्रत्यक्षो के क्रम मे हमारा अन्त करण

1 'Metaphor', The Philosophy of Rhetoric by *I A Richards*, London, 1936, p 89

(मन, अहंकार और बुद्धि) जागरूक रहता है तथा इस पर देश, काल, परिस्थिति और विद्या का प्रभाव पड़ता है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि ये इन्द्रियाँ तभी सार्थक हो पाती हैं, जबकि इन्हें सन्निकर्ष के लिए कोई वस्तुनिष्ठ आधार मिले।[1] इस तरह इन्द्रियों की स्वाभाविक और अनिवार्य वस्तुनिष्ठता ही (इन्द्रिय पर निर्भर रहनेवाले) बिम्बों को मूर्त्त होने के लिए बाध्य करती है। साराश यह है कि वस्तुनिष्ठता और ऐन्द्रिय बोध बिम्ब विधान के आवश्यक तत्त्व हैं।

इस प्रसग मे यह भी विचारणीय है कि बिम्ब विधान मे 'सादृश्य तथा तुलना' के तत्त्व महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। सादृश्य स्थापन या तुलना मे बिम्ब विधान के निमित्त यह अनिवार्य नही है कि वस्तुगत, मूर्त्त अथवा स्थूल की तुलना वस्तुगत, मूर्त्त अथवा स्थूल से ही की जाय या भावगत, अमूर्त्त अथवा सूक्ष्म की तुलना भावगत, अमूर्त्त अथवा सूक्ष्म स ही की जाय। इनके विपर्यय से भी कला मे शोभन तत्त्व का आधान होता है। छायावादी बिम्बविधान इसका अन्यतम उदाहरण है कि किस प्रकार मूर्त्त के लिए अमूर्त्तविधान तथा अमूर्त्त के लिए मूर्त्तविधान से अनुपम लावण्य की सृष्टि की जा सकती है। सचमुच, उत्कृष्ट बिम्बविधान मे यह विपर्यय ही अधिकतर विद्यमान रहता है। फलस्वरूप श्रेष्ठ बिम्बों के द्वारा मूर्त्त को भावरूप और भाव को मूर्त्तरूप दिया जाता है। शर्त इतनी ही है कि बिम्बो को सवेगो की घनता से सर्वदा अवगुण्ठित रहना चाहिए। अर्थात्, सवेगो की घनता उत्कृष्ट बिम्बविधान का अविच्छेद्य गुण है। इस तरह अप्रस्तुतयोजना म जहाँ संवेगो की घनता समाविष्ट होती है, वहाँ बिम्बो की स्वत सृष्टि हो जाती है। इसलिए रूपक, उपमा या मानवीकरण—किसी भी माध्यम से कवि अपनी अप्रस्तुतयोजना मे बिम्बविधान ला सकता है। अधिक स्पष्टता के लिए हम कह सकते हैं कि बिम्बविधान कलाकार का एक ऐसा सवेग सकुल प्रयास है, जिसमें वह विविध अथवा विपरीत वस्तुओ, मन स्थितियों और धारणाओ को, जो सामान्यत विच्छिन्न और अर्थहीन लगती हैं, अपनी कल्पना-शक्ति से परस्पर मिलाकर एक नवीन सन्दर्भ अथवा अनुक्रम देना है तथा उनम अनेक मार्मिक छवियों का आधान कर देता है। हम इस बिम्ब विधान को एक दूसरी दृष्टि म भी समझ सकते हैं क्योंकि यह बिम्ब विधान (हिन्दी काव्यशास्त्र की भाषा मे) 'अप्रस्तुतयोजना' अथवा टी एस इलियट के शब्दो मे 'ऑब्जेक्टिव कोरेलेटिव'[2] का ही एक रूप है। जब कलाकार अपने अमूर्त्त मर्म सवेगो की यथातथ्य अभिव्यक्ति के लिए बाह्य

1 ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष और इन्द्रिय सन्निकर्ष के विशद विवेचन के लिए द्रष्टव्य—चिद्विलास, ले सम्पूर्णानन्द, ज्ञानमण्डल, वाराणसी 1959 ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष धिकरण और 'सन्निकर्षाधिकरण', पृ 22 23।

2. द सेक्रेड वुड, टी एस. इलियट, पेज, 100। हम 'ऑब्जेक्टिव कोरेलेटिव' को एक प्रकार स कवि के संवेगों का 'फेनोमिनल इक्वीवेलेन्ट' कह सकते हैं।

जगत् से (आवेष्टनगत) ऐसी वस्तुओं को कला के फलक पर इस रूप मे उपस्थित करता है कि हम भी उनके भावन से वैसे ही मर्म-सवेग की प्राप्ति कर सकें, जिससे कलाकार पहले ही गुजर चुका है, तब उन योजित वस्तुओ की वैसी प्रस्तुति को हम बिम्ब विधान कहते हैं।

सहृदय-चित्त की दृष्टि से बिम्ब, सामान्यत, विस्मृत कलाकृति का शेषाश (स्मृत अश) होता है क्योकि बिम्ब इन्द्रियगम्य और मूर्तिमान होने के कारण स्मृति मे सुरक्षित रह जाता है, जब कि कलाकृति की अन्य चीजें (भाव, शैली या शिल्प-पद्धति) अमूर्त्त और भावात्मक होने के कारण विस्मृत हो जाती हैं। कला का आस्वादन करनेवाला सुहृदय पढी हुई कविता की कई पक्तियों को भूल जाता है, किन्तु, उसके एक दो चित्र आस्वादनकर्ता के मानस पटल पर तैरते रहते हैं। वह देखी हुई मूर्ति के अकन और विन्यास की बारीकियो को भूल जाता है, किन्तु, उसका एकाध अश उसके मन पर जमा रहता है। इसी तरह किसी देखे हुए चित्र अथवा सुने हुए सगीत को हू ब हू याद रखना उसके लिए कठिन है किन्तु उस चित्र मे कोई मूर्त्त कुशलता है या उस सगीत म कोई गुजरणशील लय है, जो उसकी स्मृति मे सुरक्षित रह जाती है। इस प्रकार किसी कलाकृति मे जो स्वभावत स्मृति मे सरक्षणीय है इन्द्रियगम्य है मूर्त और विशिष्ट है वही सहृदय चित्त के लिए बिम्ब है। अत उत्कृष्ट कलाकृति योजित बिम्बो के द्वारा अपने क्षेत्र मे आयी हुई वस्तुआ को, गेटे के कथनानुसार कक्रीट युनिवर्सल बना देती है।

प्रभावो की इन्द्रियगम्य प्रतिकृति होने के कारण बिम्बो मे स्थापत्य कला, मूर्तिकला और चित्रकला के तत्त्व, अर्थात दृश्य कलाओ के तत्त्व अधिक रहते हैं, क्योकि बिम्ब, प्राय दृश्य अथवा गोचर होते हैं तथा उनका सम्बन्ध रूप एव आकार से अनिवार्यत रहता है। अत बिम्बधर्मी काव्य कला अथवा सगीत कला, जो मुख्यत श्रव्य कला है उपर्युक्त दृश्य कलाओ का कुछ न कुछ अशो मे अधमर्ण रहती है। किन्तु इस प्रसग मे यह भी ध्यान देने योग्य है कि चित्रकला और मूर्ति-कला के बिम्ब सर्वथा और सर्वदा दृश्य होते हैं अर्थात चाक्षुष होते हैं जबकि काव्य और सगीत कला के बिम्ब सामान्यत, मन की सम्पूर्ण पुनरुत्पादक क्रिया के सभी रूपो का समाहार कर लेते हैं। तदनन्तर प्रभावो (इम्प्रेशन) की इन्द्रियगम्य प्रति-कृति (कॉपी) होने के कारण कला के उत्कृष्ट बिम्बो मे ऐन्द्रियता, अत सवेदनो को उद्‌बुद्ध करने की क्षमता रहती है। जो बिम्ब जितना ही ऐन्द्रिय रहता है वह उतना ही सशक्त होता है। इसलिए जो बिम्ब केवल चिन्तनपरक अथवा कलाकार की 'इच्छा', 'एषणा' या 'आकाक्षा' के वाहक होते हैं वे समर्थ न होकर अपूर्ण या भग्न बिम्ब मात्र रह जाते हैं। ऐसे विकलाग बिम्बो मे कला मे एक प्रकार का रस बोध पैदा हो जाता है। इसलिए उत्कृष्ट बिम्ब का लक्षण यह है कि वह आश्रय अथवा आलम्बन के किसी सवेग को मूर्त्त बनाकर प्राय सभी सवेदनशील सहृदय को

उसी सवेग से अभिभूत कर देता है। अर्थात् किसी सवेग से उत्पन्न होकर सहृदय-चित्त मे उसी सवेग को उत्पन्न कर देने की क्षमता अर्जित कर लेना ही बिम्ब की सफलता है। इस सफलता की प्राप्ति के लिए बिम्बो को चित्रधर्मी होने के अलावा सवेग सचर बनना पडता है। फलस्वरूप, उत्कृष्ट बिम्बो की सृष्टि तब होती है, जब स्रष्टा उनमे प्रकृति की स्थितिविशेष या प्रभावो की प्रतिकृति को प्रतिबिम्बित करने के साथ ही उन्हे अपने हृदय के रस और सवेग मे सराबोर कर देता है।[1] वस्तुत जो बिम्ब स्रष्टा के चित्त मे 'वासित' नही हो पाते, वे चित्रात्मक होने पर भी जीर्ण बिम्बा (ट्राइट इमेजेज') की तरह अरसनीय सिद्ध होते हैं।

इस अध्याय के प्रारम्भ मे कहा जा चुका है कि बिम्ब-विधान कला का क्रिया-पक्ष है, जो कल्पना से उत्थित होता है। अत बिम्बो के विधान के समय कल्पना बहुत कार्यरत रहती है। यो, बिम्ब विधान के क्रम मे कल्पना मुख्यत दो कार्य करती है—पहले कल्पना स्मृति के क्रोड मे सोये हुए बिम्बो को प्रत्यक्षोपलब्ध अनुभूतियो के स्पर्श स जगाती है और तब उन बिम्बो को शिल्प के साँचे मे ढालती है। कला म अवतरित होने पर स्मृति-निर्भर बिम्ब कुछ बदल जाते हैं। यदि ऐसा न होता, तो केवल 'सामान्य मनुष्य' होना की कलाकार बनने के लिए पर्याप्त था, क्योकि स्मृति की मजूषा मे सोये रहनेवाले बिम्ब सबो के पास रहते हैं, इसलिए स्मृति मानव जाति का सामान्य गुण है। इस तरह साधारण मनुष्य की तुलना मे कलाकार की यह विशेषता है कि वह स्मृति के क्रोड मे रहनेवाले बिम्बो को कलात्मक बनाने के लिए उन पर कल्पना का मधुवेष्टन डालता है। स्मृति मे सुरक्षित बिम्ब, प्राय इकहरे और अश्लिष्ट होते है, कल्पना उन्हें सश्लिष्ट बनाकर कला मे प्रस्तुत करती है। इस तरह कल्पना स्मृति के जिस बिम्ब को कला के फलक पर प्रेषित करती है वह बिम्ब प्रेषण के क्रम मे अन्य अनेक साम्य निर्भर बिम्बो और अनुबिम्बा स सश्लिष्ट होकर वट-प्ररोह की तरह सकुल बन जाता है।

इस विवेचन स ही स्पष्ट है कि बिम्ब विधान के लिए स्मृति सर्वाधिक आवश्यक है, क्योकि बिम्ब एक प्रकार का स्मरण निर्भर मानसिक पुनर्निर्माण है, जिसमे अतीत की कोई सवेदनात्मक अनुभूति सुरक्षित रहती है। इसलिए ऐसी कलाकृतियाँ जिनकी रचना कलाकार 'पीठ की आँख' के सहारे करता है, अधिक बिम्ब-गर्भ हुआ करती हैं। सचमुच, स्मृति के सहयोग के बिना बिम्ब-विधान सम्भव नही है। प्रत्येक रचना के पूर्व कलाकार की एक सृजन विह्वल मुद्रा या अन्तर्दशा होती है। इस दशा मे स्मृति के बिम्ब सद्य प्रत्यक्ष की वस्तु बनने लगते हैं, अर्थात् बिम्ब का (वास्तविक प्रतीति के क्षण का) वस्तुबोध अतीत का न रह-

1 कॉलरिज, बायग्राफिया लिटरारिया पृ 179 180, जे. एम. डेण्ट एण्ड सन्स, लन्दन, 1939।

कर वर्तमान के जैसा ही आभासित होने लगता है। यों सभी मानसिक क्रियाओं में स्मृति का महत्त्व है, किन्तु बिम्ब-विधान में स्मृति का चूडान्त महत्त्व है। विशेषकर चाक्षुष बिम्ब अवश्य ही स्मृति से छनकर आते हैं। आई. ए. रिचर्ड्स ने भी स्मृति पर लिखते हुए ऐसा ही अभिमत व्यक्त किया है।[1] मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से तो यहाँ तक पता चलता है कि स्मृति अतीत की छापों के एक बिखरे हुए संग्रह के रूप में बिम्बों को भावनाओं की मजूषा में केवल सँजोकर ही नहीं रखती है, बल्कि वह विविध आसंगों के माध्यम से बिम्बों का पुंजीकरण और सम्मिश्रण कर उन्हें नवीन रमणीयता और विशिष्ट छवि भी प्रदान करती है। इस तरह यह एक स्वीकृत मत है कि अर्थवान बिम्बों के निर्माण में स्मृति का महत्त्वपूर्ण योग रहता है।

बारीक विश्लेषण करने पर पता चलता है कि बिम्बों का निर्माण कई प्रकार से हो सकता है, जैसे—किसी दृश्य वस्तु के आधार पर बिम्ब का निर्माण, किसी संवेदन की प्रतिकृति से बिम्ब का निर्माण, किसी मानसिक विचारणा अथवा धारणा से बिम्ब का निर्माण, किसी विशेष अर्थ को द्योतित करनेवाली घटना से बिम्ब का निर्माण, किसी उपमान अथवा अप्रस्तुत के द्वारा बिम्ब का निर्माण और किसी ऐसे श्लेष में बिम्ब का निर्माण, जो प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत—दोनों पक्षों पर एकरूप लागू होता हो। बिम्ब निर्माण के इन प्रकारों को कुछ उदाहरणों के द्वारा प्रस्तुत प्रबन्ध के द्वितीय खण्ड (छायावाद का कला-सौष्ठव) के चतुर्थ अध्याय में स्पष्टतापूर्वक समझने की चेष्टा की जायेगी।

सौन्दर्यशास्त्रियों और काव्यालोचकों के अलावा मनोवैज्ञानिकों ने भी बिम्बों पर पर्याप्त विचार किया है। बिम्बों के सम्बन्ध में मनोविज्ञान की एक अद्भुत मान्यता यह है कि बिम्बों का निर्माण प्राप्त (वास्तविक) अनुभूतियों और काल्पनिक अनुभूतियों—दोनों से समानरूपेण सम्भव है। अतः अनुभूति-रिक्त व्यक्ति भी मानसिक बिम्बों की सृष्टि कर सकता है। मनुष्य के जीवन में कुछ ऐसे क्षण आते हैं, जिनमें अघटित अनुभूतियाँ भी बिम्बों का उपजीव्य बन जाती हैं। जैसे—सपक्ष होकर आसमान में उड़ने का सपना, चन्द्रलोक में भ्रमण अथवा पक्षियों के साथ सम्भाषण। तदनन्तर, बिम्बों के सम्बन्ध में मनोविज्ञान की एक दूसरी मान्यता सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से भी विचारणीय है। कुछ प्रयोग और परीक्षणों के बाद मनोविज्ञान इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि बिम्बों के सृजन तथा भावन पर व्यक्ति भेद, अतः, रुचि-भेद का प्रभाव पड़ता है। सारांश यह है कि भिन्न भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के बिम्बों को धारण करने की शक्ति होती है। अन्वेषकों ने मनोवैज्ञानिक धरातल पर यह प्रमाणित कर दिया है कि विभिन्न व्यक्तियों में अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार

1 प्रिन्सिपुल्स ऑव लिटररी क्रिटिसिज्म, आई. ए. रिचर्ड्स, लन्दन, 1955, पृ. 106।

चाक्षुष, श्रावण, घ्राणिक, स्पार्शिक अथवा अन्य बिम्बों के सृजन और भावन की क्षमता रहती है। किसी के लिए चाक्षुष बिम्ब अत्यन्त सुलभ होते हैं तो किसी के लिए घ्राणिक बिम्ब। उदाहरणार्थ, एमिल जोला-जैसी गन्ध-सचेत प्रकृति रखने के कारण किसी व्यक्ति के लिए घ्राणिक बिम्ब अत्यन्त सुलभ हो सकते हैं। बिम्ब सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक परीक्षणों से यह एक सामान्य तथ्य प्रतिपादित होता है कि औसत व्यक्ति के लिए चाक्षुष बिम्बों का सृजन या भावन अन्य प्रकार के बिम्बों के सृजन या भावन की अपेक्षा सर्वाधिक सरल और शीघ्र होता है। सरल और शीघ्र भावन या सृजन की दृष्टि से औसत व्यक्ति के लिए चाक्षुष बिम्बों के बाद श्रावण (ऑडिटरी) बिम्ब और श्रावण बिम्बों के बाद गतिबोधक बिम्बों (मोटर इमेजेज) का स्थान आता है। किन्तु, इस मन्तव्य का आशय बिम्बों के सृजन अथवा भावन मे व्यक्ति भेद या रुचि-भेद के महत्त्व का विघटन नही है। निश्चय ही एक संगीतज्ञ के लिए श्रावण बिम्ब, भावन या सृजन की दृष्टि से चाक्षुष और गतिबोधक बिम्बो की अपेक्षा अधिक आशुग्राह्य तथा सरल होगा और एक रँगरेज के लिए चाक्षुष बिम्ब, निश्चितरूपेण, श्रावण या गतिबोधक बिम्बों की तुलना मे अधिक रमणीय होगा। अत बिम्बों के भावन और सृजन के क्षेत्र मे हम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्यक्ति भेद और रुचि भेद के महत्त्व को स्वीकार करना होगा। सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से भी बिम्ब विधान के सन्दर्भ म व्यक्ति-भेद और रुचि-भेद का महत्त्व विचारणीय है। किसी कलाकृति में एक विशेष प्रकार के बिम्बों की प्रधानता का कारण कलाकार की प्रकृति या रुचि भी है। जिस कवि म मूर्त ('स्कल्प-चरल' या स्टैचुएस्क') प्रवृत्ति अधिक रहती है, उसके बिम्ब विधान मे स्पार्शिक बिम्बो की प्रधानता रहती है। जैसे—कीट्स की कविताओ मे स्पार्शिक बिम्बो की प्रधानता। इस दृष्टि से व्यक्ति भेद की तरह युग-भेद का भी अपना महत्त्व है। उदाहरण के लिए स्पार्शिक बिम्बो के सहारे यौन-भावना और स्थूल सौन्दर्य-बोध की उत्तम अभिव्यक्ति होती है। इसलिए जब किसी साहित्य मे रीतिकाल से मिलती-जुलती शारीरिक यौनाकर्षण प्रधान युग-धारा चलती है, तो उसकी रचनाओ म स्पार्शिक बिम्बों की अधिकता हो जाती है। अत बिम्बों के अध्ययन मे हम कलाकार की प्रकृति के साथ ही युग की विचारधारा का भी पता लगा सकते हैं। सचमुच, कलाकार की प्रकृति के अनुरूप ही भिन्न भिन्न कलाकारो की कृतियों मे भिन्न भिन्न प्रकार के बिम्बो की आनु-पातिक अधिकता मिलती है। इस तरह किसी भी कलाकृति म विन्यस्त अधिक-सख्यक बिम्ब कलाकार की प्रकृति के बोधक होते हैं। यही कारण है कि पाश्चात्य कवियों के बीच पो की कविताओ मे श्रावण बिम्ब अधिक मिलते हैं, तो शैली की कविताओ मे घ्राणिक बिम्ब और कीट्स की कविताओ मे त्वक्स्पार्शिक बिम्ब

(क्युटेनियस इमेज)।

बिम्ब के सम्बन्ध म जिन प्रमुख मनोवैज्ञानिको ने अपने सुचिंतित विचार व्यक्त किय हैं उनमे युग द्वारा प्रस्तुत बिम्ब सम्बन्धी मान्यता काव्य-कला विषयक सौन्दयशास्त्रीय विवेचन के लिए सर्वाधिक उपयोगी है। युग की यह बिम्ब सम्बन्धी सम्पूण विचारणा उसके आदिबिम्ब सिद्धान्त (थ्योरी ऑव आकटाइप इमेजेज)[1] पर निभर है। युग के अनुसार आदिबिम्ब (आर्कटाइप इमेज)[2] मनुष्य के चिन्तन और सवेदन के मूल से सम्बन्धित रहते है। इनके साथ मनुष्य का परम्परागत आनुवशिक और सास्कृतिक सम्बन्ध रहता है। अत इन आदिबिम्बो मे दुहरी शक्ति होती है। एक ओर ये बिम्ब 'अतीत की धारणाओ से रूप और आकार ग्रहण करते है तो दूसरी ओर इनमे वह रचनात्मक शक्ति सुरक्षित

1 आकटाइप इमेज' को युग ने प्राइमार्डियल इमेज भी कहा है। युग ने सास्कृतिक कायकलाप और कला विधान मे आदिबिम्बो को बहुत महत्त्व दिया है। ये बिम्ब रिक्थ क्रम से पीढी दर-पीढी परिवार एव समाज के बीच आनुवशिक सस्कारो मे निप्त होकर चले आते है। एसे बिम्बो के विधान मे व्यक्ति की लागत न्यूनतम रहती है। किन्तु ये आदिबिम्ब बहुत सशक्त होते हैं और हमारी सुप्त सास्कृतिक वासनाओ को उभारने में बड समथ होते हैं। इसलिए युग का कथन है— द मैन हू स्पीक्स विद प्राइमॉडियल इमेजज स्पीक्स विद ए थाउजैण्ड टग्स। —कण्ट्रीब्यूशन्स टु एनालिटिकल साइकालाजी सी जी युग रूटलेज एण्ड केगन पाल पृ 248।

2 साइकालाजिकल टाइप्स सी जी युग ट्रास्लेटड बाय एच जी बाय्नेस केगन पाल ट्रेच ट्रबनर एण्ड को लन्दन 1944 पृ 476। युग की आदिबिम्ब (यहा यह ध्यातव्य है कि युग ने आदिबिम्ब को प्राइमार्डियल इमेज भी कहा है) की स्थापना को अच्छी तरह समझने के लिए निम्नलिखित उद्धरणो पर भी ध्यान देना समीचीन है जो उक्त पुस्तक के [illegible]

रहती है, जिनसे भविष्य के निर्माण मे मनुष्य को सास्कृतिक सहायता मिलती है। ये आदिबिम्ब मूलत जातीय अनुभूति से निर्मित होते हैं। युग ने बहुत ही ललित उदाहरण के सहारे अपनी आदिबिम्ब सम्बन्धी धारणा को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। इन्होने 'वॉटन' शीर्षक निबन्ध मे लिखा है कि आदिबिम्ब उस सूखी हुई नदी की अन्तरग सतह (बेड) के समान है, जिस पर जलप्रवाह अभी तो बन्द है, किन्तु, एक अनिश्चित दीर्घकाल के बाद जिसमे फिर से धारा लौट आती है। रूपक की भाषा मे इस कथन का यह अर्थ निकलता है कि आदिबिम्ब उस पुरानी नदी की सूखी धारा के समान है, जिसमे जीवनरूपी जल बहुत दिनो तक रहने के कारण (यह जानी हुई बात है कि जिस पुरानी सूखी नदी मे जितने अधिक समय तक पानी ठहर चुका होता है, उसमे फिर से जलधारा के लौटने की सम्भावनाएँ उतनी ही सशक्त रहती हैं) पर्याप्त गहराई खोद चुका हो।[1] इस प्रकार युग ने अपनी धारणा को स्पष्ट करने के लिए आदिबिम्ब की उपमा 'रिफलडेड रिवर बेड' से दी है। साराश यह है कि आदिबिम्ब का सम्बन्ध एक व्यक्ति की आनुवशिक चेतना अथवा किसी राष्ट्र की सास्कृतिक वासना और जातीय अनुभूति से है। यदि हम एक सरलीकृत उदाहरण लें, तो कह सकते है कि मर्यादा पालन की दृष्टि से राम, रसिकता की दृष्टि से रास रचैया कृष्ण, वीरता की दृष्टि से पार्थ-अभिमन्यु, इत्यादि समग्र हिन्दू जाति या यहाँ की साहित्य सस्कृति मे पले व्यक्ति के लिए ऐसे ही आदिबिम्ब माने जा सकते हैं। उक्त बिम्बो का उद्बोध तदनुकूल मानसिक परिस्थितियो मे होता है। किसी रावण-जैसे अत्याचारी को देखकर राम का स्मरण अथवा किसी लुटती हुई द्रौपदी को देखकर कृष्ण का मानसिक प्रत्यानयन उक्त प्रकार के आदिबिम्ब का ही मानसिक उद्बोध कहा जायगा। इस विवेचन से यह भी सकेतित होता है कि आदिबिम्ब प्राय पीढियो की शिविका पर चलते हैं और बहुत दूर तक शाश्वत बने रहते हैं। आदिबिम्बो अथवा आद्य बिम्बो (आर्केटाइप) का यह गुण उत्कृष्ट प्रतीको मे भी रहता है। इसलिए श्रेष्ठ प्रतीको पर प्राय परम्परा की मुहर लगी रहती है। पिकासो के 'ग्वेरिका' मे अकित साँड और घोडा इसलिए विशिष्ट प्रतीक बन सके हैं कि उनके प्रतीकार्थ का परम्परा से सम्बन्ध है, वे नितान्त निजी कल्पना से आनीत प्रतीक नही हैं। हाँ, कलाकार को इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि वह परम्परा के घिस हुए अथवा घिस हुए असवेद्य प्रतीको को कला मे स्थान न दे, क्योकि ऐसे दिवगत या पर्युषित प्रतीक कला मे अवरोधक एकरूपता का काम करते हैं। इस प्रसग मे यह ध्यातव्य है कि युग के

1 'वॉटन' शीर्षक निबन्ध एसेज ऑन कण्टेम्पोररी इवेण्ट्स, केगन पॉल, 1948 मे सकलित, से उद्धृत।

आदिबिम्ब को ही ईषत् भिन्नताओं के साथ डॉ मरनहीम ने 'पैरेडिगमैटिक एक्सपिरियेन्स', डा. ओल्ड्हम ने 'स्टैण्डिंग एक्सपिरियेन्स' और मॉड बोड्किन ने 'टाइप-इमेज' कहा है।[1]

युग के आदिबिम्ब का कला-विवेचन में बहुत महत्त्व है, क्योंकि कला के शाश्वत प्रतीक प्रायः आदिबिम्ब ही हुआ करते हैं।[2] इनमें आशु साधारणीकरण का गुण रहता है, क्योंकि ये *सामूहिक अवचेतन (कलैक्टिव अनकान्शस)*[3] *से उत्थित* होते हैं। सामूहिक अवचेतन से सम्बद्ध इन बिम्बों का प्रयोक्ता और उद्‌गाता होने के कारण ही कलाकार को युग ने, सम्भवतः, 'सामूहिक मानव' (कलैक्टिव-मैन) कहा है।[4] युग की आदिबिम्ब और सामूहिक अवचेतन से सम्बद्ध इन धारणाओं पर आधुनिक कला चिन्तकों ने पर्याप्त विचार किया है। विशेषकर, हर्बर्ट रीड ने इन मान्यताओं पर जीवविज्ञान और शरीरविज्ञान को दृष्टिगत रखते हुए जो मन्तव्य प्रस्तुत किया है, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इनका कथन है कि युग की आदिबिम्बवाली मान्यता शरीर-विज्ञान से पूर्णतः समर्थित मालूम पड़ती है। कारण, मानव मस्तिष्क की रचना और अंग रूप में उसके विकास क्रम को देखकर यह पता चलता है कि वर्तमान बनावट तक पहुँचते पहुँचते उसके रचना विधान में अनेक परिवर्तन हुए हैं, किन्तु इन परिवर्तनों के क्रम में भी प्रमस्तिष्क बाह्यकों पर कुछ प्राचीन संस्कार-लेख (एन्ग्राम्स) अनिवार्य रूप में आज भी सामान्यतः अंकित मिलते हैं, जिन्हें हम मनुष्य की जातीय या सामूहिक निधि कह सकते हैं। इस तरह प्रमस्तिष्क बाह्यकों (सेरेब्रल कॉर्टेक्स) पर अंकित ये पूर्वाधान या प्राचीन संक्षोभ (ट्रॉमा) कुछ विशेष प्रकार के बिम्बों की आशु अवधारणा की सशक्त क्षमता रखते हैं। इन्हीं विशेष प्रकार के बिम्बों को व्यंजित करने के लिए युग ने 'आदिबिम्ब' की स्थापना प्रस्तुत की है।[5] किन्तु, कुछ आधुनिक कला विचारक यह कहकर युग के सिद्धान्त-स्थापन की उपेक्षा भी करते हैं कि युग ने पुरानी बातों को ही कुछ नये शब्दों के छद्म से कहा है, अतः युग की

1. स्टडीज आव टाइप इमेजेज : मॉड बोड्किन, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस 1951 पृ 174-175।
2. आर्ट एण्ड द क्रिएटिव अनकान्सस : एरिक न्यूमन : ट्रान्सलेटेड फ्रॉम जर्मन इनटु इंग्लिश बाय राल्फ मैनहीम, राउटलेज एण्ड केगन पॉल, लन्दन 1955 में 'लनार्दो द विंशी एण्ड द मदर आर्कटाइप' शार्षक निबन्ध विशेषकर पृ 69 से 80 तक।
3. दी मीन बाय कलैक्टिव अनकान्सस, ए सर्टेन साइकिक डिस्पोजिशन शेप्ड बाय द फोर्सेस ऑव हेरेडिटी फ्राम इट कान्समनेस हैज डेवलप्ड। —मॉडर्न मैन इन सर्च ऑव ए सोल, बॉय सी जी युग पृ 190।
4. वही, पृ 195।
5. द फॉर्म्स ऑव थिंग्स अननोन, बॉय हर्बर्ट रीड, फेबर एण्ड फेबर लन्दन, 1960 पृ 53-54।

विचारणाओ मे केवल शब्द-भेद या शब्दान्तर है, कोई नयी बात नही।[1]

सौन्दर्यशास्त्र या कला विवेचन और विशेषकर काव्यालोचन की दृष्टि से बिम्ब एक प्रकार का रूप-विधान है, जो प्राय किसी ऐन्द्रिय प्रभाव या सवेदन की मानसिक प्रतिलिपि अथवा प्रतिकृति हुआ करता है। तदनन्तर, रूप-विधान होने के कारण अधिकाश बिम्ब दृश्य अथवा चाक्षुष होते हैं और विशुद्ध बौद्धिक अथवा भावात्मक बिम्ब होने पर भी कुछ-न-कुछ अशो मे अनिवार्यत ऐन्द्रिय रहते हैं। इसका कारण यह है कि वस्तु-विशेष के प्रति ऐन्द्रिय आकर्षण ही कलाकार को बिम्ब-विधान की ओर प्रेरित करता है, हालाकि बिम्ब-विधान के समय कलाकार के समक्ष केवल वस्तु-बोध ही नही रहता, बल्कि वर्ड्सवर्थ के शब्दो मे 'स्टॉर्म आव एसोसिएशन' भी रहता है। आसगो से आवृत्त होने के कारण उत्कृष्ट बिम्ब के दो व्यावर्तक लक्षण होते है। पहला यह है कि उत्कृष्ट बिम्ब-विधान मे सवेदनो अथवा प्रभावो का सातत्य रहता है, क्योकि सवेदनो या प्रभावो के सातत्य का निर्वाह करनेवाले बिम्ब ही कलाकार की मर्मन्तुद जीवनानुभूति से सत्य ग्रहण कर बलिष्ठ हो पाते हैं। बात यह है कि कला के बिम्ब ऐन्द्रिय सन्निकर्ष मे आयी हुई वस्तुओ का निरपेक्ष मानसिक पुनर्निर्माण नही करते, बल्कि उस मानसिक पुनर्निर्माण मे आयी हुई वस्तु अथवा वस्तुओ का इस तरह किसी अनुभूति के सन्दर्भ मे उपस्थित करते हैं कि वे बिम्ब रूप-विधान होने के साथ ही भाव-विशेष के सफल वाहक भी बन सकें। इस प्रकार कला के बिम्ब इन्द्रिय-सन्निकर्ष मे आयी हुई वस्तु-मात्र को नही, वस्तु के विशेष और विविध भाव-सम्बन्धो को मूर्तिमान करते है। उत्कृष्ट बिम्बो का दूसरा व्यावर्तक लक्षण यह है कि वे प्रसग, अनुबन्ध और विधान के साथ अनुपात रक्षा का निर्वाह नही कर पाते। वे, जैसा कि सी डी. लीविस ने कहा है, निरर्थक बिम्ब बन जाते हैं और उनसे किसी कलाकृति का कोई उपकार नही हो पाता है। इसलिए बिम्ब-विधान मे बिम्बो के सृजन के अलावा बिम्बो के पारस्परिक सग्रथन सामर्थ्य को सौन्दर्यशास्त्रीय कला विवेचन की दृष्टि से बहुत महत्त्व दिया जाता है। वस्तुत श्रेष्ठ कलाकार अपनी रचना को क्रमहीन बिम्बो का 'अलबम' नही बनाता है, बल्कि वह बिम्बो को एक सारगर्भ और अर्थवती शृखला प्रदान करता है।[2]

पूर्व पृष्ठो के विश्लेषण मे हम देख चुके हैं कि कलाकार या कवि के भावो को बिम्ब ही प्रेषणीय और ग्राह्य बनाते हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि वे ही बिम्ब इस सामर्थ्य से युक्त हो सकते हैं, जिनमे ये तीन गुण विद्यमान हों--(प्रत्यग्रता, तीव्रता और उद्बोधनशीलता)। प्रत्यग्रता वह गुण है, जो प्रयोग वक्रिमा, रचन्यास,

1. साइको एनालिसिस एण्ड आर्ट, बॉब के अट्मद, अजन्ता प्रेस, पटना, पृ 138।
2. द पोवेटिक इमेज, सी. डी. लीविस, लन्दन, 1947, पृ. 25।

स्वरारोह-अवरोह या पद लालित्य के सहारे बिम्बो मे जीवन-सत्य भरती है। तीव्र घनता वह गुण है, जिससे बिम्ब छोटे फलक पर ही अधिकतम अर्थवत्ता के केन्द्रीकरण की शक्ति अर्जित करते हैं। और, उद्बोधनशीलता वह शक्ति है, जिसके द्वारा बिम्ब कृतिगत भावावेग के प्रति सहृदय चित्त की प्रत्यर्थता को उद्बुद्ध करते है। प्रत्येक देश, जाति अथवा समुदाय की साहित्य संस्कृति म कुछ-न कुछ ऐसे शब्द, स्वर दोल, पदार्थ और नाम अवश्य रहते हैं, जो नियत सन्दर्भ मे प्रयोग की सुदीर्घ परम्परा और जातिगत सस्कार के कारण स्वभावत उद्बोधन-शील होते हैं। कई कलाशास्त्री ऐसे पारम्परीण बिम्बो को 'कन्सेक्रेटेड इमेज' कहते हैं। किन्तु कुछ विचारक द्वितीय गुण—तीव्र घनता—से उपेत बिम्बो को ही सर्वाधिक सशक्त और कला के लिए उपयोगी मानते हैं। कारण, तीव्र घनता से पूर्ण बिम्ब इतने सन्दर्भ समर्थित और प्रयोक्ता के स्पन्दित सवेग से चालित या प्रणोदित होते हैं कि वे सहृदय की वैयक्तिक अनुभूति की चापा को झकृत कर वैसा ही (अपने अनुकूल या अपनी तरह) स्पन्दित सवेग सहृदय के चित्त म पैदा कर देते हैं।

विकास की दृष्टि से बिम्ब के तीन प्रकार माने जा सकते हैं। प्रथम अवस्था म बिम्ब वस्तु विशेष की छाया या स्पष्ट सम्मूर्तन करते हैं और दूसरी अवस्था मे छाया की छाया का सम्मूर्त्तन करते है, किन्तु तीसरी अवस्था मे बिम्ब वस्तु बोध से इतने पृथक् हो जाते है कि वे प्रतीक के समीपी और समकक्ष बन जाते है। इस तीसरी अवस्था क बिम्ब नन्दतिक दृष्टि से अधिक कलात्मक मूल्य रखते हैं। तदनन्तर, प्रतिपादन की दृष्टि स बिम्बो को दो श्रेणियो मे बाँटा जा सकता है—लक्षित बिम्ब (डाइरेक्ट इमेज) और उपलक्षित बिम्ब (फिगरेटिव इमेज)। काव्य के क्षेत्र मे उपलक्षित बिम्ब का बहुत अधिक महत्त्व है, क्योकि इसम औपम्य-प्रधान और रूपक गर्भित आधार पर सादृश्य विधान के द्वारा कवि अपने घनीभूत भावो को अप्रस्तुतो म बाँधकर मार्मिक ढग से प्रस्तुत करता है। इसलिए उप-लक्षित बिम्बविधान म हमे कवियो के अचेतन मन के पटलो का रहस्य-सकेत मिलना है। इसके विपरीत लक्षित बिम्ब विधान मे विवक्षित वस्तु अथवा काव्य-निबद्ध आकृति की बाह्य रूपरेखा का स्पर्श या सकेत रहता है। अत इस कोटि के बिम्ब विधान म वर्णबोध एव अन्य चाक्षुप तत्त्वो की प्रधानता रहती है। फल-स्वरूप, ऐसे बिम्ब, प्राय, क्रिया प्रधान अथवा चित्रात्मक हुआ करते हैं। व्यवहार मे ऐसा देखा जाता है कि लक्षित बिम्ब तभी सुन्दर बन पाते हैं, जब उनमे आद्यन्त सश्लिष्टता रहती है अथवा प्रभावान्विति का केन्द्रीकरण रहता है।

जो विचारक अन्य ललितकलाओ को छोडकर केवल काव्य की दृष्टि से बिम्बों पर विचार करते हैं, वे उपलक्षित बिम्बो को ही बिम्ब का एकमात्र रूप मानते हैं। जैसे, एच कुम्बे का कहना है कि बिम्ब अनिवार्यत एक प्रकार का

'फिगर ऑव स्पीच' है।[1] इस दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए इन्होंने बिम्बों के दो भेद माने हैं--संक्षिप्त बिम्ब (कन्साइज इमेज) या व्यंजक बिम्ब (सजेस्टिव इमेज) और शिथिल बिम्ब (लूज इमेज) या प्रसृत बिम्ब (डिफ्यूसिव इमेज)। प्रथम प्रकार के बिम्ब में एक उत्प्रेक्षा-सुलभ संक्षिप्तता और कसावट रहती है। इसकी अवतरणिका विशद नहीं रहती है और इसके अन्तर्गत कम-से कम में अधिक से अधिक की व्यंजना की जाती है। अर्थात्, इसका अप्रस्तुत-विधान प्रसंग गर्भित और अध्याहार-प्रधान होता है। दूसरे प्रकार के बिम्ब में मालोपमा या सांगरूपक से सादृश्य रखनेवाला केन्द्रगामी विस्तार रहता है। इसकी अवतरणिका 'सी, सा, सम' इत्यादि जैसे वाचक अथवा अन्य लक्षक शब्दों को जोड़कर विशद बना दी जाती है। इस तरह प्रथम प्रकार और द्वितीय प्रकार के बिम्बों में कुछ वैसा ही अन्तर है, जैसा क्रमशः एकदेश विवर्ति और समस्तवस्तुविषय सांगरूपक में हुआ करता है। यहाँ एच कुम्बे के अनुसार इतना स्मरणीय है कि प्रथम प्रकार का बिम्ब-विधान अपेक्षाकृत कठिन हुआ करता है, क्योंकि इसके लिए कल्पना की गम्भीर चाप (प्रेसर) के नैरन्तर्य और अडिग बौद्धिक नियन्त्रण की आवश्यकता होती है।

इसी तरह कुछ विचारकों ने विनियोग की दृष्टि से बिम्बों के तीन भेद माने हैं—प्राथमिक बिम्ब (प्राइमरी इमेज), विकसित बिम्ब (सेकेण्डरी इमेज) और व्युत्पन्न बिम्ब (टेर्शियरी इमेज)। प्राथमिक बिम्ब नियन्त्रित, परिमेय, धारणात्मक, सहजग्राह्य और तथ्यबोधक होते हैं। विकसित बिम्ब ठीक इसके विपरीत होते हैं। श्रेष्ठ कलाकार, जिनके पास शिल्पित शैली के साथ ही छायावादी भावना अथवा रहस्यात्मक वृत्ति की समृद्धि रहती है, इसी प्रकार के बिम्बों का अधिक प्रयोग करते हैं। किन्तु, ये बिम्ब नियन्त्रण, परिमेयता, धारणात्मकता अथवा तथ्य-बोधकता से अनुपेक्षणीय दूरी रखने पर भी पूर्णतः अर्थवान् होते हैं। तदनन्तर, व्युत्पन्न बिम्बों को हम बिम्ब से उत्पन्न बिम्ब कह सकते हैं। इस तरह ये बिम्ब वस्तु-जगत् के निश्चित तथ्यबोधक न होकर उस भावजगत् के दूरवर्ती बोधक होते हैं जिस भाव जगत् को कला, प्रायः, रूप-जगत् अथवा मूल्य-जगत् में परिवर्तित कर उपस्थित किया करती है। अर्थात्, ये बिम्ब विशिष्ट, स्वयविधायक और आत्म-निष्ठ हुआ करते हैं। उदाहरणार्थ, मैथिलीशरण गुप्त की 'मातृभूमि' शीर्षक कविता की निम्नांकित पंक्तियों में—

> नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
> सूर्य-चन्द्र युग-मुकुट मेखला रत्नाकर है।

1. फिटरेचर एण्ड क्रिटिसिज्म, ले. एच कुम्बे, पैटो एण्ड विण्डस, लन्दन, 1958, पृ. 49।

नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मण्डन है,
वन्दीजन खगवृन्द, शेष-फन सिंहासन हैं।
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की,
हे मातृभूमि ! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की।

जितने भी बिम्ब हैं वे परिमेय, धारणात्मक, सहजग्राह्य और तथ्यबोधक हैं। अत हम इन्हे प्राथमिक बिम्ब कह सकते हैं। किन्तु, दिनकर की 'हिमालय के प्रति' शीर्षक कविता की इन पक्तियो मे—

युग युग अजेय, निर्बंध मुक्त,
युग-युग गर्वोन्नत नित महान,
निस्सीम व्योम मे तान रहे,
युग से किस महिमा का वितान।

प्रयुक्त बिम्ब विकसित बिम्ब है, क्योंकि 'महिमा का वितान', निर्बन्ध मुक्त' और 'युग-युग अजेय' के द्वारा यद्यपि हम कोई इन्द्रियगम्य तथ्यबोधकता नही मिलती है, तथापि इन पदो की निश्चित अर्थवत्ता म कोई सन्देह नही किया जा सकता। तदनन्तर, व्युत्पन्न बिम्ब तो बहुत ही सौन्दर्यबोधक और कलात्मक होते हैं। उदाहरण के लिए, महादेवी वर्मा द्वारा लिखित नीरजा' की इन पक्तियो मे—

इसमे उपजा यह नीरज सित
कोमल कोमल लज्जित मीलित
सौरभ की लेकर मधुर पीर।
इसमे न पक का चिह्न शेष,
इसमे न ठहरता सलिल लेश,
इसको न जगाती मधुप-भीर।

प्रस्तुत कमल का बिम्ब वस्तु जगत् के औसत तथ्य का बोधक नही है, तथापि इसमे भाव जगत् के एक अनुभूत अनमोल सत्य की रूपात्मक अभिव्यक्ति है। इस तरह व्युत्पन्न बिम्ब निर्गुण भाव को सगुण बनाकर अभिव्यक्त करते हैं और प्रयोग के पौन पुन्य स रूढ होकर प्राय प्रतीक बन जाते हैं। कुछ गहराई मे विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राथमिक बिम्ब की रचना चेतन मन (कन्सस माइण्ड), जो व्यवसायात्मिका बुद्धि या तर्कात्मक बुद्धि स बहुत दूर नही रहता, के द्वारा होती है। तदनन्तर विकसित बिम्ब चेतन और अचेतन मन के उस सगम से उत्थित होता है जो तर्क अथवा निरीक्षण परीक्षण की अपेक्षा विचार तथा आसगो से अधिक निकट रहता है। और, व्युत्पन्न बिम्ब का निर्माण कलाकार के उस आत्म-तत्त्व के द्वारा होता है, जो सूक्ष्म और विराट्' को स्वायत्त करने की क्षमता रख कर भी न कोई निश्चित रूप रखता है और न कोई इन्द्रियगम्य अर्थ ही देता है।

कुछ काव्यालोचको ने बिम्बो का वर्गीकरण करते समय मूर्त्तता और सूक्ष्मता

के आधार पर उनके दो प्रकारों का निरूपण किया है—मूर्त्त बिम्ब (कंक्रीट इमेज) और अमूर्त्त बिम्ब (एब्स्ट्रेक्ट इमेज)।[1] किन्तु, मेरी दृष्टि मे ऐसा वर्गीकरण निरर्थक है, क्योंकि मूर्त्तता तो बिम्बों का अनिवार्य गुण है, अत मूर्त्तता को वर्गीकरण का भेदक आधार नही मानना चाहिए। बिम्बो के भेद, प्रकार या वर्ग-निर्धारण के प्रसग मे काव्यालोचकों के और दो मत मिलते हैं। एक मत के अनुसार काव्य की विकसित दशा मे बिम्बो के तीन रूप होते हैं – प्रतीक, रूपक और उपमा। दूसरे मत के अनुसार काव्य की विकसित दशा मे बिम्बो के पाँच रूप होते हैं—प्रतीक, रूपकात्मक बिम्ब (एलिगरिकल इमेज), चिह्नात्मक बिम्ब (एम्ब्लेमेटिक इमेज), रूपक और उपमा। कई विचारक इस सख्या वृद्धि से भी सन्तुष्ट नही हैं। वे बिम्बो के और दो रूप मानते हैं – प्रतिलेख (ट्रान्सक्रिप्ट) और सकेत (साइन)। सक्षेप मे, बिम्ब के उक्त रूपो को हम इस प्रकार समझ सकते हैं—

उपमा—जो बिम्ब वर्ण्य-अवर्ण्य की सत्ता को अलग स्वीकार करते हुए दोनो के बीच सा, जैसा, सदृश इत्यादि के 'वाचन' से तुलना या समता स्थापित करता हो।

रूपक—जो बिम्ब वर्ण्य-अवर्ण्य के अन्तर का निषेध करते हुए दोनो के बीच तुलनात्मक सादृश्य-निबन्धन अथवा किसी वस्तु के विशिष्ट गुण का शब्द कथन करके उस गुण से साम्य रखनेवाली अन्य दूरवर्त्ती वस्तु को उपलक्षित करता हो।[2]

रूपकात्मक बिम्ब (एलिगरिकल इमेज)—वह बिम्ब, जो किसी कृति मे सतही दृष्टि मे एक ही अर्थ को लेकर चलता हो, किन्तु, अन्तरग मे किसी अन्य आधेय अर्थ, प्रत्यय या विचार को छिपाये हुए हो।

चिह्नात्मक बिम्ब (एम्ब्लेमेटिक इमेज)—वह बिम्ब, जो किसी विशेष अर्थ का अभिज्ञान बनकर प्रयुक्त हुआ हो।

1 द इमेजरी ऑव कीट्स एण्ड शैली, लेखक रिचड हर्टर फॉग्ले, द युनिवर्सिटी ऑव नॉर्थ कैरोलिना प्रेस, 1949 पृ 184।

2. इस प्रसग में यह स्मरणीय है कि हीगेल ने बिम्ब को metaphor और simile का मध्यवर्त्ती माना है।—"We may place the 'image' midway between the metaphor and the simile It has, in fact, so close an affinity with the metaphor that we may regard it as merely a metaphor fully amplified, an aspect which at the same time marks its very close resemblance to the simile, there is, however, this distinction, that in the case of the image as such the significance is not set forth in its independent opposition to the concrete external object expressly compared with it That which we term the image arises when two phenomena or conditions, which by themselves stand substantially apart, are placed in concurrence so that one condition supplies the significance which is made intelligible by means of the other"—*Hegel*, The Philosophy of Fine Art, Volume II, London, 1920, pp 144-145.

प्रतिलेख (ट्रान्सक्रिप्ट)—वह व्यजक बिम्ब, जो एक मुख्यार्थ के साथ ही अनेक आसगो के सहारे विविध अर्थच्छायाओ का प्रकाश करता हो।

सकेत (साइन)—वह बिम्ब, जो प्रतीकात्मक मूल्य धारण करते हुए भी किसी कृति मे गौण स्थान रखता हो।

प्रतीक—वह बिम्ब, जो किसी कृति मे बिना कोई तुलनात्मक आधार ग्रहण किए हुए अपना स्वतन्त्र *'स्थान'* रखता हो *और उत्कृष्ट आसग गर्भत्व के साथ ही* अनेक गूढार्थो की व्यजना करता हो।

अधिक गहराई मे जाने पर हम पाते हैं कि जिन आलोचको ने अन्य ललित-कलाओ को छोडकर केवल काव्य की दृष्टि से बिम्बो पर विचार किया है, उन्होने बिम्ब को केवल शब्दाश्रित माना है। किन्तु, बिम्बो को मात्र शब्दाश्रित मान लेने स काव्येतर ललितकलाओ का पक्ष छूट जाता है। उदाहरणार्थ, बिम्बो को मात्र शब्दाश्रित माननेवाले विचारको मे रॉबिन स्केल्टन के बिम्ब-विवेचन को देखा जा सकता है।[1] इनका मत है कि बिम्ब उस शब्द या उन शब्दो से निर्मित होता है, जिसमे या जिनमे विवक्षित वस्तु अथवा भाव के मानस-प्रत्यक्ष कराने की शक्ति रहती है। इनके अनुसार बिम्बो के प्रमुख प्रकार निम्नलिखित हैं

क सरल बिम्ब (सिम्पल इमेज)—वह बिम्ब, जो भावो को इस प्रकार जगावे कि उनका मानस-प्रत्यक्ष हो जाय। जैसे—चमकीला, पीला नीला, शीत, कोमल इत्यादि।

ख भावानीत बिम्ब (इमेजेज ऑव एब्स्ट्रैक्शन)—मानस अथवा अन्य ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से रहित भाव को पैदा करनेवाले बिम्ब। जैसे—सत्य, प्रत्यय, वैदुष्य इत्यादि।

ग आशु (इमिजियेट) बिम्ब—श्रुति, दृष्टि, गन्ध, रस और स्पर्श के भावो को सद्य समीरित करनेवाले बिम्ब। जैसे—कलकल, टलमल, खुरदुरा, मीठा, महमह, इत्यादि।

घ विकीर्ण बिम्ब (डिफ्यूज इमेज)—ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से अनृजु या प्रकारान्तर सम्बन्ध रखनेवाले अथवा किसी एक इन्द्रिय के प्रति भाव-निवेदन नही रखने-वाले बिम्ब, अर्थात् अनेक इन्द्रियो के प्रति भाव निवेदन रखनेवाले बिम्ब। जैस—गोष्ठी, इच्छा, साहस, इत्यादि।

च अमूर्त्त (एब्स्ट्रैक्ट) बिम्ब—(ख स नितान्त साम्य) भावानयन से निर्मित ऐसे बिम्ब जो मानवीकरण अथवा अन्य ऐसे ही उपायो से वर्ण्य का मानस प्रत्यक्ष पैदा करते हो। जैसे—दया, विभु, विभा, इत्यादि।

छ सयुक्त (कम्पाउण्ड) बिम्ब—दो या दो से अधिक शब्दो के सयोग से बनने-

1 द पोयेटिक पैटन, ले रॉबिन स्केल्टन, रूट्लेज एण्ड केगन पॉल 1956 पृ 90-91।

वाले ऐसे बिम्ब, जो किसी एक वस्तु अथवा भाव का मानस प्रत्यक्ष कराते हों। जैसे—लाल क्रान्ति।

ज संकुल (कम्प्लेक्स) बिम्ब—दो या दो से अधिक शब्दों का ऐसा संयोग, जो एक से अधिक बिम्बों का सृजन करता हो। जैसे—सुनहले 'डेफोडिल्स', सशैवाल रक्तकमल।

झ संयुक्त भाववाची (कम्बाइण्ड एब्स्ट्रैक्ट) बिम्ब—शब्दों का ऐसा संयोग, जिससे कोई भाववाची बिम्ब (मानस प्रत्यक्ष से रहित) पैदा होता हो। जैसे —भद्र सत्य, शालीन करुणा, इत्यादि।

ट संकुल अमूर्त (कम्प्लेक्स एब्स्ट्रैक्ट) बिम्ब—शब्दों का ऐसा संयोग, जिससे एकाधिक भाववाची बिम्ब (मानस प्रत्यक्ष से रहित) पैदा होते हों। जैसे—विश्वस्त दानशीलता, ईमानदार प्रेम।

ठ अमूर्त संयुक्त और अमूर्त संकुल बिम्ब (एब्स्ट्रैक्ट कम्बाइण्ड एण्ड एब्स्ट्रैक्ट कम्प्लेक्स इमेज)—वह संकुल या संयुक्त बिम्ब, जिसमें भावानयन बिम्बधर्मिता से अधिक प्रधान हो और बिम्बधर्मिता उस भावानयन का केवल गुण-बोध करती हो।

जैसे—स्वर्णिम सटीकता, विकम्पित विगलित करुणा, इत्यादि।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि रॉबिन स्केल्टन द्वारा प्रस्तुत बिम्ब-विवेचन का सबसे बड़ा दोष है—उसमें शब्द प्रधान आधार का होना। स्केल्टन ने बिम्बों को मात्र शब्दाश्रित माना है और, फलस्वरूप, शब्दों के आधार पर ही उनका वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। अतः काव्येतर ललितकलाओं के लिए बिम्बों के इस विवेचन का कोई सौन्दर्यशास्त्रीय महत्त्व नहीं रह जाता है।[1] समग्र ललितकलाओं की दृष्टि से बिम्बों का उत्कृष्ट वर्गीकरण तभी हो सकता है, जब अभिव्यक्ति की कला और अन्दतिक बोध को आधार माना जाय।

1 जैसे, संगीत कला के बिम्ब शब्दाश्रित न होकर 'टोन' (tone) से निर्मित होते हैं। इस कला में 'टोन' के द्वारा काल को श्रव्य बनाया जाता है और 'टोन' सर्वत्र ही संगीत में बिम्ब की तरह प्रयुक्त होता है। अतः संगीतकला के क्षेत्र में बिम्बों का शब्दाश्रित वर्गीकरण लागू नहीं हो सकता है। कालिक (temporal) कला होने के कारण संगीत के बिम्ब सर्वदा काल-भासक, कालद्योतक या काल के श्रुति विधायक हुआ करते हैं। अतः ये (संगीतकला में प्रयुक्त बिम्ब) अनिवार्य रूप में सघन (tonal) होते हैं। उदाहरणार्थ, Zuckerkandl का मत है—"Works of musical art are time images in the same sense in which works of the representational arts and architecture are space

अब हम ऐन्द्रिय बोध के अनुसार बिम्बो के विभाजन पर विचार करेंगे, क्योंकि मूर्त्तविधायिनी कल्पना स सृष्ट बिम्ब अपने ऐन्द्रिय निवेदन के द्वारा ही हमारे लिए ग्राह्य होते हैं। अत हम इनमे कभी एकोन्मुखी और कभी अनेकोन्मुखी ऐन्द्रिय निवेदन पाते हैं। अर्थात् हमे कोई बिम्ब चाक्षुष अनुभूति देता है या स्पार्शिक अनुभूति। किन्तु, कभी ऐसे भी सकुल अथवा मिश्र बिम्ब होते हैं, जो एक ही साथ हमे स्पार्शिक, घ्राणिक एव चाक्षुष—कई प्रकार की अनुभूतियाँ प्रदान करते हैं। जैसे—पन्तजी की इन पक्तियो—

दूर उन खेतो के उस पार
जहाँ तक गई नील झकार

मे हम 'नील झकार' पर विचार कर सकते हैं। यहाँ 'नील' रग-बोध से सम्पृक्त होने के कारण हमारी चाक्षुष प्रतीति स सम्बद्ध है और झकार' ध्वनि बोधक होने के कारण हमारी श्रावण प्रतीति से। अत यहाँ हम सरल अथवा शुद्ध नही, बल्कि, सकुल अथवा मिश्र बिम्ब की प्राप्ति होती है, क्योकि एक ही बिम्ब हमारे चक्षु और श्रवण—दोनो को तृप्त करता है। इस तरह श्रेष्ठ कलाकार ऐसे भी बिम्ब को प्रस्तुत कर सकता है, जो दो क्या, हमारी तीन-चार ज्ञानेन्द्रियो को एक साथ 'अपील' करता हो।

उपर्युक्त ऐन्द्रिय बोध के आधार पर हम सामान्यत कला मे विनियोग पाने-वाले बिम्बो को निम्नलिखित वर्गों मे विभाजित कर सकते हैं—

1. चाक्षुष, 2 श्रावण, 3 स्पार्शिक, 4 घ्राणिक, 5 रासनिक (गस्टेटरी), 6 आगिक अथवा जैव, 7 वेगोद्भेदक (किनेस्थेटिक), और 8 गत्वर (मोटर)। पुन इनमे से कुछ बिम्बों को एकाधिक उपवर्गों मे बाँटा जाता है। जैसे चाक्षुष बिम्ब दो प्रकार के माने जाते है—सश्लेषणात्मक और विश्लेषणात्मक। इसी तरह स्पार्शिक बिम्बा के अन्तर्गत तापबोधक बिम्बो (थर्मल इमेजेज) को स्वीकार किया जाता है, जिन्हे प्राय, दो प्रकारो—शीत बिम्ब और उष्ण बिम्ब म विभक्त किया जाता है।[1] बिम्बो का ऐसा विभाजन कुछ दूर तक उचित मालूम पडता है, क्याकि बिम्ब, अन्ततोगत्वा, ऐन्द्रिय प्रभावो की प्रतिकृति हुआ करते हैं। अत बिम्बो को

1 बिम्बो के प्रकार निरूपण की यह सख्या अनिश्चित है। मनोवैज्ञानिक जीववैज्ञानिक या अत्यधिक कलावादी दृष्टिकोण लेकर चलनेवाले विचारको ने बिम्ब के प्रकारों को इस तरह बढा दिया है कि हम बिम्ब के वैसे प्रकार निर्देश को किसी सुदर विशेषण का चुनाव भर कह सकते हैं। जैसे—विसेरल इमेज टैक्टाइल इमेज, मस्कुलर इमेज मिमेटिक इमेज आर्टिकुलेटरी इमेज टायड इमेज फ्रक्शनल इमज फ्रीक्वायण्ट इमेज जक्स्टापोज्ड इमेज फौलिंग इमेज इत्यादि।—प्रिंसिपुल्स ऑव लिटररी क्रिटिसिज्म आई ए रिचर्ड्स, रूटलेज एण्ड केगन पाल, 1955 पृ 120-124 152।

उतने ही प्रमुख प्रकारो मे बाँटना चाहिए, जितने प्रकार के ऐन्द्रिय प्रभाव हुआ करते हैं। इस विधि से हमारे ऐन्द्रिय प्रभाव मुख्यत दृष्टि, गन्ध, शब्द, रस और स्पर्श से सम्बद्ध रहते है।[1] यो, हमारी कुछ ऐसी भी मानसिक अन्तर्दशाएँ होती है—जैसे, मन्यु, तोष, उत्साह, श्रान्ति, इत्यादि—जिनके आधार पर बिम्बो के अवान्तर भेद निरूपित किये जा सकते है।

चाक्षुष बिम्ब कला-जगत् मे पर्याप्त महत्त्व रखते है।[2] अनेक कला-विचारक, चाक्षुष बिम्बों को बहुत उत्कृष्ट और सशक्त मानते हैं। ऐसे विचारकों के अनुसार चाक्षुष बोध अन्य ऐन्द्रिय बोधों की अपेक्षा अधिक आत्मीय होता है। शैशवकाल से ही चाक्षुष बिम्ब व्यक्ति के मन पर आधिक्य जमाये रखते है। शैशवकालीन चाक्षुष बिम्ब अधिकतर स्वत सम्भवी चाक्षुप बिम्ब या प्रतीतिक बिम्ब हुआ करते हैं।[3] कला-जगत् से पृथक् व्यावहारिक जगत् मे भी हम किसी वस्तु को देखकर अन्य ऐन्द्रिय बोधो को ग्रहण करने के पूर्व सन्निकर्ष के लिए प्राप्त वस्तु के रूप-रग का ही अधिकतर विभाजन करते हैं। ललितकलाओ के बीच चित्रकला में चाक्षुष बिम्ब सर्व-प्रधान होते हैं, यद्यपि सभी दृश्य-कलाओं मे इनकी प्रधानता सुरक्षित रहती है। चित्रकला के क्षेत्र मे चाक्षुप बिम्बों के प्रधान अधिकरण ये है—रेखा, प्रकाश और छाया, रग, विन्यसन(टेक्सचर), विस्तार(वॉल्यूम)और रूप भेद तथा प्रमाण(एपर्स्-पैक्टिव)। काव्य कला मे चाक्षुप बिम्बों का अधिक उपयोग स्थूल सौन्दर्य के चित्रण मे हुआ करता है। इसलिए जिस युग मे मानव-जगत् या मानवेतर जगत् के दृश्य

1 साधारणत चाक्षुप बिम्ब श्रावण बिम्ब की अपेक्षा और श्रावण बिम्ब गत्वर बिम्ब की अपेक्षा सामान्य जन के लिए अधिक बोधगम्य होते हैं। इन सभी प्रकार के बिम्बो की रचना और भावन म वैयक्तिक रुचि काम करती है। इसलिए बिम्बों का स्वभाव या प्रभाव तत्सम्बन्धित व्यक्ति की पूर्वानुभूतियों पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ, रग-परिज्ञानहीन व्यक्ति वर्ण बिम्बो (इमेजेज ऑव कलर) का भावन नही कर सकता है।

2 चाक्षुप या दृश्य बिम्बों की प्रमुखता को प्रतिपादित करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है—' कल्पना द्वारा अन्य विषयो की अपेक्षा नेत्रों के विषयो का ही सबसे अधिक आनयन होता है, और सब विषय गौण रूप से आते हैं। बाह्य कारणो के सब विषय अन्त करण मे 'चित्र' रूप से प्रतिबिम्बित हो सकते हैं। इसी प्रतिबिम्ब को हम 'दृश्य' (या चाक्षुप) कहते हैं।—चिन्तामणि, दूसरा भाग, ले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सरस्वती मन्दिर जतनबर, काशी, संवत् 2006 पृ 1। आशय यह है कि साधारणत बिम्बो मे चाक्षुप धर्म की ही प्रधानता रहती है। लैंगर ने भी इस ओर सकेत किया है—"The Wore 'image' is almost inseparably wedded to the sense of sight"—*Susanne K Langer*, Feeling and Form, London, 1953, p 48

3 ये प्रातीतिक बिम्ब (आइडेटिक इमेज) शिशु-स्वभाव के लिए बहुत प्रिय हुआ करते हैं। इन प्रातीतिक बिम्बो का विश्लेषण हर्बर्ट जे मुलर ने विस्तारपूर्वक किया है—साइन्स एण्ड क्रिटिसिज्म, हर्बर्ट जे मुलर, न्यूयार्क, जार्ज ब्रजिलर इन्क, 1956, पृ. 168-169।

रूप के प्रति कवियो की रुचि अधिक रहती है, उस युग के काव्य में चाक्षुष बिम्बो का सर्वाधिक विनियोग मिलता है।[1]

तदनन्तर, श्रावण बिम्ब (आडिटरी इमेज) श्रव्य-कलाओ के लिए विशेष उत्कर्ष विधायक होते हैं। सगीत-कला की ध्वनियां ऐसे ही बिम्बो के अन्तर्गत आती हैं। ये श्रावण बिम्ब, प्राय, ध्वनि कल्पना से उत्थित होते हैं। विशेषकर काव्य के क्षेत्र मे ध्वनि-कल्पना से हमारा आशय है – कविता के श्रव्य-पक्ष की ऐसी योजना अथवा नाद-सौन्दर्य की ऐसी प्रेषणीयता, जो पाठक या श्रोता के द्वारा कविता के समझे जाने के पूर्व ही सहृदय-चित्त मे कवि के भाव-निवेदन या आकृतियो की व्यजना को प्रेषित कर दे। सामान्यत, ध्वन्यर्थ चित्रण को प्रस्तुत करते समय कवि को इसी ध्वनि-कल्पना का सहारा लेना पडता है। ध्वनि-कल्पना से युक्त भाषा में एक प्रकार की मन्त्र-शक्ति होती है। अर्थात् वैसी भाषा को समझे बिना ही (श्रवण मात्र से) कवि के भाव-निवेदन के दल खुलने लगते हैं, जैसे, गायत्री मन्त्र अथवा वैदिक ऋचाओ के श्रवणमात्र मे ही अन्तर्मन मे एक उच्चाशयता विकीर्ण होने लगती है। अत यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि ध्वनि-कल्पना के प्रेषण मे सस्कारो के उद्बोध का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। काव्य मे यह ध्वनि-कल्पना पदशय्या की रचना के साथ ही छन्द-योजना के विशिष्ट प्रकार पर भी निर्भर करती है। जैसे, अमृतध्वनि छन्द को सुनते ही वीरता और ओज का उद्भाम होने लगता है। विश्लेषण करने पर प्राय सभी श्रेष्ठ काव्य शिल्पियो (प्राचीन या अर्वाचीन) मे उस ध्वनि कल्पना के प्रति मोह मिलता है, जो कियदश मे पाठको अथवा श्रोताओ की दीक्षित या सस्कारजन्य श्रुति-चेतना पर निर्भर करती है। भवभूति की 'एते ते कुहरेषु गदगगद्नदद्द्‌ गोदावरी वारयो' वाली उक्ति या टी एस इलियट के 'वेस्ट-लैण्ड' वर्णित विहग-कण्ठ से प्रस्फुटित जल-बूंदो के 'टिपिर-टिपिर' सगीत—'ड्रिप ड्रॉप ड्रिप ड्रॉप ड्रॉप ड्रॉप ड्रॉप ड्रॉप'—मे हमे इसी ध्वनि-कल्पना का उपयोग मिलता है।[2] बूंदो की इस आवाज और वर्षा-सगीत को ध्वनि-कल्पना के सहारे प्रस्तुत करने का प्रयास जानकीवल्लभ शास्त्री ने भी किया है—

मेघ-रन्ध्र मे मन्द्र-सान्द्र ध्वनि—
द्रिम द्रिम-द्रिम उन्मद मृदग की।
....

1 चाक्षुष बिम्बों को मनोविज्ञान, दर्शनशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र के पण्डितों ने अनेक प्रकारो में बांटा है। द्रष्टव्य—Imagination by *E J Furlong*, New York, 1961, p 70.

2 आधुनिक कवियों के बीच टी एस इलियट ने इस ध्वनि-कल्पना को सैद्धान्तिक रूप मे बहुत ऊंचा स्थान दिया है।—द एचिवमण्ट ऑव टी एस इलियट, एफ ओ मैथीसन, ए गैलेक्सी बुक न्यूयार्क ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस 1959 पृ 81 96।

रिमझिम-रिमझिम, रुनझुन-रुनझुन,
छुनकिट तच्छुम रनरन-रुनरुन,
छुम छुम छननन, झननन झुनझुन,
मुक्तवेश सरसा श्यामाम्बर।
हरित-शस्य-अचल अचलतर॥
ताल-ताल पर उच्छल-उच्छल—
चल जल छलछल टलमल टलमल,
कुलकुल-कुलकुल, कलकल-कलकल,
प्रति-पदगति नति शत-तरंग की।
तडित भंगिमा अंग-अंग की॥[1]

इसी तरह बंगला के कवि ईश्वरगुप्त ने संगीतधर्मी निसर्ग-वर्णन-पद्धति का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए ध्वनि-कल्पना के सहारे वर्षा का सुन्दर चित्र उपस्थित किया है—

चारिदिके घोरतर नीरधर आडम्बर
शून्य पर करे अतिशय।
चारु चारु सघूर्मित गुरु गुरु गरजित
दुरु दुरु कम्पित हृदय।
वहितेछे समीरन करितेछे घोर रन
निदाघ वरषा सहकार।
सन् सन् स्वरे गाजे, झन् झन् माझे माझे
शब्द करे, स्तब्ध त्रिससार।
चक्मक् चिकि मिकि धक् धक् धिकि धिकि
सुचचला चपलार माला।
झमझम् हय जल धरातल सुशीतल
घुचे गेल सन्तापेर ज्वाला।[2]

1 मघगीत जानकीवल्लभ शास्त्री, 1952, पृ 13।

2 काव्ये रवीन्द्रनाथ, ले विश्वपति चौधुरी, मित्र एण्ड घोष, श्यामाचरण स्ट्रीट, कलकत्ता, पृ 10-11 पर उद्धृत। श्रावण बिम्बों को उपस्थित करने के अलावा ध्वनि-कल्पना का उपयोग दूसरी तरह से भी हो सकता है। जैसे वाल्मीकि ने किष्किन्धाकाण्ड के अट्ठाइसवें सर्ग में वर्षा वर्णन के प्रसंग में ध्वनि-कल्पना के सहारे निष्पन्न होनेवाली अप्रस्तुत योजना का (ध्वन्यर्थचित्रण का नहीं) सुन्दर निदर्शन उपस्थित किया है—

षट्पादतन्त्रीमधुराभिधानं
प्लवंगमोदीरितकण्ठतालम्।
आविष्कृतं मेघमृदङ्गनादै—
र्वनेषु संगीतमिव प्रवृत्तम्॥ (किष्किन्धाकाण्ड, 28 36)

इस प्रकार ध्वनि-कल्पना से प्रसूत श्रावण बिम्बों मे एक प्रकार की स्वन-सम्पदा रहती है।

स्पार्शिक बिम्ब, प्राय, शारीरिक सौन्दर्य चेतना या सन्निकर्ष-प्रधान रूप-भावना से सम्बद्ध रहते हैं। अत इनके द्वारा अधिकतर ससपर्श, त्वक्‌चेतना या रूपात्मक सभार के भावों का मूर्त्तन किया जाता है। यों, दृश्य-कलाओ, विशेषकर, मूर्त्तिकला और चित्रकला म स्पार्शिक बिम्बो के द्वारा सूक्ष्म अदृश्य भावों का भी वस्तु-मूर्त्तन (ऑब्जेक्टिफिकेशन) कर दिया जाता है। तदनन्तर, घ्राणिक, रासनिक, आगिक अथवा जैव[1] और गत्वर बिम्ब आते हैं, जिनका स्वरूप उनके नाम से ही स्पष्ट है और जिनकी सोदाहरण विवेचना प्रस्तुत प्रबन्ध के द्वितीय खण्ड (छायावाद का कला-सौष्ठव) के चतुर्थ अध्याय मे विस्तारपूर्वक की जायगी। यहाँ हमारे लिए वेगोद्‌भेदक बिम्बों[2] के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है। वेगोद्‌भेदक बिम्ब मे तिग्मध्वान-गुण, त्वरा, विस्फोट और विभ्राट—सब कुछ एक साथ रहते हैं। निराला ने 'राम की शक्तिपूजा' शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियों मे वेगोद्‌भेदक बिम्ब की सुन्दर योजना की है—

> शत घूर्णावर्त्त, तरग-भग उठते पहाड,
> जल राशि-राशि जल पर चढता खाता पछाड,
> तोडता बन्ध—प्रतिसन्ध धरा, हो स्फीत वक्ष,
> दिग्विजय-अर्थ प्रतिपल समर्थ बढता समक्ष
> शत वायु वेग-बल डूबा अतल मे देश-भाव,
> जलराशि विपुल मथ मिला अनिल मे महाराव
> वज्राग तेजघन बना पवन को, महाकाश
> पहुँचा एकादश रुद्र क्षुब्ध कर अट्टहास।[3]

कहा जाता है कि जिस कवि के पास सम्मूर्त्तनप्रधान कल्पना की प्रधानता रहती है, उसकी कृतियों मे चाक्षुष वेगोद्‌भेदक बिम्बो (ऑप्टिकल काइनेस्थेटिक इमेज) की अधिकता मिलती है।

अब हम ऐन्द्रिय प्रभावों मे ऋजु सम्बन्ध रखनेवाले ऐसे दो प्रकार के बिम्बों—सह्‌संवेदनात्मक सश्लिष्ट बिम्ब (साइनेस्थेटिक इमेज) और समानुभूतिक बिम्ब (इम्पैथिक इमेज)—पर विचार करेंगे, जिनका सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से विकसित नन्दतिक बोध के कारण कला-जगत्, विशेषकर, काव्य मे बहुत महत्त्व है। सह-

1 आगिक अथवा जैव बिम्बों का सम्बन्ध 'थ्योरी ऑव इम्पैथी' से भी दिखलाया जा सकता है, जिसकी चर्चा हम आगे समानुभूतिक बिम्बविधान (इम्पैथिक इमेजरी) के प्रसग म करेंगे।

2 द्रष्टव्य है—*Richard Harter Fogle*, The Imagery of Keats and Shelley, Chapel Hill, 1949

3. अपरा, ले निराला, साहित्यकार ससद, प्रयाग, सवत् 2013, पृ 37।

संवेदनात्मक संश्लिष्ट बिम्ब में शारीरिक अथवा मानसिक अनेक प्रकार के संवेगों, संवेदना, अनुभूतियों अथवा प्रतीतियों का मिश्रण या शमीकरण रहता है। जैसे, किसी काव्य-कृति में कोई ऐसी अप्रस्तुतयोजना हो, जिसमें ध्वनि, वर्णपरिज्ञान और घ्राण के बोध एक ही साथ व्यंजित हों, तो उसे हम सहसंवेदनात्मक संश्लिष्ट बिम्ब कहेंगे। जिस कलाकार में अतिशय भावुकता और आत्मनिष्ठता रहती है, वह सहसंवेदनात्मक संश्लिष्ट बिम्बों के सृजन में अपेक्षाकृत अधिक समर्थ होता है। ये बिम्ब प्रायः, वर्ण ध्वनिमय ('कलर-ऑडिशन') या ध्वनि दृष्टिमय ('टोनल विजन') हुआ करते हैं। अधिक स्पष्टता के लिए हम यह सकते हैं कि सहसंवेदनात्मक संश्लिष्ट बिम्बों में संवेदना का गाढ़ घनीकरण रहता है तथा विभिन्न इन्द्रिय-बोधों का सम्मिश्रण भी। इसलिए ऐसे बिम्बों का विधायक कलाकार, प्रायः, एक प्रकार और क्रम के संवेदन से दूसरे प्रकार और क्रम के संवेदना में संक्रमण करता रहता है। फलस्वरूप, ये बिम्ब स्वभाव से ही मिश्रणशील और स्फूर्तिवान् होते हैं। उदाहरण के लिए पंतजी ने जहाँ 'नील झंकार' अथवा कीट्स ने जहाँ 'पेण्टिंग लाइट', सिल्वर थ्रिल्स या 'सिल्वर वाइब्रेशन्स' जैसी अप्रस्तुत योजना की है, वहाँ हम ऐसे मिश्र चाक्षुष-श्रावण बिम्ब मिलते हैं, जो सह-संवेदनात्मक संश्लिष्ट बिम्ब विधान के अन्तर्गत आते हैं। इस तरह एक ही बिम्ब जब घ्राणिक, स्पार्शिक रासनिक, आंगिक इत्यादि अनेक प्रकार के संवेदना को सुगढ़ ढंग से अभिव्यंजित करता है तब हम उसे सहसंवेदनात्मक संश्लिष्ट बिम्ब कहते हैं। ऐसे बिम्ब के विधान में प्रवृत्त कवि के लिए मानवीकरण, संकोचन, विपर्यय, इत्यादि सुन्दर साधन सिद्ध होते हैं, क्योंकि इस कोटि के बिम्ब में अनेक प्रकार के संवेदना अथवा इन्द्रिय-बोधों के बीच किसी एक की प्रधानता रहती है और शेष संवेदन गौण रहकर उसके उपकारक होते हैं। कहा जाता है कि शैली और कीट्स के सहसंवेदनात्मक संश्लिष्ट बिम्बों में क्रमशः गति तथा स्पर्श की प्रधानता रहती है एवं अन्य संवेदन गौण रहकर इन्हें ही उपचित करते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि सहसंवेदनात्मक संश्लिष्ट बिम्ब अनेक संवेदनों के समन्वय होते हैं। इसी तथ्य से यह भी संकेतित होता है कि इस प्रकार के बिम्बों के विधायक कवि को विभिन्न प्रकार और स्तर के संवेदना के 'मूल राग' का पारखी बनना पड़ता है। इस मूल राग' के प्रति कलाकार या कवि का अलग अलग दृष्टिकोण होता है। इसलिए सहसंवेदनात्मक संश्लिष्ट बिम्ब विधान में कोई कवि बोध-विपर्यय (सेन्स ट्रान्सफरेन्स) से काम लेता है, तो कोई कवि बोध मिश्रण (सेन्स-फ्यूजन) से। समासतः, सहसंवेदनात्मक संश्लिष्ट बिम्ब विधान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें विभिन्न प्रकार के संवेगों और संवेदना का एक ऐसा सौहार्द्रपूर्ण सन्तुलन रहता है, जिसके अभाव में हम अपने आवेष्टन की सकुलता और उसके विचित्र ऐश्वर्य के साथ अपने अन्तःकरण का रागात्मक सम्बन्ध नहीं

स्थापित कर सकते।

तदनन्तर, समानुभूतिक बिम्बो ('इम्पैथिक इमेजेज') की बारी आती है। पाश्चात्य आलोचको ने समानुभूतिक बिम्बो का विवेचन 'थ्योरी ऑव इम्पैथी' के आधार पर किया है, *जिस सिद्धान्त का विश्लेषण हम सौन्दर्य सम्बन्धी अध्याय मे* कर चुके हैं। बिम्बो के सन्दर्भ मे विचारको ने 'समानुभूति' की वह व्याख्या स्वीकार की है, जो हेर्मान लोहसे ने 1858 ईस्वी मे उपस्थित की थी। इस व्याख्या के अनुसार समानुभूति वहाँ रहती है, जहाँ हम अपने अहम्, मन स्थिति, क्रिया-व्यापार, शरीरस्थ सचरण या अन्तर्वृत्ति का आरोप मानवेतर दृश्यजगत् पर करते हैं। इस तरह मानवीकरण से लेकर 'पैथेटिक फैलेसी' तक का क्षेत्र समानुभूतिक बिम्बो के अन्तर्गत पडता है। मूर्तिकला और चित्रकला-जैसी प्रतिरूपात्मक कलाओ (रिप्रेजेण्टेशनल आर्ट्स) मे समानुभूतिक बिम्बो की प्रधानता रहती है, क्योकि समानुभूतिक बिम्ब अधिकतर चाक्षुप प्रत्यक्ष से सम्बन्धित रहते हैं। जब गोचर प्रत्यक्ष से प्राप्त बाह्य जगत् के पदार्थो पर कलाकार अपनी आत्मसत्ता और अन्तर्वृत्ति का प्रक्षेपण कलात्मक ढग से करता है, तब समानुभूतिक बिम्बो की सृष्टि होती है। कई विचारको ने तो समानुभूति का यह अर्थ ही प्रतिपादित किया है कि इसमे द्रष्टा और दृश्य, विचारक और वस्तु अथवा आश्रय और आलम्बन भाव घन होकर एक हो जाते हैं। अत समानुभूतिक बिम्बो में हमे एक प्रकार का तादात्म्य चित्रण मिलता है, किन्तु ऐसा तादात्म्य-चित्रण जो सवेदनशील और इन्द्रियग्राह्य हो। साधारणत मानवीकरण, 'पैथेटिक फैलेसी' एव 'इमोशनल ह्यूमैनाइजेशन' के अन्य प्रयास मूर्त्त और चित्रात्मक अप्रस्तुत योजना धारण करने पर *समानुभूतिक बिम्बो के ही अन्तर्गत* आते है। जैसे—

> सामने शुक्र की छवि झलमल, तैरती परी सी जल मे कल,
> रुपहरे कचो मे हो ओझल।[1]

यहाँ शुक्र की छवि का परी के अप्रस्तुत से कुछ क्रिया-व्यापारो (जैसे—तैरना, ओझल होना) के सहारे सवेगात्मक मानवीकरण (इमोशनल ह्यूमैनाइजेशन) किया गया है। किन्तु, ऐसे स्थलो की अपेक्षा समानुभूतिक बिम्ब वहाँ अधिक उत्कृष्ट बन पाते है, जहाँ निबद्ध चित्र मे द्रष्टा और दृश्य का पारस्परिक विलयन अथवा तादात्म्य निरूपित रहता है। यो, सस्कृत काव्यशास्त्र के अनुसार अधिकाश समानुभूतिक बिम्ब रसाभास के अन्तर्गत आते है। मेरी दृष्टि मे समानुभूतिक बिम्बो की एक ऐसी विशिष्टता निर्धारित होनी चाहिए, जिससे ये बिम्ब मानवीकरण, हेत्वाभास या रसाभास से कुछ पृथक् अपना व्यक्तित्व रख सकें। अत समानुभूति की शरीरस्थ सचरणवाली विशेषता को यहाँ भी मान्यता मिलनी चाहिए। अर्थात्

1 आधुनिक कवि, सुमित्रानन्दन पन्त, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, 2012, पृ. 57।

समानुभूतिक बिम्ब मे मानवेतर प्रस्तुत पर मानवसदृश अग-सचालन, अग-सस्थानो के सकोच-विकोच, मासपेशियो की गति और तनाव तथा अन्य मानव-सदृश शारीरिक क्रिया-व्यापारो का आरोप रहता है। जैसे, इक़बाल ने जहाँ हिमालय की अमेय ऊँचाई को चित्रात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए यह लिखा है—

ए हिमाला, ए फसीले किश्वरे-हिन्दोस्तां !
चूमता है तेरी पेशानी को झुक कर आसमां !

वहाँ हम समानुभूतिक बिम्ब मानेंगे, क्योकि इसमे 'पेशानी', 'चूमने' और 'झुकने' के माध्यम से मानववत् अग-सचालन, सास्थानिक सकोच-विकोच और शारीरिक क्रिया-व्यापार का सकेत किया गया है। इसी तरह निराला ने भी 'राम की शक्ति-पूजा' शीर्षक कविता मे एक सफल समानुभूतिक बिम्ब प्रस्तुत किया है—

है अमानिशा, उगलता गगन घन अन्धकार,
खो रहा दिशा का ज्ञान, स्तब्ध है पवन चार,
अप्रतिहत गरज रहा पीछे, अम्बुधि विशाल,
भूधर ज्यों ध्यानमग्न, केवल जलती मशाल।[1]

उपर्युक्त उद्धरणो से स्पष्ट है कि समानुभूतिक बिम्ब एक ऐसी काल्पनिक प्रक्रिया से निष्पन्न होते हैं, जो निबद्ध प्रस्तुत मे हमारे 'सदृश' शारीरस्थ सचरण से प्रारम्भ होती है, किन्तु, जिसकी परिसमाप्ति, प्रभाव की दृष्टि से, हमारे 'तदनुकूल' मन-प्रदेश के स्पन्दनो मे होती है: इस तरह समानुभूतिक बिम्बो का कुछ-न-कुछ सम्बन्ध उस ऐन्द्रिय कल्पना से अनिवार्यरूपेण रहता है, जो हमारी मासपेशियो, चेतातन्तुओ अथवा आगिक प्रक्रियाओ से किसी न किसी रूप मे सम्बद्ध रहती है।

इसी तरह बिम्बो के और भी भेद या प्रकार निर्धारित किये जा सकते हैं,[2] किन्तु, हमे यह स्वीकार करना पडता है कि अद्यावधि कला-विचारको ने बिम्बो के प्रकार की कोई सुनिश्चित सारिणी निरूपित नही की है और न उनके विभाजन का कोई सर्ववादिसम्मत मानदण्ड निर्णीत किया है। बिम्बो के प्रकार-निर्धारण के नाम पर अधिकाश विचारक अब तक कुछ सुन्दर विशेषणो की सृष्टिमात्र करते रहे हैं।

हिन्दी आलोचको के बीच आचार्य शुक्ल ने बिम्बो के तात्त्विक विवेचन का कुछ शास्त्रीय प्रयास किया है। किन्तु, शुक्लजी ने यह तात्त्विक विवेचन केवल काव्य को ही (सभी ललितकलाओ को नही) दृष्टि मे रखकर किया है। इनके

1 अनामिका, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, भारती भण्डार, इलाहाबाद, सवत् 2005, पृ 150।
2 द्रष्टव्य—पोयेटिक इमेजरी, हेनरी, डब्ल्यू वेल्स, कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस 1924। इसी तरह दीप्ति और सापर्गोई के आधार पर 'द ह्यू मैनिटीज़' के लेखको ने बिम्बों के अनेक प्रकार निरूपित किये हैं। द्रष्टव्य – द ह्यू मैनिटीज़, लॉय लुई ड्ह्ले एण्ड ऑस्टिन फ़ैरिमी, मैक्ग्रो हिल, बुक कम्पनी, न्यूयार्क एण्ड लन्दन, 1940।

स्मृति से अनुशासित नहीं रहता है। जब वस्तु-व्यापार-विधान स्मृति में अनुशासित रहकर अतीत का यथाक्रम अनुवर्तन करता है, तब उसे स्मृत रूपविधान कहते हैं। यहाँ यह स्मरण-योग्य है कि शेष दो रूपविधान प्रत्यक्ष रूप-विधान पर ही, कुछ-न-कुछ अंशों में, आश्रित रहते हैं। आ. शुक्लजी ने केवल कल्पित रूप-विधान को ही विशुद्ध कल्पना का क्षेत्र माना है और इसी के अन्तर्गत काव्य के सम्पूर्ण रूप-विधान को स्वीकार किया है।

निष्कर्ष यह है कि हिन्दी आलोचना में अब तक बिम्बों का तात्त्विक विवेचन, वांछित मात्रा में नहीं हो सका है। और, जो विवेचन हुआ है, वह केवल काव्य को दृष्टि में रखकर, जबकि सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से काव्येतर ललितकलाओं को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। समग्र ललितकलाओं की दृष्टि से बिम्बों का प्रकार-निर्धारण ज्ञानेन्द्रियों अथवा ऐन्द्रिय प्रतीतियों के ही आधार पर होना चाहिए। अत. प्रस्तुत प्रबन्ध के द्वितीय खण्ड (छायावाद का कला-सौष्ठव) के चतुर्थ अध्याय में इसी आधार को प्रधानता दी जायेगी, किन्तु, छायावादी कविता को विशेष सन्दर्भ में रखने के कारण बिम्बों के उन उपर्युक्त प्रकारों को भी विश्लेषित और उदाहृत किया जायेगा, जो अन्य ललितकलाओं को छोड़कर मुख्यत काव्य की ही दृष्टि से निरूपित किये गये हैं, क्योंकि ऐसा करने पर ही बिम्बविधान का सर्वांगीण विवेचन सम्भव हो सकेगा।

इस अध्याय में उपस्थित किये गये उपर्युक्त विचारों का सारांश इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है--

1 काव्य एवं काव्येतर ललितकला के प्रमुख तत्त्वों में बिम्ब-विधान का असन्दिग्ध महत्त्व है, क्योंकि कवि की सूक्ष्म भावनाओं या अमूर्त्त सहजानुभूतियों को बिम्बों के द्वारा ही मूर्त्तता अथवा अभिव्यक्ति की चारुता मिल पाती है।

2 बिम्बों का आविर्भाव कल्पना से होता है और कभी-कभी प्रतीकों का आविर्भाव बिम्बों से। जब कल्पना मूर्त्त रूप धारण करती है, तब बिम्बों की सृष्टि होती है और जब बिम्ब प्रतिमित या व्युत्पन्न अथवा प्रयोग के पौन पुन्य से किसी निश्चित अर्थ में निर्धारित हो जाते हैं, तब वे प्रतीकों का रूप ग्रहण कर लेते हैं।

3 बिम्बों का विचार-चित्र, उपमा और रूपक से पृथक् एक स्वतन्त्र अस्तित्व है।

4 बिम्ब विधान में मूर्त्तता, सादृश्य और ऐन्द्रिय बोध की अनिवार्य उपस्थिति रहती है। जो बिम्ब जितना ही ऐन्द्रिय रहता है, वह उतना ही सशक्त होता है।

5 उत्कृष्ट बिम्ब कवि या कलाकार के घनीभूत संवेगों से संश्लिष्ट रहता है, क्योंकि जो बिम्ब स्रष्टा की चित्तानुकूलता से आश्लिष्ट नहीं हो पाता, वह चित्रात्मक होने पर भी जीर्ण बिम्बों की तरह अरसनीय सिद्ध होता है।

6 बिम्ब-विधान के समय कल्पना बहुत कार्यरत रहती है। पहले कल्पना

स्मृति के क्रोड मे सोये हुए विम्बो को प्रत्यक्षोपलब्ध अनुभूतियो के स्पर्श से जगाती है और तब उन बिम्बो को अभीप्सित शिल्प के साँचे मे ढालती है। अत. विम्ब एक प्रकार का स्मरण-निर्भर मानसिक पुनर्निर्माण है।

7. बिम्बो के सृजन तथा भावन पर व्यक्ति-भेद, अत', रुचि-भेद का प्रभाव पडता है।

8. सामूहिक अवचेतन से सम्बद्ध बिम्ब सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं, क्योकि इनमे आशुग्राह्यता का गुण रहता है।

9. वस्तु-विशेष के प्रति ऐन्द्रिय आकर्षण कलाकार को बिम्ब-विधान की ओर प्रेरित करता है। हालाँकि बिम्ब-विधान के समय कलाकार के समक्ष केवल वस्तु-बोध ही नही रहता, बल्कि विभिन्न प्रकार के आसगो, सवेदनो अथवा प्रभावो का सातत्य भी रहता है। इस तरह कला-जगत् के बिम्ब इन्द्रिय-सन्निकर्ष मे आयी हुई वस्तुमात्र को नही, वस्तु के विशेष और विविध भाव-सम्बन्धो को भी मूर्त्तमान करते हैं।

10. समर्थ बिम्बो मे, प्राय, ये तीन गुण विद्यमान रहते हैं—ताजगी, तीव्र घनता और उद्बोधनशीलता।

11. जिन विचारको ने अन्य ललितकलाओ को छोडकर केवल काव्य की दृष्टि से बिम्बों का विवेचन किया है, उन्होने बिम्ब को मात्र शब्दाश्रित माना है। किन्तु, बिम्बो को केवल शब्दाश्रित मान लेने से काव्येतर ललितकलाओ का पक्ष छूट जाता है। अत समग्र ललितकलाओ की दृष्टि से बिम्बो को सौन्दर्य-बोध पर आश्रित मानना अधिक समीचीन है और बिम्बो का वर्गीकरण या विभाजन इन्द्रिय-बोध के आधार पर करना अधिक युक्तिसगत है।

प्रतीक

प्रतीक

प्रतीक और प्रतीकवाद पर सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण के अलावा दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक समाजशास्त्रीय आदि विभिन्न दृष्टियों से विचार किया गया है। प्रतीकवाद पर दार्शनिक दृष्टि से विचार करनेवालों में ए एन ह्वाइटहेड, एर्न्स्ट कासिरेर[1] प्रभृति का विशिष्ट स्थान है।[2] ह्वाइटहेड ने प्रतीक के उस व्यापक अर्थ की चर्चा की है जिसके अन्तर्गत शब्द, मुद्रा, भाषा एव सम्पूर्ण वाङ्मय प्रतीक के

1 एर्न्स्ट कासिरर ने बहुत ही व्यापक और विद्वत्तापूर्ण ढग से प्रतीकों का दार्शनिक विवेचन किया है। कासिरेर के बाद आनेवाले आधुनिक युग के विचारक इनकी मान्यताओं से बहुत प्रभावित दीख पड़ते हैं और कासिरेर स्वय प्रतीक सम्बन्धी अपनी मान्यताओं को प्रस्तुत करने में काण्ट-दर्शन के 'schema' से बहुत प्रभावित हैं। इनके अनुसार 'schema विभावन (concept) और सहज ज्ञान (Intuition) का समीकरण है। कासिरेर की प्रतीक विधान सम्बन्धी धारणा उनके स्केमा सिद्धान्त का ही विवर्द्धन है यद्यपि कहीं-कहीं कासिरेर ने काण्ट की कुछ मान्यताओं का आंशिक विरोध भी किया है। जैसे काण्ट का मत है कि मानव-बुद्धि के लिए बिम्बों की निरन्तर अनिवार्यता है जबकि कासिरेर के मत म मानव बुद्धि के लिए प्रतीकों की निरन्तर अनिवार्यता है। कुछ विचारकों का कहना है कि ऐसे स्थलों पर कासिरेर एडवान्स्ड मॉडर्न मैथमेटिक्स' से प्रभावित हैं जिसका गम्भीर अध्ययन उन्होंने प्रारम्भिक जीवन में किया था। तदनन्तर कासिरेर के अनुसार बिम्ब और प्रतीक में एक निश्चित पार्थक्य रहता है और ये दोनों मानव-ज्ञान के लिए अत्यावश्यक हैं। इन दोनों म प्रमुख पार्थक्य यह है कि बिम्ब स्वत सम्भवी होते हैं जबकि प्रतीकों का निर्माण करना पड़ता है। किन्तु कासिरेर यह स्वीकार करते हैं कि बिम्बों से ही प्रतीक का निर्माण किया जाता है और इस निर्माण में बुद्धि कर्ता के पद पर रहती है। इस प्रकार कासिरेर ने भी प्रतीक विधान में बुद्धि और ऐन्द्रियता (बिम्ब का प्रमुख धर्म) के उस समागम को स्वीकार किया है जो काण्ट के 'स्केमा' विवेचन का प्रस्थान बिन्दु है।—*Ernst Cassirer*, The Philosophy of Symbolic Forms, translated by *Ralph Manheim*, New Haven, London 1953, p 69

2 *A N Whitehead* Symbolism Its Meaning and Effect, University Press, Cambridge, 1928

मे लैंगर ने 'धारणा' को बहुत महत्त्व दिया है। इनके अनुसार प्रतीक, वस्तुत, धारणाओ के वातायन हुआ करते हैं। इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए लैंगर ने दो महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं, जिन्हें उन्ही के शब्दो मे उपस्थित करना अधिक समीचीन होगा 1 "सिम्बल्स आर नाट प्रॉक्सी फॉर देयर आब्जेक्ट्स, बट आर वेहिक्ल्स फॉर द कन्सेप्शन आव ऑब्जेक्ट्स।" 2 "इट इज द कन्सेप्शन, नाट द थिंग्स, दैट सिम्बल्स डाइरेक्टली 'मीन' "। इस प्रकार लैंगर की दृष्टि से हम प्रतीको को 'कन्सेप्चुअल साइन'[1] कह सकते हैं। तदनन्तर, लैंगर की दूसरी मान्यता यह है कि प्रतीक सृजन मे मनुष्य का मस्तिष्क केवल 'ट्रान्समीटर' का ही काम नही करता, बल्कि वह एक महान् 'ट्रान्सफार्मर' का भी काम करता है। मस्तिष्क की इस नियमाणता के कारण हम प्रतीक सृजन को बुद्धि का व्यापार भी कह सकते हैं। लैंगर की तीसरी मान्यता यह है कि अपनी अनुभूतियो को प्रतीकों मे बाँधना मनुष्य का स्वभाव है। इन्होंने मनुष्य की इस स्वाभ विक प्रवृत्ति को 'सिम्बॉलिक ट्रान्सफार्मेशन' कहा है, जो एक प्रकार की प्रत्ययंता (लैंगर के शब्दा मे 'हाइयर नर्वस रेस्पॉन्स') है। इनकी उक्त मान्यताओ का निष्कर्ष यह है कि प्रतीक-सृष्टि मनुष्य की चिन्तनप्रणाली और क्रिया का एक आवश्यक अग है।[2] अन्य प्राणियो की तुलना मे मनुष्य की कुछ श्रेष्ठ पृथकताओ अर्थात् विशिष्ट गुणो के बीच प्रतीक-सृजन की क्षमता प्रमुख है। इसीलिए एर्न्स्ट कासिरेर ने मनुष्य को 'animal rationale' की अपेक्षा 'animal symbolicum' कहना अधिक उचित समझा है।[3] इस तरह प्रतीक सृष्टि मनुष्य की अनिवार्य विशिष्टता है, क्योकि मानव-मन, प्राय अपनी अनुभूतियो को प्रतीका मे अनूदित करता रहता है।

इन दार्शनिक निरूपण की तरह ही कुछ विद्वानो ने प्रतीको पर समाजशास्त्रीय दृष्टि से भी विचार करने का प्रयास किया है। इस श्रेणी के विचारको मे जॉन एफ. मर्क का विशिष्ट स्थान है। मर्क के अनुसार अब तक प्रतीको पर जितने

1 हीगेल ने भी 'साइन' के साथ प्रतीक का घनिष्ठ सम्बन्ध माना है। इनकी दृष्टि मे प्रत्येक प्रतीक पहले एक प्रकार का 'साइन' होता है। उदाहरणार्थ, किसी राष्ट्र या सस्था की ध्वजा में प्रयुक्त रग को हम इसी प्रकार का 'साइन' कह सकते हैं। कभी-कभी अपने आन्तरिक गुणों के कारण भी कोई साइन विकसित होकर किसी निश्चित भाव का प्रतीक बन जाता है। जैसे अपने आन्तरिक गुणा के कारण हो सिंह और सियार, क्रमश, शक्ति तथा छल के प्रतीक बन गये हैं। इस तरह प्रतीको को साइन का विकसित रूप मान लेने के कारण हीगेल ने कई स्थलों पर प्रतीक का 'emblematical conception' कहा है।—*Hegel*, The Philosophy of Fine Art, translated by *Osmaston*, Volume II, London, 1920, p 22

2 *Susanne K Langer*, Philosophy in a New Key, p 32

3 Symbolism and American Literature, *Charles Feidelson*, Phoenix Books, 1962, p 55

दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक अथवा सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन किये गये हैं, वे सभी अपूर्ण हैं, क्योंकि प्रतीकों का अध्ययन तभी सन्तोषजनक हो सकता है, जब उन पर समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विचार किया जाय। इस पूर्वमान्यता को प्रस्तुत करने के बाद मर्के ने प्रतीक-प्रक्रिया के दो प्रकार स्थापित किये हैं। एक प्रकार वह है, जिसमे प्रतीक नन्दतिक चेतना जगाकर हमारे संवेगो के लिए उद्दीपन का काम करता है और दूसरा प्रकार वह है, जिसमे प्रतीक निर्वैयक्तिक होकर प्राविधिक कामों म प्रयुक्त होता है।[1] इन दोनो प्रक्रियाओ से उपेत प्रतीक, समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के विचारकों के अनुसार, सभ्यता और संस्कृति की अनेकरूपता तथा संकुलता के परिचायक हुआ करते हैं। विशेषकर कला के प्रतीक, जो वैज्ञानिक प्रतीकों की तरह निर्देशकस्वरूप नही होते बल्कि प्रयोक्ता और सहृदय के मनोरागो से रंजित रहते है, सांस्कृतिक और सामाजिक विकास के भिन्न भिन्न स्तरो का प्रतिनिधित्व करते हैं। विकसित स्तर के प्रतीको मे मानव-मनोवेगो को प्रकट करने का एक विचित्र अभिव्यक्ति लाघव रहता है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से मनुष्य के मौलिक और तीव्र मनोवेगा म भूख और काम मूर्द्धन्य महत्त्व रखते हैं। अत हम कला के प्रतीको पर भी इनका प्रचुर प्रभाव पाते हैं। इतना ही नही, भूख और काम से सम्बन्धित प्रतीक कला के क्षेत्र से बाहर मनुष्य के अन्य आहार-व्यवहार और रीति-रिवाजो पर भी हावी हैं। जैसे, धार्मिक अवसरो पर यौन प्रतीक की मिठाइयाँ और पकवान खाने की प्रथा सभी देशो मे है। इस प्रकार हम देखते हैं कि समाजशास्त्रीय दृष्टि के अनुसार रूढ रीति-रिवाज से लेकर भाषा-सृष्टि तक मे मनुष्य प्रतीको का अधमर्ण है। साराश यह है कि समाज और संस्कृति के साथ प्रतीकों का निकटतम सम्बन्ध है। संस्कृति को विकास, परिमार्जन और विस्तृति प्रदान करनेवाली अपनी दो विशेषताओ— बोधगम्य प्रतीको का निर्माण तथा शब्द शक्ति द्वारा इन प्रतीको का प्रसार—के कारण ही मनुष्य अन्य जीवधारियो की तुलना म श्रेष्ठ है। इस तरह गणित से लेकर काव्य और धर्म-पूजा तक के विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रो मे यदि मनुष्य के पास प्रतीक सृजन और उनके अर्थग्रहण की शक्ति नही रहती, तो आज मानव संस्कृति अविकसित ही रह गयी होती। अत संस्कृति की इस हेतुभूत निकटता ने भी प्रतीको को व्यापक क्षेत्र प्रदान किया है।[2] किन्तु, हम यहाँ प्रतीक के सम्बन्ध मे निरूपित समाजशास्त्रीय दृष्टिकोणो पर अधिक विस्तार मे विचार नही करेंगे, कारण, कला-तत्त्व विवेचन के प्रसंग मे हमारे लिए उसका कोई विशेष उपयोग नही है।

प्रतीकों पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत विस्तृत विचार किया गया है। और,

1 *John F Markey*, The Symbolic Pro ess London 1928, p 155
2, श्यामाचरण दुबे मानव और संस्कृति, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, 1960 पृ 75।

जब से मनोविश्लेषण के सिद्धान्तो के आधार पर कला की आलोचना का प्रचार हुआ है, तब से प्रतीको का मनोवैज्ञानिक निरूपण कला-जगत् मे भी आशिक दृष्टि से उपयोगी बन गया है। अत. प्रतीको के मनोवैज्ञानिक निरूपण पर प्रसगानुसार विचार कर लेना हमारे लिए आवश्यक है। प्रतीको का मनोवैज्ञानिक निरूपण करनेवाले विचारको मे **फ्रायड, एड्लर, युग, अर्नेस्ट जोन्स, मिलर, सिल्वरर, पद्मा अग्रवाल**[1] इत्यादि प्रमुख है। इन मनोवैज्ञानिको ने भी चिह्न, प्रतीक और रूपक के अर्थ-भेद को ध्यान मे रखा है। सादृश्य-व्यजक सक्षिप्त कथन मे प्राय 'चिह्न' का प्रयोग होता है। जहाँ अपेक्षाकृत कम परिचित अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यजना होती है, वहाँ प्रतीक का अवतरण होता है और जहाँ अप्रस्तुत म प्रस्तुत का ऐच्छिक आरोप या रूपान्तरण रहता है, वहाँ रूपक की सृष्टि होती है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि सामान्य व्यवहार मे आनेवाले प्रतीक, कला के प्रतीक, और मनोविज्ञान के प्रतीक मे पर्याप्त अन्तर है। मनोविज्ञान, विशेषकर, मनोविश्लेषण के अनुसार प्रतीको की यह एक अनिवार्य विशिष्टता है कि वे अचेतन मन की दमित इच्छाओ की छद्म अभिव्यक्ति करते है और स्वभावत शृगारमूलक होते हैं। **अर्नेस्ट जोन्स** ने भी **पेपर्स ऑन साइकोएनालिसिस** मे प्रतीको की इस विशिष्टता पर बहुत बल दिया है।[2] यदि हम प्रमुख मनोवैज्ञानिको की मान्यताओ पर समवेत दृष्टि से विचार करें, तो कुल मिलाकर मनोविज्ञान की दृष्टि से प्रतीको की ये मुख्य विशेषताएँ सामने आती हैं —

1 प्रतीक अवचेतन मन मे पडी हुई इच्छाओ, कुण्ठाओ और दमित वासनाओ की छद्म अभिव्यक्ति करते हैं।

2. प्रतीको की इस छद्म अभिव्यक्ति मे व्यर्थ, बिखरी हुई और अनर्गल बातें ही नही रहती, बल्कि उनका विश्लेषण करने पर निश्चित धारणाओ और निश्चित विचारो का पता चलता है।

3 प्रतीक घुणाक्षर न्याय से अथवा जैसे-तैसे नही बन जाते, बल्कि मनुष्य की वैयक्तिक परिस्थितियो से अनिवार्य सम्बन्ध रखते हैं।

4 प्रतीक कभी भी आसगमुक्त नही होते और सदा विभिन्न प्रकार के आसगो तथा सवेग-सन्दर्भ से सश्लिष्ट रहते हैं।

5 उपर्युक्त विशेषताओ के कारण ही सभी देशो और जातियो की पौराणिक कथाओ, सस्कृति तथा धर्म के निदर्शनो मे इन प्रतीको का प्रचुर महत्त्व रहता है।

1 *Dr Padma Agrawal*, Symbolism A Psychological Study, Banaras Hindu University, 1955.

2. प्रतीक विधान म जोन्स के अनुसार तीन प्रकार के मानसिक तत्त्व रहते हैं . क अचेतन ग्रन्थियाँ, ख. अचेतन मन की इच्छाओं को दमित करनेवाले बाह्य प्रभाव, अवरोध या अधीक्षण और ग. व्यक्ति की उन्मेषपूर्ण प्रवृत्तियाँ।

मनोवैज्ञानिको के बीच फ्रायड ने स्वप्न-प्रतीकों पर विस्तृत विचार किया है,[1] क्योंकि स्वप्न-प्रतीक व्यक्ति की दमित इच्छाओ, कुण्ठाओ और उसके अन्तर्मन के गुप्त रहस्यों का बहुत ही व्यजक सकेत प्रस्तुत करते हैं। ये प्रतीक वस्तु-विपर्यय और यौन भावनाओ से, प्राय , सश्लिष्ट रहते हैं। इसलिए फ्रायड प्रतीक मे काम-वासना (लिबिडो) की उपस्थिति अनिवार्य मानते हैं।[2] अर्थात्, इनके अनुसार प्रतीक यौन कुण्ठाओ से उत्थित होते हैं, जबकि दूसरे निकाय के मनोवैज्ञानिकों के अनुसार प्रतीक-विधान मे यौन-भावना को इस तरह ऐकान्तिक महत्त्व देना भूल है, क्योंकि यौन वासना के अलावा मनुष्य के पास और प्रकार की भी क्षुधाएँ, इच्छाएँ, आकाक्षाएँ और वासनाएँ विद्यमान हैं।[3] स्वप्न-प्रतीको के उद्भव के विषय मे फ्रायड का कहना है कि प्राक्-चेतन के भय से वासनाएँ केवल दमित ही नही होती, बल्कि वे वासनाएँ जब स्वप्न मे उद्वित होती हैं, तब भी उन्हें प्राक्-चेतन के अधीक्षण का भय बना रहता है। इसलिए वे वासनाएँ स्वप्नो में भी आसानी से अभिज्ञेय नही रहती, क्योंकि अवचेतन से निकलते समय वे अधीक्षण के भय से प्रतीको के सहारे छद्मवेष धारण कर लेती है। ये स्वप्न-प्रतीक, अर्थात् छद्मवेषी सपनो के प्रतीक प्राय· द्वयर्थक हुआ करते है और मूलत यौन अर्थ रखते है।[4] इसलिए इन प्रतीका को समझने के लिए स्वप्न-तन्त्र का विश्लेषण करना पडता है। इस विश्लेषण के आश्रय की इसलिए आवश्यकता होती है कि प्राक्-चेतन के अधीक्षण के भय से जब दमित वासनाएँ स्वप्न मे निकास पाती हैं, तब उन्हे स्वप्न देखनेवाले व्यक्ति के 'सेल्फ' के अनुरूप स्वरूप ग्रहण करना पडता है। स्वप्न मे अभिव्यक्त दमित वासनाओ को 'सेल्फ' का आनुरूप्य देना भी उसी प्राक्-चेतन का काम है, जिसका कार्यक्षेत्र चेतन और अवचेतन के मध्य मे अवस्थित है। इस प्रकार मूल वासना, अधीक्षण का भय और कुण्ठा —इन सबो के मिल जाने मे छद्मवेषी स्वप्नो के प्रतीक बहुत ही अर्थ-गूढ हो जाते हैं।[5] अत इन प्रतीको का

1. फ्रायड के स्वप्न सिद्धान्त के विश्लेषण मे इन स्वप्न प्रतीको की गणना कुछ विद्वानो ने 'Building Material' में की है। द्रष्टव्य—*Joseph Jastrow*, Freud His Dream and Sex Theories, N Y 1948, pp 47, 65.
2 दूसरे मनोवैज्ञानिको, यथा युग ने प्रतीकों में सर्वत्र काम को ही प्रधान नही माना है। इन्होने ऐसे काममूलक प्रतीको को एक अलग कोटि मे रखा है जिन्हें इन्होंने 'लिबिडो सिम्बल' की आख्या दी है।
3 ऐसा दृष्टिकोण रखनेवाले मनोवैज्ञानिको मे युग प्रमुख हैं। हैडफील्ड ने फ्रायड और युग के इस दृष्टि-भेद को तुलनात्मक ढग से उपस्थित करने का सुदर प्रयास किया है। *J. A. Hadfield*, Dreams and Nightmares, Penguin Books, 1954, pp. 38-39, 53
4. *Sigmund Freud*, A General Introduction to Psycho-Analysis, New York, 1956, p 156
5. *J. A Hadfield*, Dreams and Nightmares, Penguin Books, 1954. p. 136.

गूढ़ अर्थ विस्थापन, घनीभवन इत्यादि की व्याख्या के द्वारा ही समझा जा सकता है। सामान्यत विस्थापन आरोप प्रधान होता है। इसमे अनुभूति के मूल आलम्बन पर किसी अधीक्षक (सेन्सर)-स्वीकृत अर्थात् समाज नीति स्वीकृत आलम्बन का आरोप कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए, कोई पुरुष सपने मे राधा की पूजा करके अथवा कोई स्त्री कृष्ण की पूजा करके अपनी दमित वासना को अभिव्यक्त कर सकती है। इस विस्थापन को हम प्रतीकान्तर्गत भावो का आलम्बन विपर्यय कह सकते हैं। इसी प्रकार स्वप्न प्रतीको के रहस्य की दूसरी कडी घनीभवन है। घनीभवन का मुख्य गुण सक्षिप्तता है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि मूल स्वप्न की अपेक्षा स्मृत स्वप्नो के प्रतीक अधिक उलझे हुए होते हैं। इसीलिए फ्रायड ने स्मृत स्वप्नो को विकृत स्थानापन्न माना है। वास्तविकता भी इसी मान्यता के समीप है। कारण, स्वप्न अवचेतन की सम्पत्ति है, किन्तु स्मृति के क्षणो म उस चेतन के क्षेत्र म आना पडता है और अधीक्षण का भय पुन उपस्थित हो जाता है। फलस्वरूप, अवचेतन स चतन तक सक्रमित होने मे स्मृत स्वप्न मूल स्वप्न की तुलना मे बहुत कुछ विकृत हो जाता है। अत काव्य एव अन्य कलाओ[1] मे मूलत ऐन्द्रिय और लौकिक स्वप्न प्रतीको का स्मृत होने के कारण इन्द्रियातीत सदृश बन जाना और अलौकिक सी भासमान अनुभूतया के कृत्रिम आलवाल से वेष्टित हो जाना स्वाभाविक एव सरल है। फ्रायडीय मनोविश्लेषण की शब्दावली मे हम कह सकते हैं कि कला निबद्ध स्वप्न प्रतीका म हमे व्यक्त स्वप्न-वस्तु मिलती है, किन्तु, उनके गुप्त स्वप्न विचार को जानने के लिए हम आसग व्याख्या का सहारा लेना पडता है। इस प्रकार स्मृत स्वप्न प्रतीको की ऐन्द्रिय लौकिक अनुभूतियो को न पकड पाने का एक कारण यह है कि इनका निर्माण अधिकतर स्थानापन्न मनोबिम्बो के द्वारा होता है और स्थानापन्न मनोबिम्बो की यह विशेषता होती है कि वे अन्योक्ति अथवा समासोक्ति की तरह किसी दूरवर्ती अप्रस्तुत को सरलतापूर्वक सकेतित कर देते हैं। निष्कर्ष यह है कि फ्रायड के अनुसार प्रतीक मन के गोपित रहस्यो का वहन करते हैं और दमित इच्छाओ या कुण्ठाओ स उत्थित होने के कारण मूलत शृंगारपरक होते हैं।[2]

1 द्रष्टव्य—(a) *Sigmund Freud*, Leonardo Da Vinci A Psychological study of an Infantile Reminiscence, translated by *A A Brill*, London, 1948 (b) *Erich Newmann*, Art and the Creative Unconscious London, 1959, (c) *W P Witcutt*, Blake A Psychological Study, London, 1946 (d) *Ella Freeman Sharpe*, Collected Papers on Psycho-Analysis, London, 195J

2 यहाँ यह ध्यातव्य है कि स्वप्न प्रतीक और कला अथवा साहित्य क प्रतीकों में पर्याप्त अन्तर रहता है। अत उन्हें हम समतुल्य नहीं मान सकते। *W Y Tindall* ने भी इन दोनों प्रकार के प्रतीको के पार्थक्य को बहुत सशक्त ढग से उपस्थित किया है—

जैसा ऊपर के विश्लेषण से स्पष्ट है, मनोवैज्ञानिको का एक निकाय यह मानता है कि प्रतीक-विधान के द्वारा सृजनशील व्यक्ति अपने चेतन और अचेतन मन तथा विषय प्रधान चित्त और विषयी प्रधान चित्त के विरल सघर्षों मे समझौता स्थापित करता है। अधिकतर, इस सघर्ष म अहम् (Ego) की विजय होती है और व्यक्ति की प्राथमिक इच्छाएँ दमित हो जाती हैं। कालक्रम मे ये ही दमित इच्छाएँ प्रतीको के माध्यम से व्यक्त होती हैं। यह प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति एक प्रकार से आत्मसुरक्षात्मक प्रयास है। अपने बचाव का उपाय है और एक ऐसी क्षतिपूरक क्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी दमित इच्छाओ को आशिक सन्तोष देकर भी *जीवन के आदर्शों से स्खलित नही हो पाता है।*

कला और सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से प्रतीक के सम्बन्ध मे युग की मान्यताएँ अन्य मनोवैज्ञानिको की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। युग ने प्रतीक विवेचन मे व्यक्ति के मन की दमित इच्छाओ के साथ मानव मन के जातीय शील-विचार को भी महत्त्व दिया है। यह जातीय शील विचार मानव मन के उन आदि भावो पर निर्भर रहता है, जो सामूहिक अचेतन के प्रतिरूप होते हैं। इस सामूहिक अचेतन[1] से उत्थित होनेवाले आद्यबिम्बो को युग ने 'आर्क टाइप' की आख्या दी है। यह 'आर्क टाइप'[2] जातीय विरासत के रूप में प्रत्येक व्यक्ति के मन मे विद्यमान रहता है और जीवन की आवर्त्तक अनुभूतियो से निर्मित होता है। किन्तु, युग के आलोचको का यह आरोप है कि उनके द्वारा प्रस्तुत 'आर्क टाइप' का निरूपण मनोवैज्ञानिक से अधिक 'मेटाफिजिक्ल' हो गया है, क्योकि उन्होने इसके उद्गम को सुनिर्णीत और वस्तुपरक ढग से नही बतलाया है।

युग के अनुसार मन के तीन खण्ड हैं—चेतन मन, व्यक्तिगत अचेतन मन और सामूहिक अचेतन मन। प्रतीको का सम्बन्ध अचेतन मन की दोनो अवस्थाओ—व्यक्तिगत अचेतन मन और सामूहिक अचेतन मन—से है। किन्तु अधिकाश प्रतीको का मूल सामूहिक अचेतन मन मे रहता है। मन के इस गहन खण्ड मे सुदीर्घ काल स चले आनेवाले परिवार, समूह तथा जाति से सम्बन्धित प्रभाव एव स्मृतियो के सग्रह रहते हैं, जो समय-समय पर चेतन मन की ओर अग्रसर होते

However analogous to dream symbol the literary symbol is not dream but art or an element in a work of art Belonging as much to the external *world as to the internal, the literary symbol, mediating* between them, follows not only the demands of the unconscious but social and aesthetic necessity "—*W Y Tindall*, The Literary Symbol, New York, 1955, p 168

1 Collective unconscious—'inherited potentialities of human imagination

2 Pre existent forms of apprehension

रहते हैं। अचेतन से चेतन की ओर होनेवाले इसी अग्रसरण मे प्रतीको की सृष्टि होती है। युग ने 'कण्ट्रिब्यूशस टु एनलिटिकल साइकालॉजी' नामक पुस्तक के 'ऑन साइकिकल एनर्जी' शीर्षक अध्याय[1] मे प्रतीको पर अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किय हैं। इन्होंने भी एक विशेष प्रकार के प्रतीको को 'लिबिडो' से सम्बन्धित माना है। ऐसे प्रतीक लिबिडो' के अतिरेक स पैदा होते हैं।[2] तदनन्तर, युग ने प्रतीक-सृजन को एक सास्कृतिक प्रयास माना है। अर्थात्, प्रतीक 'लिबिडो' का प्राकृतिक प्रवाह नही, सास्कृतिक क्रियान्तरण है। जब मनुष्य 'लिबिडो' की स्वाभाविक गति और क्रिया को रोककर उसे किसी सास्कृतिक प्रयास म सलग्न कर देना है, तब प्रतीको की सृष्टि होती है। युग की दूसरी स्थापना यह है कि प्रतीक-सृष्टि कभी भी 'सुविचारित रमणीय' नही हुआ करती है।[3] अर्थात् मनुष्य जान-बूझकर या सचेष्ट होकर प्रतीको की सृष्टि नही करता है। मनुष्य का अचेतन ही आदिकाल से 'लिबिडो' का रूपान्तरण प्रतीको मे करता आ रहा है, जो एक प्रकार का 'ट्रान्सेण्डेण्ट फक्शन' है। इसीलिए युग ने प्रतीक को 'लिबिडो एनालोग' कहा है और कुछ विशेष प्रकार के प्रतीको का सहजज्ञान से भी सम्बन्ध माना है। युग की तीसरी मान्यता यह है कि सभ्यता की प्रगति के साथ वैयक्तिक प्रतीको (individual symbols) को बलात् दबाने की प्रवृत्ति बढती जा रही है। यह दूसरी बात है कि व्यापक सामाजिक पैमाने पर पुन. व्यक्तिवाद के अभ्युदय से भविष्य मे वैयक्तिक प्रतीको के नवीकरण और नवजागरण का प्रारम्भ हो जाय। अत हम सुसस्कृत काल की कलाओ मे अतिवैयक्तिक प्रतीको की जगह समाज स्वीकृत प्रतीको का प्रयोग पाते हैं।[4]

1 *C G Jung*, Contributions to Analytical Psychology, London, 1928
2 "Symbols are the man festations and expression of the excess libido" Ibid
3 "After a period of gestat on ... h..

4 युग के अनुसार उत्कृष्ट प्रतीक के लक्षण इस प्रकार है—' An effective symbol must have a nature that ... possible ... meaning ... remote ...

आद्यबिम्ब और सामूहिक अचेतन के जो भाव सामान्य व्यवहार की संपूर्ण भाषा या अभिव्यक्ति की स्वीकृत पद्धति म नही व्यक्त हो पाते हैं, वे प्रतीकों के माध्यम स ललित कहानियो, निजन्धरी कथाओ, पौराणिक आख्याना, स्वप्ना और ललितकलाओ म अभिव्यक्त होते हैं। यदि आद्यबिम्ब और सामूहिक अचेतन के भाव सामान्य व्यवहार की भाषा और प्रचलित अभिव्यक्ति-पद्धति म ही व्यक्त हो जाते, तो कला सृष्टि का कोई सास्कृतिक प्रयोजन ही शेष नही रहता; क्योंकि कलाओं के माध्यम स हम उन्ही भावा को व्यक्त करते हैं, जिनकी अभिव्यक्ति अन्यथा सम्भव नही है। और, यदि उनकी अन्यथा अभिव्यक्ति की भी जाय, तो वह अभिशसनीय नहीं होगी। अत ऐस आद्यबिम्ब और सामूहिक अचेतन के भाव सामान्य अभिव्यक्ति-पद्धति की सीमाओ को पार कर उन प्रतीकों के रूप मे व्यक्त होत है, जिनके लिए दृश्य और श्रव्य कलाएँ सर्वोत्तम अधिकरण बन सकती हैं।

फ्रायड और युग जैस प्रतिनिधि विचारको के अलावा कई अन्य (या गौण) मनोवैज्ञानिको ने भी प्रतीकवाद पर विचार किया है। सामान्यत मनोवैज्ञानिक यह मानत हैं कि प्रतीक निर्माण और प्रतीक की व्याख्या—दोनो म वैयक्तिक *चिन्तन-परिवेश की प्रधानता रहती है। एक ही प्रतीक को भिन्न भिन्न व्यक्ति* अथवा भिन्न भिन्न समुदाय अलग अर्थ मे गृहीत कर सकते हैं। इसीलिए डॉ पद्मा अग्रवाल ने भी प्रतीको की इस गतिशील अर्थवत्ता को बहुत महत्त्व दिया है।[1] किन्तु इस प्रसग म हम इतना स्वीकार करना पडता है कि मनोविज्ञान के प्रतीकों और कला के प्रतीकों म पर्याप्त अन्तर रहता है। किसी भी दृष्टि म कला के प्रतीका की नितान्त मनोवैज्ञानिक व्याख्या और मनोविज्ञान के प्रतीको की कलाशास्त्रीय व्याख्या उचित नही है। इसलिए प्रतीका के विश्लेषण के पूर्व हमे उनकी 'जाति या प्रकार' का निश्चय कर लेना चाहिए कि विवेच्य प्रतीक 'कलात्मक प्रतीक' है या मनोवैज्ञानिक प्रतीक' है। कलात्मक प्रतीका का निर्माण सामान्य जन द्वारा नही, कलाकारो के द्वारा होता है। कलाकार स्वानुभूति के जिन अशो को सामान्य अभिव्यक्ति के प्रचलित साधनो (शब्द, रेखा, ध्वनि, इत्यादि) के द्वारा नही व्यक्त कर पाता है, उन अशो की व्यजना या अभिव्यक्ति के लिए ही वह प्रतीका का सहारा लेता है। अर्थात् कलाकार स्वानुभूति के 'अकथनीय अशो को प्रतीक के द्वारा कथनीय और प्रेषणीय बनाता है।

इसी तरह मनोविज्ञान अथवा कला के प्रतीकों से धर्मक्षेत्र, उपासना जगत् या *विज्ञान के प्रतीक सर्वथा भिन्न होते हैं। उपासना के क्षेत्र मे उपास्य परब्रह्म के* चिह्न, पहचान, अवतार, अश या प्रतिनिधि के तौर पर आयी हुई नामरूपात्मक

1 " the symbol has a dynamic meaning and is never independent of individual conditioning factors "—*Dr Padma Agrawal*, Symbolism A Psychological Study, Banaras Hindu University, 1955, p 17.

वस्तु को प्रतीक कहते हैं। तिलकजी ने 'प्रतीक' शब्द के धात्वर्थ को बतलाते हुए उपासना के क्षेत्र में इसके आशय को बहुत अच्छी तरह स्पष्ट किया है—"प्रतीक (प्रति+इक) शब्द का धात्वर्थ यह है—'प्रति' अपनी ओर, 'इक' अर्थात् झुका हुआ। जब किसी वस्तु का कोई एक भाग पहले गोचर हो; और फिर आगे उस वस्तु का ज्ञान हो, तब उस भाग को प्रतीक कहते हैं। इस नियम के अनुसार सर्वव्यापी परमेश्वर का ज्ञान होने के लिए उसका कोई भी प्रत्यक्ष चिह्न, अंश रूपी विभूति या भाग 'प्रतीक' हो सकता है।[1] इस तरह ज्ञान-विज्ञान, साधना और साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में प्रतीक के भिन्न-भिन्न रूप तथा अर्थ होते हैं। प्रतीकों का क्षेत्र इतना व्यापक इसलिए है कि सभी प्रकार की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का प्रतीकों से सहज सम्बन्ध है। जब कोई अनुभूति गाढ़ और गूढ़ होती है, तब उसकी सम्पूर्णता या अन्योक्ति को व्यक्त करने के लिए आकांक्षी व्यक्ति को उसके तुल्यार्थ प्रतीकों का अन्वेषण करना पड़ता है। इस प्रकार संस्कृति और कला की सम्पूर्ण साधना प्रतीकों का अन्वेषण सिद्ध होती है।[2]

किन्तु कला-जगत् के प्रतीक और अन्य प्रतीकों—यथा, धर्म, दर्शन या विज्ञान के प्रतीकों में मुख्य अन्तर यह है कि धर्म, दर्शन अथवा विज्ञान के प्रतीक, प्राय, सर्वथा निर्धारित एवं मान्य अर्थ रखते हैं। इन क्षेत्रों में प्रयोक्ता प्रतीकों का प्रयोग उसी परिनिष्ठित अर्थ में करता है, जिसे पाठक या श्रोता उसी एतावत्व के साथ जानता है। अर्थात्, इन क्षेत्रों में प्रतीक के वास्तविक अभिप्राय और अर्थप्रतिपत्ति के सम्बन्ध में प्रयोक्ता और पाठक या श्रोता प्राय एकमत होते हैं। किन्तु, कला के प्रतीकों में प्रयोक्ता और पाठक, द्रष्टा या श्रोता के बीच किसी निर्धारित अर्थ के लिए ऐसा विश्वब्ध ऐकमत्य नहीं रहता है। कथ्य को अधिक स्पष्ट करने के लिए

1 लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य, अनुवादक, माधव रावजी सप्रे, तिलक मंदिर गायकवाड़ वाड़ा, पूना, 1955, पृ. 435।

2. 'कलाकार को एक अनुभूति होती है और उसके प्रकाशन के लिए वह ऐसे प्रतीकों की खोज करता है जो कुल मिलाकर दुबारा वही या उस-जैसी अनुभूति उदित कर सके। जब दूसरी अनुभूति पूर्वानुभूति के समान नहीं होती, तो वह पुनः अन्य प्रतीकों की खोज करता है। इस प्रकार उसका प्रतीकों का अन्वेषण चलता रहता है, जब तक कि वह पूर्वानुभूति के तुल्यार्थक प्रतीक न पा ले।" डॉ. देवराज, संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, प्रकाशन ब्यूरो, उत्तर प्रदेश, 1957, पृ. 222। सच पूछिए तो प्रतीक कलाकार के परिकल्पन और चिन्तन का वह पदार्थ-बोध है, जो मानव-जीवन के प्राथमिक मूल्यों का उद्योतन, कुछ-न-कुछ अंशों में, करता है। इसलिए धर्म भावना से अनुप्राणित विचारक प्रतीक को अभिमन्त्रित या सुसंस्कृत बिम्ब (consecreted image) कहा करते हैं। युंग ने ऐसे ही धर्मपरक प्रतीकों को 'आर्कटाइपल सिम्बल' कहा है। इस कोटि के कुछ प्रतीक धार्मिक विश्वासों से संश्लिष्ट होने के कारण परम्परागत या गतानुगतिक बन जाते हैं और पीढ़ी-दर-पीढ़ी जनमानस में संरक्षित रहते हैं।

हम निर्धारित अर्थवाले प्रतीकों के बीच अंकगणित और रसायन के प्रतीकों को उदाहरणार्थ देख सकते हैं, जिनका बोध्य विषय एकदम सुनिश्चित रहता है—

अंकगणित के कुछ प्रतीक

1. तीन तरह के कोष्ठ—( ) { }, [ ]
2. अंकगणित की क्रियाओं के प्रतीक— +, —, ×, —,
3. सिग्मा प्रतीक—Σ
4. गुणनखण्डक (फैक्टोरियल) प्रतीक—π अथवा γ अथवा !
5. समग्रक (इण्टेग्रल) प्रतीक ∫
6. डेल्टा प्रतीक—△ अर्थात् अन्तरसूचक प्रतीक
7. दो बदलते हुए परिणामों के सम्बन्ध सूचक प्रतीक—F

रसायन के कुछ प्रतीक

पदार्थ	प्रतीक
1 सोना…… ……	सूर्य ⊙
2. चाँदी…………	चन्द्रमा ☾
3. लोहा…………	मंगल ♂
4. हाइड्रोजन………	H
5. ऑक्सिजन………	O
6. नाइट्रोजन………	N
7. फासफोरस………	P[1]

कुछ विस्तार में जाने पर इन प्रतीकों में सुनिश्चित अर्थनिर्धारण का महत्त्व और भी प्रकट होता है। एक तो रसायन में डाल्टन के प्रतीकों को हटाकर बर्जिलियस के प्रतीकों की स्वीकृति इसका सूचक है। दूसरे, कुछ ऐसे पदार्थों के प्रतीक, जिनके संज्ञासूचक शब्दों के प्रथमाक्षर समान हैं, के अर्थ को निश्चित रखने तथा किसी भी भ्रम की गुंजाइश न रखने के लिए पदार्थ-विशेष के नाम के प्रथमाक्षर के साथ उसके दूसरे लक्षक अक्षर (कैरेक्टरस्टिक लेटर) को संलग्न कर दिया गया है। जैसे, केवल 'B' (ब) से प्रारम्भ होनेवाले पाँच पदार्थों के प्रतीक को देखा जा सकता है—

1. रसायन के प्रथम तीन प्रतीक डाल्टन के चलाये हुए प्रतीकों से लिये गये हैं, जो 1814 ई. में बर्जिलियस द्वारा चलाये गये वर्णिक प्रतीकों के बाद चलन से हटा दिये गये। उपर्युक्त उदाहरण के शेष चार प्रतीक बर्जिलियस के चलाये गये प्रतीक हैं। जॉन जैकब बर्जिलियस (1799-1848) स्टॉकहोम में रसायन के प्राध्यापक थे। रसायन में इनके प्रतीकों को सार्वभौम मान्यता मिल चुकी है।

पदार्थ	प्रतीक
1. Boron	B
2. Barium	Ba
3. Beryllium	Be
4 Bismuth	Bi
5 Bromine	Br

इतना ही नही, सुनिश्चित अर्थनिर्धारण की रक्षा के लिए रसायन के प्रतीको मे पदार्थ के परिमाण-बोध को भी निश्चित कर दिया गया है। उदाहरण के लिए, रसायन के प्रथम खण्ड के उद्धृत प्रतीको मे पाँचवाँ—O—ऑक्सिजन के केवल एक परमाणु का ही सकेत नही करता, बल्कि इसके परमाणु-भार का भी। उदाहरण के लिए, कुछ और परिमाण-सकेतक प्रतीक देखे जा सकते हैं—

$CaCO_3$··· अर्थात्, कैलिसयम कार्बोनेट का एक अणु, जिसमे कैलिसयम का एक परमाणु, कार्बन का एक परमाणु और ऑक्सिजन के तीन परमाणु हो।

$5NH_3$······अर्थात्, अमोनिया के ऐसे पाँच अणु, जिनमे से प्रत्येक मे नाइट्रोजन का एक परमाणु और हाइड्रोजन के तीन परमाणु विद्यमान हो।

इस प्रकार विज्ञान के प्रतीको मे हम केवल गुणात्मक नही, परिमाणात्मक अर्थ-निर्धारण भी पाते हैं। साराश यह है कि विज्ञान के प्रतीक एक निश्चित 'चिह्न-प्रणाली' (साइन-सिस्टम) पर चलते हैं, किन्तु कला के प्रतीको मे हमे ऐसे परिमाणात्मक अथवा गुणात्मक अर्थ निर्धारण और एतावत्व के बोध का कोई प्रयास नही मिलता है। बल्कि इसके विपरीत कला के प्रतीको की सम्भावनाओ और नमनीयता का पर्याप्त महत्त्व रहता है, कारण वे प्राय बुद्धिजन्य न होकर कल्पना-जन्य या कल्पनाजीवी होते हैं। इसलिए अधिकाश विचारक यह कहा करते हैं कि कला के प्रतीक भावोत्तेजक होते हैं और विज्ञान के प्रतीक विचारोत्तेजक या बौद्धिक होते हैं। दूसरी बात यह है कि कला के प्रतीको मे प्राय अर्थ-स्फीति होती रहती है, क्योकि ये प्रतीक केवल प्रयोक्ता ही नही, पाठक के भी कल्पनाबोध और उन्नत सवेदन से सापेक्षिक सम्बन्ध रखते हैं, जबकि इनमे प्रयोक्ता और पाठक के बीच निर्धारित अर्थ के लिए कोई विश्रब्ध ऐकमत्य नही रहता। फलस्वरूप, इन प्रतीको को समझने मे प्रयोक्ता और पाठक, श्रोता या द्रष्टा के बीच भ्रान्ति पैदा होने की सम्भावना बनी रहती है। किन्तु, इसके विपरीत विज्ञान प्रतीको के क्षेत्र मे नये अन्वेषणों के कारण पैदा होनेवाली भ्रान्ति की नगण्य सम्भावनाओं का भी निवारण करता रहता है। उदाहरणार्थ, 'आइसोटोप्स' के अन्वेषण के बाद परमाणु-भार की भिन्नता के आधार पर ऑक्सिजन के जब दो प्रकार सिद्ध हुए, तब शीघ्र ही उसके प्रतीक 'O' मे सशोधन लाया गया—O^{16} और O^{18}। अर्थ-निर्धारण और एतादृश एतावत्व के लिए हम कला के प्रतीक-विधान मे ऐसी सचेष्टता नही पाते हैं।

इसी तरह धर्म के प्रतीक भी कला के प्रतीक से भिन्न होते हैं। कारण, धर्म के प्रतीक भावुक संवेग से नहीं, विश्वास-भावना से वलयित होते हैं।[1] इसलिए धर्म का कोई प्रतीक तब तक प्रभाव नहीं पैदा करता है, जब तक उसके अनुकूल सहृदय अथवा भावक के पास विश्वास भावना न रहती हो। दूसरी बात यह है कि कला के प्रतीक जहाँ नन्दतिक रजकता की ओर उन्मुख रहते हैं, वहाँ धर्म के प्रतीक दर्शन के ऋणी होते हैं। इसलिए धर्म के प्रतीकों में चिन्तनतत्त्व प्रधान रहता है।[2] यों धर्म के प्रतीक भी एक स्तर पर आकर कला के प्रतीकों की तरह रमणीय बन जाते हैं। यह तब होता है, जब सहृदय इज्या अथवा पूजा-भाव को अपना स्वभाव सिद्ध गुण बनाकर उसे अपने चित्-अस्तित्व का अंश बना लेता है जैसे, हिन्दू धर्म के प्रतीकों में ॐ, शिव, प्रणव, नाद, बिन्दु, इत्यादि इस दृष्टि से विचारणीय महत्त्व रखते हैं। किन्तु धर्म के कुछ ऐसे भी प्रतीक होते हैं, जो सार्वजनीन न होकर संकीर्ण साम्प्रदायिक विश्वास पर निर्भर करते हैं जैसे—गणेश का मूषक (विघ्न का प्रतीक), शिव का त्रिशूल (त्रिगुणात्मिका शक्ति का प्रतीक)। सारांश यह है कि धर्म के क्षेत्र में भी वे ही प्रतीक अधिक सफल सिद्ध होते हैं, जिनमें कलागत प्रतीकों की तरह भावोद्बोधन की क्षमता रहती है। यही वह सामान्य भूमि है, जिसके चलते विज्ञान के कुछ प्रतीकों की तरह धर्म के प्रतीक भी काव्य के क्षेत्र में उपेक्षित नहीं रहते। यों, धर्म के प्रायः सभी श्रेष्ठ प्रतीक कला के वरेण्य प्रतीक रहते आये हैं। यहाँ इसे दुहरा देना उचित प्रतीत होता है कि विज्ञान के प्रतीक असंग, भूतात्मक और शुष्क विचारों के वाहक होते हैं अथवा किसी भावातीत प्रत्यय के निश्चित अर्थ-संकेतक होते हैं। अर्थात् विज्ञान के प्रतीक बाह्यधर्मी होते हैं, वे व्यंजित वस्तु को अन्तस्थ नहीं रखते, अतः ऊपर से चिपकाये हुए 'लेबैल' की तरह होते हैं, जबकि धर्म के प्रतीक समाज सापेक्ष, अध्यात्म प्रवण और नैतिक मूल्यों से भरेपूरे रहते हैं। हाँ, धर्म दर्शन का वह भाग, जो तन्त्रप्रधान अथवा योगमूलक रहता है या जिसमें साधना कौशल न रहकर विज्ञान बन जाती है, निश्चय ही कुछ वैसे प्रतीकों से काम लेता है, जो विज्ञान के प्रतीकों की तरह निश्चित अर्थ-संकेतक और चिह्न-प्रधान होते हैं।[3] जैसे—

1 उदाहरण के लिए भारतीय धर्म और पुराणों में कमल का प्रतीक और विभिन्न प्रसंगों में उसके अनेक अर्थ, जो प्रधानतः विश्वास भावना पर निर्भर हैं। विस्तार के लिए द्रष्टव्य—Myths and Symbols in Indian Art and Civilization by *Heinrich Jimmer*, New York, 1953, pp 90-102

2 धार्मिक और आस्तिक दृष्टिवाले विद्वान प्रतीक के दो मुख्य भेद मानते हैं—नित्य और कल्पित। पुनः नित्य प्रतीक के भेदोपभेदों को उपस्थित करते हुए वे चिह्न प्रतीक, रंग प्रतीक, पदार्थ प्रतीक, प्राणि प्रतीक, पुष्प प्रतीक, शस्त्र प्रतीक, वाद्य प्रतीक, वृक्ष प्रतीक, वेश प्रतीक से संकेत प्रतीक (मुद्राएँ) तक पहुँच जाते हैं। आपाततः यह विभाजन आकर्षक प्रतीत होता है किन्तु इस विभाजन में कोई सैद्धान्तिक पूर्णता नहीं है, क्योंकि इस सूची में और भी अनेक नाम जोड़े जा सकते हैं। तदनन्तर, दूसरी दृष्टि से भी कुछ विचारक प्रतीकों का कोटि भेद निर्धारित करते हैं जैसे—अक्षरात्मक प्रतीक, संकेतात्मक प्रतीक, रूपकात्मक प्रतीक, कथात्मक प्रतीक और संख्यात्मक प्रतीक। स्पष्टतः इस कोटि-निर्धारण में कोई नन्दतिक दृष्टिकोण प्रधान नहीं है और यह मूलतः सन्त साहित्य को दृष्टि में रखकर किया गया विभाजन है।

3 डॉ जनार्दन मिश्र, भारतीय प्रतीक विद्या, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, 1959, पृ. 466।

चक्र	प्रतीक	भाव या सिद्धि का फल
1—मूलाधार		नित्यानन्द - परम्परा, पीयूष-धारा
2—स्वाधिष्ठान		अहकार मोहादि नाश
3— मणिपूर	卐 卐 卐	शक्ति-चेतना, ज्ञान-सन्दोह
4—अनाहत		शक्ति-चालन, परकाय प्रवेश, काव्याम्बुधारा
5—विशुद्ध		वाग्मी, ज्ञानी, शास्त्रवेत्ता, त्रिकालदर्शी
6—आज्ञा		विष्णु-स्थान, वाक्सिद्धि
7—सहस्रार		सुधाधारासार, नित्यस्थान, परम-पुरुषस्थान, हरिहरपद, देवीपद, अमरप्रकृति-पुरुष स्थान, नित्यानन्द पद, निर्वाण कला, ब्रह्मपद, शून्यपद, इत्यादि।

शून्य

पाश्चात्य साहित्य मे भी इस प्रकार के कुछ प्रतीक मिलते हैं। जैसे, डब्ल्यू बी यीट्स का 'g' प्रतीक, जिसे उन्होंने 'gyre' symbol की आख्या दी है[1] और जिसे पहले आयरलैण्ड के निवासी 'pern' या 'spool' कहते थे। यह ज्यामितिक अकन आत्मनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता के परस्परान्तरण का प्रतीक है। यीट्स का यह 'g' प्रतीक भी 'सोलोमन्स सील' से मिलता-जुलता है[2]—

यीट्स का 'g' प्रतीक

सोलोमन्स सील

इस तरह धर्मक्षेत्र के प्रतीक भी विज्ञान के प्रतीको की तरह निश्चित अर्थ-सकेतक और चिह्न प्रधान होते हैं।

उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कला के प्रतीक, सामान्यत, आश्रय के अनुभव अथवा अनुभूति की अवस्था विशेष के व्यजक हुआ करते हैं। इनमे एकात्मत्व के बदले सामान्य सादृश्य के साथ सूक्ष्म साकेतिक तत्त्वो को महत्त्व दिया जाता है। इसलिए कला का एक प्रतीक अनेक स्तरो पर अपना कार्य करता है और अनेक प्रकार के भाव तथा मानसिक चित्र उत्पन्न करने मे सक्षम होता है। दूसरी बात यह है कि कला के प्रतीक का सम्पूर्ण अर्थ निश्चयपूर्वक प्रकट नही किया जा सकता, जबकि उसकी सम्पूर्ण अनुभूति सम्भव है। पुन सकेतात्मकता के बाहुल्य के कारण सामान्य जनो और आवश्यकता से कम विकसित सवेदनवाले व्यक्तियो के लिए प्रतीकात्मक कथन मे कुछ न कुछ अस्पष्टता की प्रतीति बनी रहती है। सूक्ष्मता की दृष्टि से प्रत्येक उत्कृष्ट कलात्मक प्रतीक दो वस्तुओ के बीच सादृश्य निबन्धन की चरम अवस्था है। इसी अर्थ म वह उपमा, साध्यवसान रूपक और चिह्न—सबो से अधिक सन्दर्तिक मूल्य रखता है। तदनन्तर, कला के प्रतीको मे एक ही साथ गोपन और प्रकाशन की क्षमता रहती है। सचमुच, कला के प्रतीको का लक्ष्य कभी भी किसी वस्तु को ज्यो-का त्यो रखना अथवा पुन प्रत्यक्ष या पुनरुत्पादन नही रहता है। उसमे प्रकाशन और गोपन का समन्वात निर्वाह किया जाता है। इसलिए आर्थर सायमन्स द्वारा उद्धृत 'काँत गोब्ले दालविएला'[3]

1 *W B Yeats* A Vision London 1961 p 210
2 *Richard Ellmann* Yeats The Man and The Masks London, 1949, pp 231 32
3 Comte Gobletd Alviella

का यह विचार समीचीन मालूम पडता है कि प्रतीक केवल 'रिप्रोडक्शन' नही होता है।[1] वह कलाकार के भावो के प्रेषण का माध्यम होता है। इस तरह प्रतीकात्मक प्रेषण कलाकार की वह क्रिया है, जिसके द्वारा कलाकार असह्य यथार्थो या भावनाओ के तुमुल आलोडन को व्यक्त करने के लिए कुछ दूरवर्ती अप्रस्तुतो का समतुल्य उपस्थित करता है।[2] कुछ ऐसा ही सकेत हमे प्राचीन काव्यशास्त्र से मिलता है। आधुनिक 'प्रतीक' को हम प्राचीन काव्यशास्त्र के 'उपलक्षण' का एक विकसित रूप मान सकते हैं। 'एकपदेन तदर्थान्यपदार्थ कथमुपलक्षणम्' अर्थात् जब कोई वस्तु-नाम इस रूप में प्रयुक्त हो कि वह वस्तु नाम अपने गुण-सकेत से अपने समान अन्य वस्तु अथवा वस्तुओ का भी बोध करा दे, तो वह शब्द (वस्तु-नाम) 'उपलक्षण' रूप मे प्रयुक्त कहा जायेगा। इसीलिए काव्य के प्रतीको मे (प्राचीन काव्यशास्त्र की शब्दावली मे) साध्यवसाना गौणी प्रयोजनवती लक्षणा अथवा धर्मगत प्रयोजन लक्षणा प्रधान रहती है।

प्रतीक-विवेचन के प्रसग मे विचारको ने प्राय 'मिथ' की भी चर्चा की है। किन्तु, अपने नन्दतिक मूल्य के कारण प्रतीक 'मिथ' से सर्वथा भिन्न है, क्योकि 'मिथ' मे नन्दतिक मूल्य नही, धर्म की तरह विश्वास की व्यवस्था प्रधान रहती है। 'मिथ' की मुख्य विशेषता यह है कि वह अनेक आद्य प्रतीको का गुच्छ हुआ करता है। एक प्रतीक से 'मिथ' की सृष्टि नही हो सकती। अनेक अनुसरणशील बिम्बो (धार्मिक और पारम्परीण) के गुच्छ को ही हम 'मिथ' कहते हैं।[3] 'मिथ' को हम कॉलरिज के शब्दो में, जैसा कि जॉर्ज वेले का भी मत है, 'शट्ल वल्वेनियन स्पाइडर वेब नेट आव स्टील—स्ट्राग एज स्टील, येट शट्ल एज इथर' कह सकते हैं।

'मिथ' मे प्राय मानवेतर कथाएँ—विशेषकर देवताओ के चरित्र और कार्य-कलाप—प्रधान रहती हैं।[4] दूसरे, 'मिथ' मे मिथ्यातत्त्व अधिक रहता है। तीसरे,

1 "A symbol might be defined as a representation which does not aim at being a reproduction '—*A. Symons*, The Symbolist Movement in Literature, 1958, p 1

2 इस आशय की अनेक परिभाषाएँ उपस्थित की गयी हैं। जैसे, शिप्ले ने प्रतीक की परिभाषा इस प्रकार दी है—"Symbolism may be defined as the representation of a reality on one level of reference by a corresponding reality on another "—*Joseph T , Shipley*, Dictionary of World Literature, 1962, p 405

3 जार्ज वेले ने भी प्रतीक और 'मिथ' के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है—" symbol proves to be a special kind of metaphor ... the myth ... e process

4

... ilization,

मिथ' प्रसिद्ध होने के बाद समाज की मौखिक परम्पराओं से सम्बद्ध होने की प्रवृत्ति रखता है। चौथी बात यह है कि एकाधिक 'मिथ' के तुलनात्मक अध्ययन से उनके अन्दर छिपा हुआ कोई न कोई 'मोटिफ' स्पष्ट नजर आने लगता है, जबकि हमे प्रतीकों में कोई सागोपाग कथा-रूढि नही मिलती है। इसी तरह बिम्ब और 'मिथ' मे मुख्य अन्तर यह है कि 'मिथ' मनुष्य की सामूहिक चेतना की उपज है और बिम्ब व्यक्ति-चेतना की। यह दूसरी बात है कि निर्मित होने के उपरान्त बिम्ब को भी स्वीकृति के लिए उसी 'सामूहिक-चेतना' के पास जाना पडता है। इस प्रसग मे यह विशेष महत्त्व की बात है कि 'मिथ' की प्रारम्भिक अवस्था मे कपोल-कल्पना का तत्त्व अधिक रहता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति भी इसका समर्थन करती है। 'मिथ' ग्रीक शब्द[1] से बना है, जिसका अर्थ होता है 'मुंह से निकला हुआ।'[2] इस प्रकार मिथ एक ऐसी जातीय कल्पना है, जिसे बाद मे चलकर धार्मिक विश्वासों ने आयत्त कर लिया।'[3]

किन्तु, इन भिन्नताओं के बाद भी 'मिथ' और प्रतीक मे एक ध्यातव्य साम्य है कि ये दोनो किसी-न-किसी रूप मे परम्परा से अवश्य सम्बद्ध होते हैं। किन्तु, प्रतीक प्रयोग की विकसित दशा मे सार्वभौम स्तर से 'विशेष' की ओर उन्मुख होने, अत विशिष्टार्थबोधक बनने की प्रवृत्ति रखते हैं, जबकि 'मिथ' 'विशेष' से 'सामान्य' की ओर अग्रसर होते रहते हैं। फलस्वरूप प्रतीक की प्रेषणीयता अधिक कलात्मक होती है। जैसे, कमल निष्पाप सौन्दर्य का प्रतीक है, सिंह या चक्र चरमशक्ति या सहारकुशलता का प्रतीक है। कभी-कभी 'मिथ' के सहारे भी कवि

1 Mythos
2 "At first the Greek word 'mythos' meant 'the thing spoken' or uttered by the mouth that is, it was a speech or tale "—*Lewis Spence*, The Outlines of Mythology, p 1
3 'मिथ', 'सिम्बल' और 'एलिगरी' के भेद पर शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से विचार करते हुए एडविन होनिग ने लिखा है—" the word allegory (Gr allegoria, Fr allos+agoria, 'other'+'speaking') and the word symbol (Gr symbolon, Fr syn+ballein, "with' or "to gether' +"to throw") become related through shifting usage to the word myth (Gr Mythos, "word", speech—talk, tale) and the word mystery (Gr mysterion, Fr mystes, "close mouthed' *fr* myein, "to be shut ') Mythos is originally the 'word, the first 'tale, which Greek thought subsequently distinguished from the synonyms epos and logos Mythos thus entails the activity of allegoria—"other speaking" or "speaking otherwise than one seems *to speak"—as well as 'symbolon', the "throwing together' of word* and thing And the activity indicated by mythos, allegoria and symbolon is synonymous with, rather than contrary to, the activity indicated by mysterion, the unspoken, "close mouthed', as established by sacred use' —*Edwin Honing*, Dark Conceit, London, 1959, p 24

प्रतीक की सृष्टि करता है। जैसे—टी एस इलियट ने 'होलिग्रेल'[1] के 'मिथ' से वेस्ट लैण्ड का प्रसिद्ध प्रतीक उधार लिया है।[2] इतना ही नहीं, 'वेस्ट लैण्ड' मे प्रतीकवत् प्रयुक्त 'Tiresius' भी परम्परा-प्रसिद्ध 'मिथ' की पृष्ठभूमि पाकर ही अभीप्सित अर्थ व्यक्त कर सका है।[3]

'मिथ' की ही तरह अन्य कई चीजें है, जिनके साथ पाश्चात्य विचारको ने प्रतीक के साम्य और वैषम्य की चर्चा की है। जैसे—प्रतीक और 'टोकेन' या 'साइन', प्रतीक और 'एम्ब्लेम', प्रतीक और 'साइफर', प्रतीक और 'एलिगरी' इत्यादि। किन्तु प्रतीक को, 'टोकेन' या 'साइन' कहना नितान्त भ्रामक है,[4] क्योकि प्रतीक कला की एक ऐसी इकाई है, जिसके सहारे कलाकार नन्दतिक मूल्यो का उत्सारण करता है। इसीलिए प्रत्येक कलाकृति के सन्दर्भ मे प्रतीक केन्द्रविन्दु का महत्त्व रखता है। उसी केन्द्र से अर्थछवि की ज्योति फूटकर सम्पूर्ण सन्दर्भ-वृत्त को आलोकित करती है। अत प्रतीक एक प्रकार का 'फोकल-इमेज' हुआ करता है। लेकिन 'साइन' मे मात्र सकेतात्मकता रहती है। इसके द्वारा हम किसी वस्तु को एक लाघव के साथ सकेतित कर सकते हैं, जबकि प्रतीक मे मात्र सकेतात्मकता ही नही रहती, कलात्मकता भी रहती है। साथ ही, 'साइन' की तुलना मे प्रतीक की एक विशेषता यह है कि प्रतीको मे विवक्षित वस्तु का आसग और वातावरण भी ध्वनित रहता है। इसी तरह प्रतीक और 'एम्ब्लेम' मे भी सुस्पष्ट अन्तर है। 'एम्ब्लेम' प्रतीक और 'साइफर' के बीच की चीज है। किन्तु, बारीकी से विचार करने पर (एम्ब्लेम) प्रतीक की अपेक्षा 'साइफर' के अधिक निकट पडता है। दूसरे, 'एम्ब्लेम' व्यक्ति विशिष्ट न होकर समुदायगत हुआ करता है और उसके पीछे व्यक्ति की नही, समुदाय विशेष की धार्मिक और जातिगत धारणाएँ तथा अन्धविश्वास काम करते हैं। जैसे, हस सरस्वती के लिए, उल्लू लक्ष्मी के लिए, अर्द्ध-चन्द्रमा या वृषभ शिव के लिए[5] और सिंह दुर्गा के लिए 'एम्ब्लेम' का काम करते हैं।[6] यो कुछ विचारको ने चिह्नात्मक प्रतीक कहकर भी प्रतीको का एक

1 Holy Grail

2 मिथ' की तरह प्रतीक का सम्बन्ध 'रिचुअल्स' से भी माना जाता है। इन दोनो के पारस्परिक सम्बन्धो पर लैंगर ने विस्तार से विचार किया है। द्रष्टव्य—*Susane K Langer*, Philosophy in a New Key, p 116

3 Classical Myths in English Literature by *Dan S Norton*, and *Peters Ruston* New York, 1952, p 3˚6

4 *Herbert Read*, The Forms of Thing Unknown, London, 1960 pp 35 36

5 *Heinrich Zimmer*, Myths and Symbols in Indian Art and Civilization, edited by *Joseph Campbell*, New York, 1953, p 48

6 लेसिंग ने भी प्रतीक और 'एम्ब्लेम' के अन्तर पर पर्याप्त विचार किया है।—Lessing s Laokoon, translated by *E C Beasley*, p 71.

प्रकार निरूपित किया है। इस दृष्टिकोण के प्रस्तोता विचारको का कहना है कि प्रतीक के सहारे मानव-मन चेतना की किसी स्थिति या उसकी वक्रता को चिरकाल के लिए सुरक्षित रखना चाहता है। इसलिए सम्पूर्ण स्थिति का नही, उसके किसी विशिष्ट सकेत का विधान प्रतीक मे किया जाता है। यही कारण है कि प्रतीक स्मरण-सुलभ होते हैं। उदाहरणार्थ, शिव-मन्दिर के सम्पूर्ण स्थापत्य शिल्प को समझना और याद रखना कठिन है, लेकिन मन्दिर के ऊपर चिह्न-रूप लगे हुए त्रिशूल को देखते ही साधारण आदमी भी उसे शिवालय समझ लेता है। इस त्रिशूल-जैसे व्यजक चिह्नो को ही कुछ विचारकों ने 'एम्ब्लेमैटिक सिम्बल' कहा है। ये चिह्नवत् प्रतीक अधिकतर धर्म-भावना और 'मिथ' से सम्बद्ध होते हैं। जैन पुराणो मे चौबीस तीर्थंकरो मे से प्रत्येक ऐसे चिह्नात्मक प्रतीक से उपेत माने गये हैं। इन तीर्थंकरो के चिह्नात्मक प्रतीक क्रमश इस प्रकार हैं—वृषभ गज, अश्व, कपि, क्रौंच, रक्त कमल, स्वस्तिक, अर्द्धचन्द्र, मकर, श्रीवत्स, गरुड, महिष, वराह, भल्लूक, वज्रदण्ड, मृग, अज, मत्स्य, कुम्भ, कच्छप, नीलकमल, शंख, सर्प और सिंह।[1] स्पष्ट है कि ऐसे चिह्नात्मक प्रतीको का भाव निवेदन एक प्रकार की धर्म-भावना और पौराणिक दृष्टि पर निर्भर है। अत ये चिह्नात्मक प्रतीक कला-जगत् के सौन्दर्य-बोधपरक सौष्ठव की दृष्टि से विचारणीय नही हैं। अन्य प्रतीक भी प्रयोग से घिस-कर या छीजकर चिह्न (एम्ब्लेम) अथवा 'साइफर' बन जाते हैं,[2] क्योंकि प्रयोगो की अति आवृत्ति के बाद प्रतीक अतिसामान्य बन जाने पर अपने सकेतगर्भत्व और व्यजना की वक्रता को खो देते हैं। साराश यह है कि अतिप्रयुक्त और अतिसामान्य प्रतीक 'साइफर' या 'एम्ब्लेम' बन जाते हैं। अत प्रतीको के प्रतीकत्व को सुरक्षित रखने के लिए यह आवश्यक है कि उनके नये अन्वेषणो के पौन पुन्य का सचेष्ट निर्वाह किया जाय।[3] प्रतीको की इस लावण्य-सुरक्षा पर आर पी ब्लैकमर ने

1 तालिका के लिए द्रष्टव्य—On The Indian Sect of The Jains by *Johnn George Buhler*, edited with an outline of Jain Mythology by *J A Burgress*, London, 1903,

2 शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर भी यह सिद्ध होता है कि सतत प्रयोग मे रूढ बनकर प्रतीक अपनी लाक्षणिकता और व्यजकता खो देते हैं और उसी तरह अभिधा के अधीन हो जाते हैं जिस तरह मुहावरे या लाक्षणिक प्रयोग सादृश्य प्रतिपादन में रूढ होकर लाक्षणिक नहीं वाचक मात्र रह जाते हैं।

3 इस विषय में एक दृष्टिकोण यह भी है कि 'जो जिज्ञासाएँ सनातन हैं उनका निराकरण करनेवाले प्रतीक भी सनातन हो जाते हैं।' क्योंकि 'प्रतीक वास्तव में ज्ञान का एक उप-करण है जो सीधे-सीधे अभिधा में नहीं बँधता, उसे आत्मसात् करने के लिए प्रतीक काम देते हैं।' इस तरह प्रतीक के द्वारा कवि अज्ञात सत्य का निरन्तर अन्वेषण करता रहता है। —अज्ञेय, आत्मनेपद, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1960, पृ. 45-46।

दूसरी दृष्टि से विचार किया है। इनकी स्थापना है कि प्रतीको का प्रतीकत्व तभी सार्थक होगा, जब उनमे 'gesture' का आधान हो, क्योकि प्रतीक अभिव्यक्ति के माध्यम, विशेषकर भाषा की, काव्यात्मक सम्भावनाओ का अन्वेषण करते हैं। ब्लैकमर के अनुसार 'जेस्चर' अभिव्यक्ति की गति है, जो वास्तुकला से काव्यकला तक मे एक रस व्याप्त रहती है। इनके अनुसार, प्रतीको मे ही नही, बिम्बो मे भी जेस्चर', स्फूर्ति और अशेष अर्थवत्ता[1] आ जाती है।[2]

इसी तरह प्रतीक-विचार मे कुछ चिन्तको ने उपमा, रूपक और अन्योक्ति की भी चर्चा की है[3]। उपमा, रूपक और प्रतीक मे मुख्य अन्तर यह है कि उपमा और रूपक मे किसी वर्ण्य के उपमान का सादृश्य प्रतिपादन या आरोप रहता है, जबकि प्रतीक मे वर्ण्य नही, वर्ण्य के विविध सन्दर्भों या सम्बन्धो का व्यजनागर्भी बोध रहता है। अत प्रतीक मे अर्थ व्यजना की तरलता नही, उसकी गाढ घनता रहती है। प्रतीक में अर्थ तिल मे छिपे तेल की तरह जमा रहता है, फलस्वरूप उस अर्थ की प्राप्ति के लिए प्रतीक को तिल की तरह पेडना पडता है। साराश यह है कि जब एक ही शब्द या अप्रस्तुत किसी सम्पूर्ण अर्थ सन्दर्भ को व्यजित करने की शक्ति अर्जित कर लेता है, तब वह प्रतीक बन जाता है। इसी प्रकार काव्येतर कलाओ मे भी कोई नाद-स्वर, रग, रेखा अथवा शिल्प की इकाई अर्थ-व्यजना के साक्षेप्य की सिद्धि से प्रतीक बन सकती है। प्रतीक का सबसे बडा गुण सन्दर्भ के प्रति उसकी सचेष्ट ईमानदारी है। अर्थ सन्दर्भ के प्रति ईमानदार प्रतीक ही कला के नन्दतिक मूल्यो का सर्वोत्तम वाहन हुआ करते है। इसलिए कला की उत्कृष्टता, बहुत दूर तक, सन्दर्भ-सचेष्ट प्रतीको के विनियोग पर निर्भर करती है। प्राचीन काव्यशास्त्र की भाषा मे उपमा, रूपक और प्रतीक का अन्तर स्पष्ट करते हुए हम कह सकते हैं कि उपमा मे प्रस्तुत और अप्रस्तुत का भेद स्पष्ट रहता है। रूपक मे प्रस्तुत और अप्रस्तुत—उभय पक्षो का कथन होने पर भी दोनो मे अभेद या तद्रूपता आरोपित होती है। किन्तु, प्रतीक मे आये अप्रस्तुत की एक स्वतन्त्र अर्थ-परिवृत्ति होती है और उसके अन्तर्गत आनीत साम्य का निर्वाह किसी आलकारिक सरणि पर नही होता है। तदनन्तर, प्रतीक मे प्रस्तुत-अप्रस्तुत की विवक्षा पृथक् पृथक् नही की जाती है। केवल काव्य की दृष्टि से प्रतीको का विवेचन करने पर यह प्रतीत होता है कि प्रतीक विधान गौणी लक्षणा का विषय है, क्योकि यहाँ प्रस्तुत वस्तु का बोध लक्षणा द्वारा होता है। व्यजना का कार्य यहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत के मध्य गुण, क्रिया अथवा व्यापार-समष्टि का साम्य मात्र बताना होता है। इस

1 'Momentum' and inexhaustible meaningfulness'.

2 *R P Blackmur*, Language as Gesture, pp 16-17.

3. द्रष्टव्य—Literary Symbolism, edited by *Murice Beebe*, San Francisco, 1960, p 31.

तरह प्रतीक हमे गुणी द्वारा गुण तक पहुँचाता है।

प्रतीक और रूपक के भेद को बतलाने की चेष्टा डब्लू. बी यीट्स ने भी की है।[1] इन्होने रूपक की तुलना मे प्रतीक की अनन्वय श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। इनका मत है कि प्रतीक के द्वारा अभीप्सित वस्तु की वैसी पूर्ण अभिव्यक्ति होती है, जैसी किसी अन्य प्रकार से सम्भव नही है, किन्तु रूपक के द्वारा वैसी अभिव्यक्ति होती है, जिसके समान या जिससे बढकर सुन्दर अभिव्यक्ति दूसरे प्रकार से भी सम्भव है।[2] दूसरे, रूपक को समझने के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है, जबकि प्रतीक के भावन के लिए अन्त प्रेरणा या सहज वृत्ति आवश्यक है। तदनन्तर, प्रतीक 'कल्पना' से उत्थित होता है, किन्तु, रूपक-विधान 'फैंसी' से ही निष्पन्न हो जाता है। और, यीट्स की दृष्टि मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि रूपक-विधान एक प्रकार का मनोविनोद है, लेकिन प्रतीक एक प्रकार का अलौकिक प्रकाशन है, क्योकि इसके द्वारा अदृश्य सार सत्य की एकमात्र सम्भव अभिव्यक्ति होती है। इस तरह प्रतीक और रूपक का भेद स्पष्ट है, यद्यपि यीट्स की उपर्युक्त बातें तथ्य-परक होने के साथ ही भावुक हैं।[3] प्रतीक और रूपक के भेद-निरूपण मे यीट्स पर विलियम ब्लेक का अत्यधिक प्रभाव है, क्योकि यीट्स की दृष्टि मे ब्लेक ही पहला विचारक है, जिसने प्रतीक और रूपक के भेद को सामर्थ्य के साथ स्पष्ट किया।[4] आधुनिक विचारको मे एडविन होनिग ने भी प्रतीक और रूपक के स्वरूप पर विस्तृत विचार किया है। एडविन होनिग का मन्तव्य है कि प्रतीक का शुद्ध साहित्यिक रूप 'एलिगरी' है, जिसका नव्यतम विकास अत्याधुनिक गल्प-साहित्य, विशेषकर, उपन्यासो मे हुआ है। इन्होने मेल्विल, हॉथार्न और काफ्का को प्रधानत दृष्टि मे रखते हुए 'एलिगरी' का अच्छा आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया

1 *W B Yeats*, "William Blake and His Illustrations to The Divine Comedy" collected in 'Essays and Introductions' by *W. B Yeats*, London 1961, p 116

2 सम्भवत यीटस से प्रभावित होकर *W Y Tindall* ने भी प्रतीक और रूपक के विषय मे ऐसी धारणा व्यक्त की है—"The Symbol is the only possible embodiment of what it presents, whereas an allegorical image, one of several possibilities, is a substitute for what it presents "—*W Y. Tindall*, The Literary Symbol, New York, 1955, p 31

3 *Donald A Stauffer*, The Nature of Poetry, New York, 1946, pp 168 169

4 विलियम ब्लेक ने प्रतीक और रूपक के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"Vision or imagination (meaning symbolism by these words) is a representation of what actually exists, really or unchangeably Fable or Allegory is formed by the daughters of Memory "—quoted on Page 146, Essays and Introductions by *W B Yeats*, London, 1961.

है।[1]

तदनन्तर, सस्कृत काव्यशास्त्र को दृष्टि मे रखते हुए प्राय, प्रतीक और अन्योक्ति की चर्चा की जाती है। अत प्रतीक और अन्योक्ति के स्वरूप पर विचार कर लेना आवश्यक है। सस्कृत काव्यशास्त्र के प्रेमी विद्वान् प्रतीक-विधान को अन्योक्ति-पद्धति के अन्तर्गत स्वीकार करते है और प्रतीक विधान को उपचार-वक्रता का एक प्रकार मानते हैं। जैसे, डॉ ससारचन्द्र का कथन है कि "हमारे यहाँ प्रतीकवाद अथवा सकेतवाद अन्योक्ति-पद्धति के अन्तर्गत होता है। जब प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का अभेदारोप हो और प्रस्तुत स्वय निगीर्ण रहे, तब अप्रस्तुत ही प्रस्तुत का स्थानापन्न बनकर प्रतीक का काम देता है। काव्य परिभाषा मे इसे उपचार-वक्रता कहते हैं।"[2] किन्तु, अन्योक्ति को विस्तृत अर्थ मे लेने पर भी, अर्थात् अन्योक्ति अलकार, अन्योक्ति-पद्धति और अन्योक्ति ध्वनि को ध्यान मे रखने पर भी प्रतीक की तुलना मे अन्योक्ति का भिन्न और सीमित क्षेत्र है। पहली बात यह है कि अन्योक्ति का प्रमुख क्षेत्र काव्य और सामान्य क्षेत्र श्रव्यकला है। दृश्य कलाओ मे अन्योक्ति का विनियोग प्राय नही हुआ करता है। इसलिए शब्द प्रतीको का साम्य अन्योक्ति के साथ हो सकता है और काव्य के प्रतीको मे निश्चितरूपेण अन्योक्ति तत्त्व रहता है, किन्तु, वस्तु-प्रतीक या वर्ण-प्रतीक, जो दृश्य कलाओ के सार्वभौम साधन और अगीभूत तत्त्व हैं, अन्योक्ति के साथ कोई सीधा सम्बन्ध नही रखते हैं। इस तरह प्रतीक का क्षेत्र जहाँ काव्येतर कलाओं तक फैला हुआ है, वहाँ अन्योक्ति प्रधानत काव्य-कला तक सीमित है। दूसरी बात यह है कि प्रतीक प्राय अतिनिर्धारित बिम्ब हुआ करते हैं, जिनका कभी न रीतनेवाला अर्थ भी विशेष ढग से सुनिश्चित रहता है, जबकि अन्योक्ति मे अर्थ की नमनीयता बनी रहती है और वक्रता, व्यजना, श्लेष या अपह्नुव के द्वारा कथन की बहुविध व्याख्याओ की सम्भावना सुरक्षित रहती है। इसलिए रहस्यवादी काव्य मे हमे जो प्रतीक मिलते हैं, उनमे, प्राय अन्योक्ति-परकता प्रधान रहती है।[3] कारण, रहस्यवादी काव्य मे प्रतीकवत् प्रयुक्त लौकिक रूपको के द्वारा अतिरिक्त अर्थ का, जो प्राय अलौकिक हुआ करते हैं, ध्वनन

1. इन्होंने एलिगरी' पर किये गय अपने अध्ययन का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए लिखा है—"In one of its aspects allegory is a rhetorical instrument used by strategists of all sorts in their struggle to gain power or to maintain a system of beliefs In addition to serving the expression of idiological aims, allegory is a fundanental device of hypothetical construction In this broad way allegory is part of the creative process observable in all literature generally' —*Edwin Honing*, Dark Conciet, London, 1959, p 179
2. डॉ ससारचन्द्र, हिन्दी काव्य म अन्योक्ति, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1960 पृ 69।
3. *W. R Inge*, Christian Mysticism, 8th edition, London, pp 251-252

होता है।

इस प्रसग मे प्रतीक और अप्रस्तुत के सम्बन्धो पर भी विचार कर लेना आवश्यक है, क्योकि इतर ललितकलाओ की तुलना मे अप्रस्तुत विधान और शब्द-प्रतीक काव्य-कला की नायाब विशेषताएँ हैं। सामान्यत यह माना जाता है कि आभ्यन्तर प्रभाव-साम्य वाले अप्रस्तुत ही उत्कृष्ट प्रतीक बन सकते हैं। इसलिए कुछ विचारक, जैसे आचार्य शुक्ल, प्रतीक को एक विशेष प्रकार का उपमान मानते हैं। किन्तु, यह मान्यता पूर्णत उचित नही है। जैसे, हिन्दी कविता मे अनेक स्थलो पर 'उषा' को आनन्द का प्रतीक माना गया है। ऐसे स्थलो मे उषा आनन्द का उपमान नही है, क्योकि उपमानत्व मे साम्य की अपेक्षा होती है, जो उषा मे नही है। वस्तुत यहाँ आनन्द एव उषा मे कार्य-कारण-भाव-सम्बन्ध है, उपमानोपमेय भाव-सम्बन्ध नही। साराश यह है कि उपमान के पर्याय-रूप मे प्रयुक्त होकर भी उससे व्यापक अर्थ रखनेवाला 'अप्रस्तुत' शब्द काव्य प्रतीक के अधिक समीप पडता है। सचमुच काव्य के प्रतीक ऐसे अप्रस्तुत हैं, जो प्रस्तुत का निगरण किये रहते हैं। ये प्रतीक हमे, प्राय , शुद्धा साध्यवसाना या गौणी साध्यवसाना प्रयोजनवती लक्षणा से ही वाछित अर्थ देते हैं। अर्थात्, प्रतीक प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनो को अपने भीतर समाविष्ट रखते हैं और तथ्यो की सूचना के साथ साथ वक्ता या प्रयोक्ता की मानसिक प्रवृत्तियो का भी इगन करते है। इन्ही प्रतीको मे से कुछ ऐसे प्रतीक होते हैं, जो अप्रस्तुत प्रतीत न होकर उपमान की तरह दीख पडते है। कही-कही इन प्रतीको मे लाक्षणिक चमत्कार दिखलाने के लिए धर्म के स्थान पर धर्मी का प्रयोग भी कर दिया जाता है। इस प्रकार प्रतीको, विशेषकर काव्य के प्रतीको मे व्यजना की शक्ति प्रचुर मात्रा मे रहती है। इस शक्ति की पृथुल प्रचुरता के कारण ही मनुष्य अपनी उन मूल्यवान अनुभूतियों को, जो व्यावहारिक भाषा म व्यक्त नही की जा सकती, प्रतीको के माध्यम से व्यक्त करता है। फलस्वरूप, मनुष्य की आध्यात्मिक अनुभूतियाँ अधिकतर प्रतीका के सहारे ही कला के क्षेत्र म अवतरित हो पाती हैं। शायद, इसी अध्यात्मप्रवणता के कारण प्रतीकवादी कलाकारो को विक्टर कजिन, वाग्नेर, हीगेल और शॉपेनहावर का दर्शन अधिक आकृष्ट कर सका। चित्रकला के क्षेत्र मे भी हम प्रतीको के इस महत्त्व को चरितार्थ पाते है।[1] जैसे, मार्क शगल ने अपने प्रसिद्ध चित्र 'द ग्रीन आइ'[2] मे एक आम की फाँक जैसे बडे, किन्तु, स्थिर और ज्योतिर्मय नयन को दिखलाकर सृष्टि प्रसर ब्रह्म की उस व्यापक चिद्शक्ति की प्रतीक-व्यजना की है, जो विवेक शक्ति की तरह सजग

1 'Symbolism in Painting collected in 'Essays and Introductions' by *W B Yeats* London, 1961, pp 146-152.

2. 'The Green Eye'

रहकर सर्वत्र जागतिक क्रिया-कलापो के शुभाशुभ का सचेत और शान्त निरीक्षण करती रहती है। इस तरह ब्रह्म की जिस विवेकशीला चिद्शक्ति को एक व्यक्ति अभिव्यक्ति के अनेक साधनो का मुक्त व्यय करके भी अभिव्यक्ति नही कर पाता, उसे मार्क शगल ने एक अपलक, स्थिर और ज्योतिष्क नेत्र के प्रतीक से बहुत लाघव के साथ अभिव्यजित कर दिया है।[1] अत प्रतीक-विधान की दार्शनिक व्याख्या हम इस प्रकार कर सकते है कि प्रतीक-विधान के सहारे कलाकार दृश्य जगत् के द्वारा अदृश्य सत् की, जो अभिव्यक्ति के प्रचलित सामान्य माध्यमो की सीमा के कारण अनिर्वचनीय और अकथनीय है, सकेत-व्यजना करता है।[2] अर्थात्, प्रतीक-विधान मे 'फेनोमेना' के द्वारा 'न्युमेना' का सकेत किया जाता है, सगुण के द्वारा निर्गुण की और दृश्य के द्वारा अदृश्य की व्यजना की जाती है। यहाँ हमे ध्यान रखना है कि कला मे प्रयुक्त भावानीत दृश्य जगत् (फेनोमेना) का ज्ञान कलाकार को सहजानुभूति के द्वारा मिलता है और उसमे व्यजित अदृश्य सत्चेतना की उपलब्धि कलाकार की धारणा शक्ति (कन्सेप्ट) से होती है। इस प्रकार प्रतीक-विधान मे एक ओर सहजानुभूति और दृश्य जगत् (फेनोमेना) की विद्यमानता रहती है, तो दूसरी ओर धारणा (कन्सेप्ट) तथा अदृश्य सत्चेतना की व्यजना भी। फलस्वरूप, प्रतीक-विधान मे हमे वह समीकरण मिलता है, जो अपने भीतर सहजानुभूति और विभावन के सगम के साथ ही दृश्य जगत् और अदृश्य जगत् का मेल छिपाये रहता है। अत जो कलाकार सहजानुभूति के साथ ही विभावन का भी धनी रहता है, वही उत्कृष्ट प्रतीको की सृष्टि कर पाता है।

उपरिवर्णित प्रतीकोपम अप्रस्तुतो की तरह काव्य जगत् मे शब्द प्रतीको का भी अपना महत्त्व है। ये शब्द प्रतीक प्राय व्युत्पन्न प्रतीक होते है। इनका उद्भव शब्द बिम्बो से होता है अथवा ये पौराणिक आख्यान या किसी धार्मिक सम्प्रदाय की गुह्यसाधना (इसोटेरिज्म) से लिए जाते हैं। ये व्युत्पन्न प्रतीक भावन की दृष्टि से आशु ग्राह्य नही होते हैं, क्योकि इनकी सृष्टि मे एक प्रतीक के लिए दूसरे प्रतीक का और दूसरे प्रतीक के लिए तीसरे प्रतीक का, एवम् प्रकारेण, शृखला रूप विधान होता है। फलस्वरूप, अन्तिम प्रतीक और मूल भाव का सम्बन्ध इतना अप्रकट और कृच्छ्रग्राह्य हो जाता है कि साधारण सहृदय

1 *Erich Neumann*, Art and the Creative Unconscious, 1959, p 143

2 इस दृष्टि से हीगेल की यह धारणा भी विचारणीय है—" . symbol is some form of external existence immediately presented to the senses, which, however, is not accepted for its own worth, as it lies thus before us in its immediacy, but for the wider and more general significance which it offers to our reflection "—*Hegel*, The Philosophy of Fine Art, translated by *Osmaston*, Volume II, London, 1920, p 8.

उसका उद्घाटन ही नहीं कर पाते और वह व्युत्पन्न प्रतीक एक प्रकार से कूट-प्रतीक बन जाता है। इस प्रकार के शब्द प्रतीकों का आकांक्षी कलाकार, जो ईप्सित सफलता नहीं प्राप्त कर सकता, अप्रस्तुत-विधान के धनात्मक या दुहरे प्रयोगों से भी सन्तोष कर ले सकता है। सारांश यह है कि व्युत्पन्न शब्द-प्रतीकों में मूल भाव या मूल वस्तु तथा व्युत्पत्ति से प्राप्त प्रतीक के मध्यस्थ सम्बन्ध सूत्र का विगलन हो जाता है। उदाहरण के लिए, हम तान्त्रिक रहस्यवाद के पंचमकार को देख सकते हैं, जिसमें मद्य, मांस, मत्स्य, मैथुन और मुद्रा के द्वारा क्रमशः शक्ति, शिव, वायु, शिव-शक्ति-संगम तथा सहस्रार ज्ञान का प्रतीकात्मक संकेत किया गया है। निश्चय ही ये प्रतीक अपनी गोपनशीलता के कारण एक सम्प्रदाय विशेष के कूट प्रतीक बन गये हैं, किन्तु इन प्रतीकों ने उस सम्प्रदाय से प्रभावित काव्य-साहित्य में अपना स्थान बना ही लिया है। इस प्रसंग में यह विशेष रूप से ध्यातव्य है कि कई दृष्टियों से प्रत्येक भाषा के सभी शब्द प्रतीक ही माने जाते हैं, किन्तु, कला-चर्चा में हम प्रायः उन्हीं शब्दों को प्रतीक कहते हैं जो किसी विशिष्ट और आत्मनिष्ठ भाव से सवलित होकर प्रयोक्ता द्वारा सर्जक-कुशलता से प्रयुक्त होते हैं। यों अधिकांश शब्द प्रतीक कलात्मक संस्पर्श के अभाव में 'अपक्व प्रतीक' ही रह जाते हैं।

साहित्य-जगत् में कविता की तरह गद्य-काव्य और गल्प में भी प्रतीकों का सुन्दर प्रयोग किया जाता है। अनेक कहानियाँ और उपन्यास गल्प में प्रतीक-प्रयोग का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।[1] जैनेन्द्र की 'जाह्नवी' शीर्षक कहानी में कौए को रोटी के टुकड़े खिलाना उत्सर्ग भाव और आत्मपीडन का प्रतीकात्मक प्रेषण है। इसी तरह जयशंकर प्रसाद की 'स्वर्ग के खंडहर में' शीर्षक कहानी की सम्पूर्ण बन्दिश प्रतीकवाद पर निर्भर है। विशेषकर, शेख और सेनापति विक्रम के समक्ष प्रस्तुत की गयी मीना की उक्तियों में कुछ प्रतीक तो बहुत अभिज्ञेय और अर्थगर्भ हैं, जिन्होंने कहानी के दर्शन की रीढ़ का काम किया है, जैसे—बुलबुल, रजनी विश्राम, सूखी हुई टूटी डाल, इत्यादि। इन सभी प्रतीकों के सहारे प्रसादजी ने गल्प में रहस्यवादी कवियों की तरह एक पारमार्थिक सत्य को व्यक्त किया है।[2]

1 इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि गद्य अथवा गल्प में प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग रहने पर भी अब तक गद्य साहित्य के प्रतीकों पर अपेक्षाकृत कम विचार किया गया है। *W Y Tindall* ने भी अद्यावधि प्रस्तुत प्रतीक विचारणा के इस अभावग्रस्त पक्ष को निर्दिष्ट किया है। —*W Y Tindall*, The Literary Symbol, New York, 1955, pp 70 71

2 "मैं एक भटकी हुई बुलबुल हूँ। मुझे किसी टूटी डाल पर अंधकार बिता लेने दो। इस रजनी विश्राम का मूल्य—अन्तिम तान सुनाकर जाऊँगी।" प्रसाद की उक्त कहानी अथवा 'विसाती' शीर्षक कहानी, के अन्त में प्रयुक्त 'फूल' और 'बुलबुल' की तरह ऑस्कर वाइल्ड की 'बुलबुल और गुलाब' शीर्षक कहानी भी प्रतीकात्मक है—बुलबुल (कलाकार), गुलाब

पाश्चात्य गल्पकारो मे मार्शल प्रू इसके लिए प्रसिद्ध हैं कि इन्होने उपन्यास-रचना मे प्रतीकवादी सिद्धान्तो का स्पृहणीय विनियोग किया है।[1] प्रतीकवादी गल्पकार अपने बहुवर्णी और अनेकमुख आसगो को व्यक्त करने के लिए क्षण-क्षण परिवर्तनशील बिम्बो के बदले अनेक पात्रो, परिस्थितियो, स्थानो, विचक्षण क्षणो, गदराये हुए सवेगो तथा व्यवहार-सरणियो की पुनरावृत्ति का सहारा लेता है। इन पाश्चात्य प्रतीकवादी गल्पकारो मे बॉल्जक, गोतिये, इत्यादि विशेष प्रसिद्ध हैं।[2]

कहने का आशय यह है कि जीवन के विभिन्न क्षेत्रो की तरह साहित्य की सभी विधाओ मे प्रतीको का प्रयोग सम्भव है, क्योकि प्रतीक 'अदृश्य सत्यो' की इन्द्रियग्राह्य रूपो मे साकेतिक अभिव्यक्ति करते हैं। और, यह जानी हुई बात है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे ऐसे अदृश्य सत्य रहा करते है, जिन्हें इन्द्रियग्राह्य रूपो मे बाँधकर अभिव्यक्त करने की चिरन्तन आवश्यकता पडती है। इसलिए अनेक विचारक निर्गुण सत्य की सगुण अभिव्यक्ति को प्रतीक कहते हैं। विशेषकर, कला-जगत् मे सूक्ष्म सौन्दर्य को ही व्यक्त करने के लिए प्रतीको का प्रयोग किया जाता है। यह सूक्ष्म सौन्दर्य, यदि प्रतीको के द्वारा इन्द्रियग्राह्य रूप मे न व्यक्त किया जाय, तो कला के अवलोकन या अवगाहन से सहृदय-चित्त को रसमग्नता नहीं मिल सकती है। सम्भवत प्रतीको के बिना सूक्ष्म सौन्दर्य की अभिव्यक्ति ही असम्भव है। सगीतकला मे भी हम श्रवण-दुर्लभ स्वर-सगतियो का श्रवण सुलभ स्वर-प्रतीको के माध्यम से रस-भोग कर लेते हैं।[3] इस प्रकार कला-

(कलाकृति), लड़की (कला के महत्त्व को न समझनेवाला पाठक), युवक (कला म उपयोगिता ढूँढनेवाला आलोचक)। द्रष्टव्य—विभूति, ले —शिवपूजन सहाय, ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना, सवत् 2007 म मूल से अनूदित।

1. एडमण्ड विलसन ने माशल प्रू के इस पक्ष पर अच्छा विचार किया है। द्रष्टव्य—Axel's

2. *ymons*, New York,

3. प्रकार सगीत में 'टोन' (tone) के द्वारा प्रतीकात्मक प्रेषण किया जाता है। सगीतदर्शन के विश्लेषणकर्त्ताओ का यह मत है कि सगीत के 'टोन' म उसी प्रकार निश्चित अर्थवत्ता रहती है, जिस प्रकार काव्य-कला के शब्दों म, क्योकि सगीत भी एक प्रकार म भावो की भाषा है। अत अनेक विचारको ने 'टोन' को सगीत का 'गत्वर प्रतीक' (dynamic symbol) कहा है।—*Victor Zuckerkandl*, Sound and Symbol, translated from the German by *Willard R. Trask*, 1956, pp 66, 69 सगीत की ही तरह स्थापत्य कला में भी प्रतीको का प्रयोग होता है जिन्हें ज्यामितिक प्रतीक (geometr) कहा जाता है। ये ज्यामितिक प्रतीक आकृति *Faure*, History of Art, Volume 1930, pp 274-275 इन ज्यामितिक गिरजाघरो म आध्यात्मिक भावो की अभिव्यक्ति का कार्य करते हैं, वास्तु प्रतीक (Architectonic symbol) भी कहा जाता है। वही, पृ. 284।

जगत् मे प्रतीक 'अतीन्द्रिय' और 'ऐन्द्रिय' के बीच एक सचेतन रूपक का काम करते हैं और प्रत्यक्षीकरण अथवा उपस्थापन का एक विभावनपूर्ण माध्यम बनकर हमे रसोत्सिक्त कर देते हैं।

प्रतीको के इस तात्त्विक विवेचन के प्रसग मे प्रतीक और बिम्ब के अन्तर पर विचार कर लेना आवश्यक है। प्रतीक-सृष्टि जहाँ एक प्रकार का अभिव्यक्ति-लाघव है, वहाँ बिम्ब विधान प्राय इन्द्रियग्राह्य होता है और श्रवण तथा स्पर्श की अपेक्षा, सामान्यत, दृष्टि से अधिक सम्बन्ध रखता है। दूसरे शब्दो मे, बिम्ब-विधान एक प्रकार का सफल सम्मूर्त्तन है, जिसम चित्रोपमता रहती है। किन्तु प्रतीक म ऐसी चित्रोपमता अथवा सम्मूर्त्तन की कोई आवश्यकता नही रहती है। इसमे प्रभाव साम्य या प्रभविष्णुता को महत्त्व दिया जाता है, क्योंकि प्रतीक-विधान मे पदार्थ या दृश्य सत्य का चित्र नही, उसकी व्यग्य विशिष्टता अथवा सूक्ष्म प्रभाव का सकेत अभीष्ट रहता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बिम्ब का अधिक सम्बन्ध शिल्प तथा वास्तुकला से है और प्रतीक का सगीत तथा काव्य से। इसके अलावा बिम्ब प्राय प्रकृति से सश्लिष्ट होते हैं, फलस्वरूप अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छन्द, अत नानार्थव्यजक होते हैं। किन्तु, प्रतीक निश्चित अर्थ देते हैं और गतानुगतिक या सामाजिक स्वीकृति-सापेक्ष हुआ करते हैं।

कला-जगत् मे प्रतीको का एक 'वादी' रूप भी है, जिसका प्रचार प्रतीकवादी आन्दोलन के साथ हुआ। आन्दोलन के रूप मे प्रतीकवाद का प्रारम्भ फ्रास मे 1886 ई म हुआ।[1] इसी वर्ष 'फिगैरो' नामक पत्र मे प्रतीकवादी सम्प्रदाय के सगठन की घोषणा प्रकाशित हुई।[2] इस घोषणा के अनुसार प्रतीकवादी आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य प्रत्ययो को इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य रूप देना था। इस आन्दोलन को विकास प्रदान करनेवालो म पो,[3] बर्लेन, मलार्मे तथा रिम्बाँ प्रधान हैं। प्रतीकवाद का मूल उद्गम प्लेटो और नवअफलातूनी दार्शनिको की रचनाओ मे प्राप्य है। प्रतीकवाद का साम्य उन्नीसवी शती के आदर्शवादी दर्शन की स्थापनाओ से भी है। अठारहवी शताब्दी मे ही स्वेडेन बर्ग ने 'करेस्पाण्डेन्स का सिद्धान्त' निरूपित किया था और इस भाँति प्रतीको द्वारा वैयक्तिक अनुभवो के प्रकाशन की परम्परा को शक्ति मिली थी। आगे चलकर चार्ल्स बाद्लेयर इस नवीन सिद्धान्त से

1 अर्थर साइमन्स ने प्रतीकवाद को 'रोमाण्टिसिज्म' की एक विकसित शाखा के रूप म स्वीकार किया है। इनका कहना है कि प्रतीकवादी आन्दोलन के पहले भी कला और साहित्य मे प्रतीक के प्रयोग होते थे, *किन्तु प्रतीकवाद के अन्तर्गत प्रतीक का सायास और सचेत प्रयोग* होना है। अर्थर साइमन्स ने तो प्रतीकवाद का प्रारम्भ Gerard De Nerval की रचनाओ से माना है।

2 *Joseph Chiari* Symbolisme from Poe to Mallarme, pp 60-61

3 *Joseph Chiari*, Symbolisme from Poe to Mallarme, London, 1956, pp 1, 40

प्रभावित हुआ और उसने 'सिनेस्थेसिस' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया,[1] जिसके द्वारा इस मत की स्थापना हुई कि दृष्टि, श्रवण, घ्राण तथा स्पर्श द्वारा प्राप्त अनुभवों का साम्य है और वे आपस में परिवर्त्तनीय हैं।[2] इसी तरह मलार्मे ने भी प्रतीकवादी मान्यताओं के निरूपण और व्यावहारिक विनियोग में एक अग्रदूत का कार्य किया।[3] कहा जाता है कि बादलेयर ने प्रतीकों का मूल्यांकन किया, वर्लेन ने उन्हें व्यावहारिक परिणति दी और मलार्मे ने प्रतीकवाद की इन द्विविध लब्धियों को एक विशिष्ट दर्शन प्रदान किया।[4]

प्रतीकवाद की मूल मान्यता यह है कि प्रत्येक संवेग और संवेदन के स्वरूप में व्यक्ति की सतत प्रवहमान चेतना की भिन्न स्थितियों के कारण हर क्षण परिवर्तन होता रहता है। फलस्वरूप, यह किसी भी व्यक्ति के लिए एक कठिन कार्य है कि वह अपने संवेग और संवेदन को सामान्य साहित्य या बोलचाल की दैनन्दिन भाषा में ठीक उसी तरह व्यक्त कर दे, जिस रूप में उसने उस विवक्षित संवेग अथवा संवेदन की सही सही अनुभूति की थी। अर्थात्, अनुभूत संवेग और संवेदन को कोई भी व्यक्ति पूर्ण यथारूपता के साथ लोकप्रचलित भाषा और शैली में नहीं व्यक्त कर सकता है। पुनः प्रतीकवादियों का कहना है कि प्रत्येक कवि में व्यक्तित्व की अपनी वक्रताएँ होती हैं तथा उसके संवेग, संवेदन और क्षण की (उपयुक्त दशा अथवा आसंग की दृष्टि से) निजी विशिष्टताएँ होती हैं। अतः प्रत्येक कवि का यह कर्तव्य है कि वह अपने व्यक्तित्व और अनुभूतियों की विशिष्टता के अनुरूप अभिव्यक्ति के किसी विशेष मार्ग का अन्वेषण और निर्धारण कर ले। इसी विशेष मार्ग के अन्वेषण में कवि को नूतन प्रतीकों के प्रयोग की अनिवार्यता से गुजरना पड़ता है। इसलिए ऐसे नूतन प्रतीक ढीले-ढाले, अप्रतिहत-प्रसर और अज्ञातकुलशील अनुभूतियों के भारवाही बिम्ब होने के कारण अनिश्चित अर्थवत्ता के व्यञ्जक होते हैं।[5] सारांश यह है कि प्रतीकों के द्वारा कलाकार अपनी व्यक्तिगत और विशिष्ट अनुभूतियों का कलात्मक प्रेषण करता है, साथ ही,

1. Charles Baudelaire (Selected Poems) translated by *Geoffrey Wagner* and an introduction by *Enid Starkie*, London, 1946, Introduction
2. रामअवध द्विवेदी, काव्य में प्रतीक विधान आलोचना, जुलाई, 1957, पृ 32।
3. C M *Bowra*, The Heritage of Symbolism, London p 1
4. Stephane Mallarme Poems translated by *Roger Fry* with commentaries by *Charles Mouron*, London.
5. "Symbols are organic units of consciousness with a life of their own, and you can never explain them away, because their value is dynamic emotional, belonging to the sense-consciousness of the body and the soul, and not simply mental"—*D H Lawrence*, Literary Symbolism, edited by *Maurice Beebe*, San Francisco, 1960 p 31

अनुभूति के क्षणों और अभिव्यक्ति के क्षणों के अनुपेक्षणीय पार्थक्य को पाट भी देता है।

कहा जाता है कि प्रतीकवाद का उदय बहुत अंशों में वैज्ञानिक यथार्थवाद के विरोध में हुआ। यह प्रतीकवादी दृष्टिकोण तत्त्वतः रहस्योपेत था, जिसके अनुसार एक अपर आदर्श-लोक ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के इस जगत् से अधिक सत्य है। भाव-भूमि और मण्डन-शिल्प की दृष्टि से प्रतीकवाद सौन्दर्योन्मुख था, क्योंकि प्रतीकवादी कलाकार 'आइडियल ब्यूटी' के विश्वासी थे। इस प्रकार प्रतीकवाद सौन्दर्यवाद (एस्थेटिसिज्म) का ही एक रहस्यात्मक संस्करण है। यह धारणा इससे भी पुष्ट होती है कि प्रतीकवाद की एक उपधारा ही इंगलैण्ड में 'एस्थेटिक मूवमेण्ट' *बन गयी, जिसका नेतृत्व रोजेटी, पेटर और विल्डे ने किया।* इन प्रतीकवादियों की दृष्टि में यह दृश्य और इन्द्रिय संवेद्य जगत् ऐसे प्रतीकों से भरा पड़ा है, जो मानव-हृदय को हर्ष-विषाद से तरंगित करते तथा उसे सुगन्ध, वर्ण और ध्वनि के सहारे *आत्मा के आनन्द* ('रैप्चर्स आव द स्पिरिट') तक पहुँचाते हैं। इसके अलावा प्रतीकवाद की मुख्य मान्यता यह है कि दृश्य जगत् से परे एक आदर्श सौन्दर्य का संसार है, जिसकी प्राप्ति कला के द्वारा होती है। जिस लक्ष्य की लब्धि के लिए धर्म स्तवन और ध्यान का विधान करता है, उसी की प्राप्ति कलाकार, प्रतीकवाद के अनुसार, कलात्मक शिल्प से करता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि प्रतीकवादियों का प्रतीक विधान बहुत अंशों में परम्परागत प्रतीकों से भिन्न है। यह भिन्नता प्रधानतः प्रतीकों की वैयक्तिकता है। प्राचीन प्रतीक सामान्य आसंग, अतः सामाजिक अनुभूतियों पर निर्भर, फलस्वरूप, साधारणीकरण-सुलभ थे, जबकि प्रतीकवादियों के प्रतीक वैयक्तिक आसंग, व्यक्तिगत रुचि और अप्रकट मनोग्रन्थियों पर निर्भर रहने से विशिष्ट, अतः, सायासग्राह्य एवं कुछ अनबूझ जैसे होते हैं।

प्रतीकों के इस तात्त्विक विवेचन के उपरान्त प्रतीकों के प्रकार पर भी संक्षेप में विचार कर लेना अनिवार्य है। मूलतः प्रतीक ध्वनि और दृष्टि पर निर्भर करते हैं क्योंकि श्रुति और चक्षु—इन्हीं दो माध्यमों के द्वारा प्रतीक अपना अर्थ-प्रेषण करते हैं। इसलिए स्वभावतः कलाकार भी अपने प्रतीकों की प्रेषणीयता की सुरक्षा के लिए प्रतीक-सृष्टि के समय ध्वनि और दृष्टि के माध्यमों पर विशेष ध्यान रखता है, ताकि सहृदय-पक्ष की ग्राहिका शक्ति पर अधिक बल नहीं पड़े। इस तरह हम प्रतीकों के मुख्य दो प्रकार निरूपित कर सकते हैं—ध्वनि निर्भर प्रतीक और दृष्टि निर्भर प्रतीक। डब्लू बी यीट्स ने भी प्रतीकों के दो ही प्रमुख प्रकार माने हैं, किन्तु इनका प्रकार निर्धारण एक दूसरी दृष्टि पर निर्भर है। इन्होंने संवेग और विचार की प्रधानता के आधार पर प्रतीकों का प्रकार-निर्धारण किया है—ध्वनि-प्रतीक और प्रत्यय प्रतीक ('सिम्बल्स आव आइडियाज')। इनके

अनुसार ध्वनि-प्रतीक मे संवेग-सृष्ट प्रतीकों का अन्तर्गणन हो सकता है और प्रत्यय-प्रतीकों मे बौद्धिक (इण्टेलेक्चुअल) प्रतीकों का, क्योंकि प्रत्यय-प्रतीक साधारणत: विशुद्ध विचारों के और कभी-कभी भावना-मिश्रित विचारों के उत्प्रेरक हुआ करते हैं। किन्तु, इन विशुद्ध साहित्यिक या सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोणों के अलावा अन्य दृष्टियों से भी प्रतीकों के प्रकार पर सोचा-विचारा गया है, जो बहुत ही अव्यवस्थित, किसी व्यापक आधार से हीन और अनावश्यक खींचतान से मुद्रित है। जैसे, एवलिन अण्डरहिल ने रहस्यवाद के सन्दर्भ मे प्रतीकों पर विचार करते हुए इन तीन प्रमुख प्रकारों का निर्देश किया है—यात्रा-द्योतक प्रतीक, प्रेमद्योतक प्रतीक और यतिभावद्योतक प्रतीक।[1] इसी तरह किसी ने प्रतीकों के चार प्रकार माने हैं—गूढ़ार्थ, सस्मरणात्मक, औपम्यमूलक और वस्तुगर्भ, तो किसी ने अभिव्यक्ति की स्तर भिन्नता के आधार पर प्रतीकों का चतुर्विध विभाजन दूसरे नामों से प्रस्तुत कर दिया है—प्राणिवादमूलक, औपम्यमूलक, सादृश्यमूलक और बिम्बमूलक। किन्तु, प्रतीकों के प्रकार की सख्या का 'इदमित्थं' यहाँ भी नही हुआ है। उदाहरण के लिए लैंगर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक मे प्रतीकों के अनेक प्रकार गिनाये है, जिनमे से कुछ इस प्रकार हैं'''वर्बल सिम्बल', 'डिस्कर्सिव सिम्बल', 'रिप्रेजेण्टेशनल सिम्बल', 'डेथ सिम्बल', 'कण्डेन्स्ड सिम्बल' (जैसे नारीत्व के लिए चाँद), 'चार्ज्ड सिम्बल', (जैसे ईसा की फाँसी का क्रॉस) इत्यादि।[2] इसी तरह कहीं-कहीं प्रतीकों के विभाजन की अवतरणिका और भी विशद मिलती है। जैसे—कूट प्रतीक, वैपरीत्य-मूलक प्रतीक, रहस्यारूढ प्रतीक, लक्षणापन्न प्रतीक, परम्परित प्रतीक, छायावृत्त प्रतीक, प्रयोगविशिष्ट प्रतीक, लोकावचेतन प्रतीक और सगुण प्रतीक।[3] इतना ही नही, हिन्दी साहित्य के कुछ विद्वानों ने भी प्रतीक-भेद के सख्या-विस्तार मे अद्‌भुत योग दिया है। जैसे—परम्परानुगत प्रतीक, देशगत प्रतीक, व्यक्तिगत प्रतीक और युगगत प्रतीक। इस तरह प्रतीकों के भेदीकरण का हमे कोई निश्चित आधार नही मिलता है। हिन्दी साहित्य के आलोचना-ग्रन्थों मे कहीं-कहीं अलकारशास्त्र को भी सामने रखकर प्रतीकों का विभाजन किया गया है। जैसे—उपमामूलक प्रतीक, रूपकप्रधान प्रतीक, समासोक्तिमूलक प्रतीक, लक्षणामूलक प्रतीक, इत्यादि।

1. *Evelin Underhill*, Mysticism, pp 126-127.
2. *Susanne K. Langer*, Philosophy in a New Key
3. द्रष्टव्य—त्रैमासिक साहित्य, पटना, वर्ष 6, भाग—7, 8, 12। हीगेल जैसे गम्भीर दार्शनिक ने भी प्रतीकों के प्रकार निर्धारण मे किसी सुचिन्तित मानदण्ड का उपयोग नहीं किया है। इनके द्वारा निरूपित प्रतीकों के कुछ प्रकार ये हैं—Unconscious symbol, Fantastic symbol, Real symbol, Numerical symbol, Conscious symbol—इत्यादि—जो प्रकार-निर्धारण के किसी सुनिर्णीत मानदण्ड के अभाव को सकेतित करते हैं।—*Hegel*, The Philosophy of Fine Art, translated by *Osmaston*, Vol II, London, 1920.

इस तरह अब तक, विशेषकर हिन्दी आलोचना मे प्रतीको का बिम्बो की तरह ही तात्त्विक विवेचन वाछित मात्रा मे नही हो सका है। और, जो विवेचन हुआ है, वह केवल काव्य को दृष्टि मे रखकर, जबकि सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से काव्येतर ललितकलाओ को भी ध्यान मे रखना आवश्यक है। तदनन्तर, प्रतीको का प्रकार-निर्धारण किसी निश्चित आधार के अभाव मे, जैसा हम उपर्युक्त विश्लेषण मे देख चुके हैं, बहुत ही दोषपूर्ण, तर्कहीन और यथातथा है। अत समग्र ललितकलाओ की दृष्टि से प्रतीको का प्रकार-निर्धारण भी बिम्बो की ही तरह ज्ञानेन्द्रियो अथवा ऐन्द्रिय प्रतीतियो के आधार पर होना चाहिए।

प्रस्तुत अध्याय मे उपस्थित किये गये प्रतीक-सम्बन्धी विवेचन और विश्लेषण का निष्कर्ष हम इस प्रकार उपस्थित कर सकते हैं—

(1) प्रतीको का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन प्रतीको के दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक या समाजशास्त्रीय अध्ययन से भिन्न होता है। दार्शनिक दृष्टिकोण से किये गये अध्ययन मे प्रतीक इतने व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त होता है कि उसके अन्तर्गत शब्द, भाषा, मुद्रा एव सम्पूर्ण वाग्मय प्रतीक के क्षेत्र मे पडते हैं। तदनन्तर, समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से किये गये अध्ययन मे प्रतीको को रूढ रीति-रिवाजो, धर्मपूजा एव अन्य सामाजिक अनुष्ठानो से इस प्रकार सम्बद्ध कर दिया जाता है कि प्रतीको का व्यक्तिगत मनोरागो से कोई सम्बन्ध ही नही बच पाता है। इसी तरह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किये गये अध्ययन मे प्रतीको को व्यक्ति के अचेतन मन, दमित इच्छाओ और मानसिक स्वत चालन से इस प्रकार मुद्रित कर दिया जाता है कि इन आधारो को स्वीकार कर लेने पर कला-जगत् मे अनेक प्रकार की भ्रान्तियो का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। इस तरह प्रतीको के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन का एक स्वतन्त्र रूप है, हालाँकि सौन्दर्यशास्त्र अपने अध्ययन की परिपूर्णता के लिए दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक या समाजशास्त्रीय अध्ययन के ग्राह्य अशो को नि सकोच स्वीकार करता है।

(2) कला जगत् के प्रतीको पर सौन्दर्यशास्त्रीय विचार-विमर्श करते समय प्रतीक सन्दर्भ (symbolic reference) को पर्याप्त महत्त्व दिया जाता है।

(3) प्रतीक-सृष्टि मनुष्य की चिन्तन-प्रणाली और क्रिया का एक आवश्यक अग है। अन्य प्राणियो की तुलना मे मनुष्य की कुछ श्रेष्ठ पृथकताओ अर्थात् विशिष्ट गुणो के बीच प्रतीक-सृजन की क्षमता प्रमुख है।

(4) ललितकला और सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से प्रतीक के सम्बन्ध मे युग की मान्यताएँ अन्य मनोवैज्ञानिको की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। युग ने प्रतीक-सृजन को एक सास्कृतिक प्रयास माना है, क्योकि आद्यबिम्ब और सामूहिक अचेतन से सम्बद्ध भाव सामान्य अभिव्यक्ति-पद्धति की सीमाओ को पार कर उन प्रतीको के रूप मे व्यक्त होना चाहते हैं, जिनके लिए दृश्य और श्रव्य कलाएँ

सर्वोत्तम अधिकरण सिद्ध होती हैं।

(5) कला-जगत् के प्रतीकों का सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से ही विश्लेषण होना चाहिए, क्योंकि कलात्मक प्रतीकों का निर्माण सामान्य जन के द्वारा नहीं, कलाकारों के द्वारा होता है। कलाकार स्वानुभूति के जिन अंशों को सामान्य अभिव्यक्ति के प्रचलित साँचों में नहीं ढाल पाता है, उन अंशों की व्यंजना या अभिव्यक्ति के लिए ही वह प्रतीकों का सहारा लेता है। इस तरह कलाकार स्वानुभूति के अकथनीय अंशों को प्रतीक के द्वारा कथनीय और प्रेषणीय बनाता है। इस बात को दार्शनिक भाषा में इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रतीक-विधान के सहारे कलाकार दृश्य जगत् के अप्रस्तुतों के द्वारा अदृश्य सत की, जो अभिव्यक्ति के प्रचलित माध्यमों की सीमा के कारण अनिर्वचनीय है, संकेत-व्यंजना करता है। अर्थात् प्रतीक विधान में 'फेनोमेना' के द्वारा 'न्युमेना' का संकेत किया जाता है।

(6) कला-जगत् के प्रतीक एवं अन्य प्रतीकों—जैसे धर्म, दर्शन या विज्ञान के प्रतीकों में मुख्य अन्तर यह है कि धर्म, दर्शन अथवा विज्ञान के प्रतीक सर्वथा निर्धारित एवं स्वीकृत अर्थ रखते हैं। इन क्षेत्रों में प्रतीकों के निर्दिष्ट अभिप्राय और अर्थ के सम्बन्ध में प्रयोक्ता तथा श्रोता या पाठक अथवा द्रष्टा प्रायः एकमत होते हैं। किन्तु, कला के प्रतीकों में प्रयोक्ता और पाठक द्रष्टा या श्रोता के बीच किसी निर्धारित अर्थ के लिए ऐसा विश्रब्ध ऐकमत्य नहीं रहता है, बल्कि इसके विपरीत कला के प्रतीकों में अर्थ की सम्भावनाओं और नमनीयता का पर्याप्त महत्त्व रहता है। सचमुच, कला के प्रतीकों में अर्थ स्फीति होती रहती है, क्योंकि ये प्रतीक केवल प्रयोक्ता ही नहीं, पाठक के भी कल्पना-बोध और उन्नत संवेदन से सापेक्षिक सम्बन्ध रखते हैं।

(7) धार्मिक प्रतीक कला-जगत् के प्रतीक से इस अर्थ में भी भिन्न होते हैं कि धर्म के प्रतीक लौकिक मनोराग या संवेग पर नहीं, विश्वास-भावना पर निर्भर रहते हैं। इसलिए धर्म-जगत् का कोई प्रतीक तब तक प्रभाव नहीं पैदा करता है, जब तक सहृदय अथवा भावक के पास उसके अनुकूल विश्वास-भावना न रहती हो।

(8) इस तुलनात्मक दृष्टि से स्पष्ट है कि काव्य एवं कला-जगत् के प्रतीक कवि, कलाकार अथवा आश्रय की अनुभूति या मनोदशा के व्यंजक हुआ करते हैं। इनमें एकार्थत्व के बदले सामान्य सादृश्य के साथ सूक्ष्म सांकेतिक तत्त्वों को महत्त्व दिया जाता है। इसलिए कला-जगत् का एक प्रतीक अनेक स्तरों पर अपना कार्य करता है और अनेक प्रकार की मानसिक छवियाँ उत्पन्न करने में समर्थ होता है।

(9) कला-जगत् के प्रतीकों में एक ही साथ गोपन और प्रकाशन की क्षमता रहती है, क्योंकि कला-जगत् के प्रतीकों का लक्ष्य कभी भी किसी वस्तु को ज्यों-का-त्यों रखना अथवा पुनः प्रत्यक्ष या पुनरुत्पादन नहीं रहता है।

(10) प्रतीक प्रयोग की अत्यन्त आवृत्ति के बाद अतिसामान्य बन जाने पर अपने सकेतगर्भत्व और व्यजना की वक्रता खो देते हैं । अत प्रतीकों के 'प्रतीकत्व' को सुरक्षित रखने के लिए यह आवश्यक है कि उनके नये अन्वेपणो के पौन पुन्य का सचेप्ट निर्वाह किया जाय ।

(11) काव्य-जगत् के प्रतीक-विधान मे शब्द प्रतीको का विशेप महत्त्व है। ये शब्द प्रतीक प्राय व्युत्पन्न प्रतीक होते हैं। इनका उद्भव शब्द बिम्बो से होता है अथवा ये किसी पौराणिक आख्यान या किसी धार्मिक सम्प्रदाय की गुह्य साधना मे लिये जाते है। ऐसे शब्द प्रतीको मे मूल भाव या मूल वस्तु और व्युत्पत्ति से प्राप्त प्रतीकार्थ के मध्यस्थ सम्बन्ध सूत्र का निगरण हो जाता है। फलस्वरूप ये प्रतीक आशु ग्राह्य नही होते है।

(12) काव्य एव कला जगत् मे 'सूक्ष्म सौन्दर्य' को व्यक्त करने के लिए प्रतीको का प्रयोग किया जाता है, क्योकि प्रतीको के बिना सूक्ष्म सौन्दर्य की अभिव्यक्ति असम्भव है।

(13) बिम्ब और प्रतीक मे मुख्य अन्तर यह है कि बिम्ब-विधान मे जहाँ सम्मूर्त्तन और चित्रोपमता को प्रधानता दी जाती है, वहाँ प्रतीक विधान मे एक अभिव्यक्ति-लाघव के साथ किसी सूक्ष्म सत्य, सौन्दर्य या प्रभाव की सकेत-व्यजना की जाती है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि बिम्ब भी कभी-कभी प्रयोग की आवृत्ति स किसी विशेप अर्थ मे प्रतिमित होकर प्रतीक का रूप धारण कर लेते है।

(14) प्रतीको का प्रकार-निर्धारण अब तक बहुत ही अनिश्चयात्मक और अव्यवस्थित रहा है। अत प्रतीको का प्रकार-निर्धारण भी बिम्बो की तरह ज्ञानेन्द्रियों अथवा ऐन्द्रिय प्रतीतियो के आधार पर होना चाहिए।

परिशिष्ट

[अंग्रेज़ी हिन्दी शब्दार्थ-संकेत]

Abstract form = नैरूप्यवादी विधान
Allegory = रूपक
Architectural proportion = वास्तु अनुपात
Association = आसंग
Attitude = संस्थिति
Classical tradition = शास्त्रीय परंपरा
Cliches = एकरूपता
Code symbol = कूट प्रतीक
Cognitive content = बोध्य विषय
Colour-harmony = वर्ण-छन्द
Colour-perception = वर्ण-बोध, वर्णात्मक प्रत्यक्ष
Colour-sensation = वर्ण-संवेदना
Concept = धारणा
Conceptual = धारणात्मक
Concrete = पिण्डीभूत
Condensation = घनीभवन
Cone = शंकु
Conscious allegory = सचेतन रूपक
Content = विषय
Correspondence = संवादिता या तदनुरूपता
Cubism = घनवाद, त्रिपार्श्ववाद
Dermal Psyche = त्वक्-चेतना

Displacement = विस्थापन
Distorted substitute = विकृत स्थानापन्न
Duplication = प्रतिकृति
Engineering = आभियान्त्रिकी
False reality = सवृति सत्य
First symphony = प्रथम स्वर-सगति
Fovea = अक्षि कोटर
Functional = क्रिया-प्रधान
Harmony = सगति
Harmonic colour = सवादी वर्ण
Hieroglyphics चित्राक्षर
Ideograph = भाव-चित्र
Imaginative Arts—कल्पनात्मक कलाएँ
Imagism = *चित्रात्मकता*
Impressionistic music = प्रभाववादी सगीत
Inaudible harmony = श्रवण दुर्लभ स्वर सगति
Indian Epistemology = भारतीय प्रमाणवाद
Landscape poetry = मृदृश्याकन-काव्य
Latent dream thought = गुप्त स्वप्न विचार
Legendary = निजन्धरी
Manifest dream-content = व्यक्त स्वप्न-वस्तु
Mechanism of dream or dream-work = स्वप्न-तन्त्र
Melos = सगीत
Mental = मानसिक
Musical proportion = लयात्मक
Negative Empathy = अभावात्मक समानुभूति
Noumenon = अदृश्य सत्, सत्चेतना
Objective Art = वस्तुतान्त्रिक कला
Opsis = दृश्य गुण, चित्रात्मकता
Optic nerve = चाक्षुष स्नायु
Oscilloscope—दोलनवीक्ष
Otiose image = निरर्थक बिम्ब
Pageant = स्वाग लीला
Perceptual = प्रत्यक्षात्मक

Pnriphery=परिवृत्त
Pheeomenon-=दृश्य जगत्
Pictorial representation=चित्रात्मक पुन प्रत्यक्ष
Plastic configuration=पिण्डीभूत मूर्तन
Pointillism=बिन्दु-चित्रण
Positive Empathy=भावात्मक सहानुभूति
Pretty=रंजक
Primordial image=आद्यबिम्ब
Primordial symbols=आद्य प्रतीक
Program music=क्रमिक सगीत
Psyche=मन
Representation=पुन प्रत्यक्ष
Response=प्रत्यर्थता, पर्युत्सुकता
Rod=शलाका
Romantic=स्वच्छन्दतावादी
Schemata=विचार चित्र
Sense-transference=बोध-विपर्यय
Sign=चिह्न
Sister arts=भगिनी कलाएँ, सहोदरा कलाएँ
Space=अन्तराल, देश
Standard=मानक
Subjective Art=आत्मताभिव्यंजक कला
Substitute image=स्थानापन्न मनोबिम्ब
Symbolic reference=प्रतीक-सन्दर्भ
Synaptic =चेतोपागमिक
Tapestry - यवनिका
Texture=विन्यसन
Theme=विषय
Volume=विस्तार
Wave lines=तरंगित रेखाएँ
World of Ideas=प्रत्यय-जगत्

सहायक ग्रन्थों तथा पत्र-पत्रिकाओं की सूची

संस्कृत

1. अथर्ववेद
2. अभिज्ञान शाकुन्तलम्
3. अमरकोष
4. अमरुकशतकम्
5. उत्तर रामचरित
6. ऋग्वेद
7. ऋतुसहार
8. कविकण्ठाभरण
9. कामसूत्र
10. काव्यप्रकाश
11. काव्य-मीमासा
12. काव्यादर्श
13. काव्यालकार
14. काव्यालंकारसूत्र
15. किरातार्जुनीयम्
16. कुट्टिनीमामतं काव्यं
17. कुमार सभवम्
18. केनोपनिषद्
19. गीतगोविन्द
20. तर्क-सग्रह
21. ध्वन्यालोक
22. ध्वन्यालोकलोचन
23. नाट्यशास्त्र

24 नैषध चरितम्
25. प्रमेयकमल मार्तण्ड
26 भामिनी-विलास
27. महाभारत
28. मानसार शिल्पशास्त्र
29. रस गंगाधर
30 ललितविस्तर
31. वक्रोक्तिजीवित
32. विक्रमोर्वशीयम्
33 विष्णुधर्मोत्तर पुराण (चित्रसूत्रम्)
34 शिल्परत्न
35 शिशुपालवधम्
36. शुक्रनीतिसार
37. श्रीमद्भगवद्गीता
38. श्लोकवार्तिक
39. संगीत-दर्पण
40 संगीत रत्नाकर
41. संगीत राग-कल्पद्रुम
42. सांख्यतत्त्व कौमुदी प्रभा
43. सांख्य दर्शन
44 साहित्य दर्पण

हिन्दी

1. अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1959।
2 अरस्तू का काव्यशास्त्र, सम्पादक, डॉ नगेन्द्र, भारती भण्डार, प्रयाग, विसवत् 2014।
3 आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त, डॉ रामलाल सिंह, वाराणसी, संवत् 2015।
4 आचार्य शुक्ल और हिन्दी आलोचना, डॉ रामविलास शर्मा, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, सवत् 2012।
5 आपेक्षिकता का अभिप्राय, मूल लेखक, डॉ अल्बर्ट आइन्स्टाइन, अनुवादक —डॉ भवालकर तथा सेठी, प्रकाशन शाखा, उत्तर प्रदेश, 1960।

7 कला एक जीवन-दर्शन, काका कालेलकर, सस्ता साहित्यमण्डल, 1937।
8 कला और आधुनिक प्रवृत्तियां, रामचन्द्र शुक्ल, प्रकाशन शाखा, उत्तर प्रदेश, 1958।
9 कला और संस्कृति, डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रथम संस्करण।
10 कला और साहित्य, तारिणीचरण दास 'चिदानन्द', दिल्ली, 1960।
11 कला का विवेचन, सम्पादक, मोहनलाल महतो 'वियोगी', साहित्य-निकुंज सारन, 1993 विक्रम।
12 कला क्या है ?—तालस्ताय, हिन्दी रूपान्तर, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, 1955।
13 काव्य और संगीत, लक्ष्मीधर वाजपेयी, प्रयाग, 1946।
14 काव्य और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध, डॉ उमा मिश्र, दिल्ली, 1962।
15 काव्य, कला तथा अन्य निबन्ध, प्रसाद, भारती भण्डार, प्रयाग, संवत् 2010।
16 काव्य में अभिव्यंजनावाद, डॉ लक्ष्मीनारायण सुधांशु, तृतीय संस्करण।
17 काव्य में उदात्त-तत्त्व, डॉ नगेन्द्र, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, 1958।
18 चिन्तामणि, भाग 1 और 2, आचार्य शुक्ल, सरस्वती मन्दिर, काशी, संवत् 2006 विक्रम।
19 जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त, लक्ष्मीनारायण सुधांशु, [illegible] पटना।
20 ध्वनि और संगीत, ललितकिशोर सिंह, ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम
21 प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, आचार्य हजारीप्रसाद ग्रन्थ-रत्नाकर, बम्बई, 1952।
22 पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, सम्पादिका, डॉ प्रथम संस्करण।
23 बिहारी सतसई, साहित्य सेवासदन, बनारस, षष्ठ
24 भामह-विरचित काव्यालंकार, भाष्यकार, प्रो राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, 1962।
25 भारत की चित्रकला, श्री रायकृष्णदास, प्रथम संस्
26 भारत शिल्प के षडंग, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, इलाहाबाद, 1958।
27 भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, डॉ नगेन्द्र, 1955।
28 भारतीय चित्रकला, श्री नानालाल चिमनलाल मेहता इलाहाबाद, 1933।

39 भारतीय चित्रकला, असितकुमार हालदार, चन्द्रलोक प्रकाशन, इलाहाबाद, 1959।
30 भारतीय प्रतीक-विद्या, डॉ जनार्दन मिश्र, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, 1959।
31 भारतीय मूर्तिकला, रायकृष्णदास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सवत् 2009।
32 भारतीय वास्तुशास्त्र, डॉ द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, प्रथम सस्करण।
33 भारतीय साहित्यशास्त्र, बलदेव उपाध्याय, प्रथम खण्ड, काशी, सवत् 2007।
34 मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियाएँ, डॉ पद्मा अग्रवाल, मनोविज्ञान प्रकाशन, बनारस, 1955।
35 मानव और सस्कृति, श्यामाचरण दुबे, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1967।
36 रस-मीमासा, रामचन्द्र शुक्ल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सवत् 2006।
37 रस-सिद्धान्त स्वरूप-विश्लेषण, आनन्द प्रकाश दीक्षित, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1960।
38 रामचरितमानस, तुलसीदास।
39 वक्रोक्ति और अभिव्यजना, रामनरेश वर्मा, ज्ञानमण्डल, बनारस, सवत् 2008 विक्रम।
40 विद्यापति, सम्पादक, मिश्र-मजुमदार, नवीन सस्करण, 2010।
41 श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य, लोकमान्य बालगगाधर तिलक, अनुवादक, माधव रावजी सप्रे, पूना, 1955।
42 सस्कृत आलोचना, बलदेव उपाध्याय, प्रकाशन ब्यूरो, उत्तर प्रदेश, 1957।
43 सस्कृति का दार्शनिक विवेचन, डॉ देवराज, प्रकाशन ब्यूरो, उत्तर प्रदेश, 1957।
44 सत्य शिवं सुन्दरम्, डॉ रामानन्द तिवारी शास्त्री, राजस्थान विश्वविद्यालय, 1957।
45. साहित्य, सगीत और कला, कोमल कोठारी, जोधपुर, 1960।
46 साहित्य और सौन्दर्य, डॉ फतहसिंह, प्रथम सस्करण।
47. साहित्यालोचन, डॉ श्यामसुन्दर दास, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, सवत् 2008।
48 सौन्दर्य-तत्त्व और काव्य सिद्धान्त, डॉ सुरेन्द्र बारलिंगे, अनुवादक, डॉ मनोहर काले, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1963।
49. सौन्दर्य विज्ञान, हरिवश सिंह, शास्त्री, काशी विद्यापीठ, 1936।
50. सौन्दर्यशास्त्र, डॉ हरद्वारीलाल शर्मा, साहित्य-भवन, इलाहाबाद, 1953।
51. हिन्दी काव्यालकार सूत्र, सम्पादक, डॉ नगेन्द्र, दिल्ली, 1954।

52. हिन्दी के कृष्ण भक्तिकालीन साहित्य मे सगीत, डॉ. उषा गुप्ता, लखनऊ विश्वविद्यालय, विक्रमाब्द 2016।
53. हिन्दी काव्य-प्रकाश, डॉ. सत्यव्रत सिंह, चौखम्भा विद्याभवन, काशी, 1955।
54 हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, सम्पादक, डॉ नगेन्द्र, आत्माराम एण्ड सस, 1955।

पत्र-पत्रिकाएँ

1. अवन्तिका, काव्यालोचनाक, पटना, वर्ष 2, अक 1, जून 1954।
2. कला-निधि, वर्ष 1, अक 1, 2, 3, काशी।
3. समालोचक (सौन्दर्यशास्त्र विशेषाक), आगरा।
4. सम्मेलन-पत्रिका, कला-अक, प्रयाग।
5. साहित्य (त्रैमासिक), पटना, वर्ष 6 भाग 7, 8, 12।

बँगला

1. आर्य जातिर शिल्प चातुरि, श्री श्यामाचरण, श्रीमानी, कॉलेज स्क्वायर, कलकत्ता, प्रथम सस्करण।
2 बागेश्वरी शिल्प प्रबन्धावली, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, कलकत्ता विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1941।
3. भारत शिल्पेर षडग, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, विश्वभारती ग्रन्थालय, कलकत्ता।
4 यूरोपेर शिल्प कथा, असित कुमार हालदार, कलकत्ता विश्वविद्यालय, प्रकाशन।
5 रवीन्द्र सगीत, शान्तिदेव घोष, विश्वभारती ग्रन्थालय, कलकत्ता।
6. रवीन्द्रायन, स पुलिनविहारी सेन, वाक् साहित्य, कलकत्ता।
7 रवीन्द्रनाथेर सौन्दर्य दर्शन, प्रवास जीवन चौधरी, प्रथम सस्करण।
8 रूप शिल्प, अर्द्धेन्दुकुमार गगोपाध्याय, प्रथम सस्करण, कलकत्ता।
9 सौन्दर्य-तत्त्व, डॉ सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, प्रथम सस्करण।
10 सौन्दर्य-दर्शन, प्रवास जीवन चौधरी, विश्वभारती ग्रन्थालय, कलकत्ता।

उर्दू

1. तारीखे जमालियात, अहमद सिद्दीक मजनू, अजुमन तरक्किए उर्दू, अलीगढ, 1959।
2 शेरुल अजम, मौलाना शिबले नोमानी, मआरिफ प्रेस, आजमगढ, 1923।

ENGLISH

Abstraction And Empathy, Wilhelmn Worringer, translated by Michael Bullock, Routledge & Kegan Paul, London, 1953

A Critical History of Modern Aesthetics, The Earl of Listowel, George Allen & Unwin, London, 1933

A Dictionary of Psychology, James Drever, Penguin Books, 1956

Adventures of Ideas, A N Whitehead, Cambridge, 1933

Aesthetic, B Croce, transtated by A Duglas, Vision Press, London 1953

Aesthetics And History, Bernard Berenson, London, 1950

Aesthetics And Psychology, Charles Mauron translated from the French by Roger Fry and Katherine John London,1935

An Introduction to Biology, E J Hatfield, Oxford, 1948

A General Introduction to Psycho-Analysis, Sigmund Freud, Perma Books, New York, 1956

A History of Aesthetic Bernard Bosanquet, George Allen & Unwin, London, 1949

A History of Aesthetics, Kuhn and Gilbert, Macmillan Company, New York 1939

A History of Criticism, Volume I, George Saintsbury, London, 4th edition

An Introduction to Modern Art, E H Ramsden, London, 1940.

An Introduction to Jung's Psychology, Frieda Fordham, Penguin Books, 1956

A Phenomenology of Mind, G W F Hegel, translated by G B Baillie, George Allen & Unwin, London 1955

A Propos of Lady Chatterley's Lover and other Essays, D H Lawrence, Penguin Books, Ist edition

Aristotle's Theory of Poetry And Fine Art, translated by S H Butcher, Dover Publications, 1551.

Art, Clive Bell, Chatto and Windus, London, 1920
Art And The Creative Unconscious, Erich Newmann, translated from German into English by Rolph Manhum, Routledge & Kegan Paul, London, 1959
Art And Thought, edited by K Bharatha Iyer, London, 1947.
Art As Experience, John Dewey, George Allen & Unwin, London, 1934
Art And Experience, Prof Hiriyanna, Mysore Kavyalaya Publishers, Ist edition
Arts And The Man, Irwin Edman, A Mentor Book, December, 1951.
A Study in Aesthetics, Milton H Bird, Harvard University Press, Cambridge, 1932
A Study on Vastuvidya, Tarapad Bhattacharya, Bankipore, Patna, 1947.

B

Baudelaire in 'French Symbolist Poetry', translated by C F MacIntyre, Berkeley, University of California Press, 1'958
Beauty And Other Forms of ValueS Alexander, London, 1933
Beauty And Ugliness Vernon Lee, John Lane Company, New York, 1912.
Biographia Literaria, Coleridge, edited by Ernest Rhys, J. M Dent & Sons, London, 1939.
Blake : A Psychological Study, W P. Witeut, Holis & Karter, London, 1946
Blake Studies, Geoffrey Keynes, Rupert Hart—Davis, London, 1949
Blake's Works edited by Geoffrey Keynes, Nonesuch Press, 1925.

C

Cassel's Encyclopaedia of Literature, edited by S. H Stenborg, Volume I
Catastrophe And Imagination, John McCormick, London, 1957.
Charles Baudelaire, translated by Geoffrey Wagner and an Introduction by Enid Starkie, London, 1946.

Classical Myths in English Literature, Dan S Nortan and Peters Rushton, New York, 1952
Coleridge on Imagination, I A Richards, London, 1934
Coleridge's Literary Criticism with an Introduction by J W Mackail, London, 1938
Collected Papers on Psycho-Analysis, Ella Freeman Sharpe, The Hogarth Press, London 1950
Commentary to Kant's Critic of Pure Reason, Norman Kemp Smith, Macmillan, London, 1961
Comparative Aesthetics Dr K. C Pandey, Volume I & II, Banaras, 1950
Contemporary British Art, Herbert Read, Ist edition.
Contribution To Analytical Psychology, C G Jung, Routledge & Kegan Paul, London 1950, 1978
Contribution to A Bibliography of Indian Art and Aesthetics, Haridas Mitra Visvabharati Santiniketan 1951.
Creative Imagination, June E Downey, Kegan Paul, London, 1921
Creative Intuition in Art And Poetry, Jacques Maritain, The Harvill Press London, 1954.
Creative Mind, C. Spearman, Nisbet & Co , 1936.
Criticism And Beauty, Arthur James Balfour, M P , Oxford, 1910

D

Dark Conciet, Edwin Honing, Faber & Faber, London 1959.
Dictionary by Littre (Dictionaire De La Langue Francaise, De E Littri, Paris, 1918)
Dictionary of World Literature, Joseph T. Shipley, Littlefield Adams, Paterson, 1962
Dreams And Nightmares, J.A Hadfield Penguin Books, 1954
Dynamic Symmetry in Composition, J. Hambidge, New York, 1926

F

Encyclopaedia Britanica Eleventh edition, 1910.
English Bards and Grecian Marbles The Relationship between Sculpture and Poetry specially in the Romantic Period by Stephen A. Larrabee, New York, 1943.

Eassay on Criticism, Pope, edited by John Sargeaunt, Oxford, 1909
Essays on Contemporary Events (a collection of Essays) Kegan Paul, London, 1948
Experimental Psychology of Beauty, C W. Valentine, T C. & E C. Jack, London Ist edition

F

Feeling And Form, Susanne K Langer, Kegan Paul, London, 1953
From Ritual to Romance, Jessie L Weston, New York, 1957
Freud His Dream And Sex Theories, Joseph Jastrow, New *York, 1948*
Fundamentals of Indian Art, S N Dasgupta, Bombay, Ist edition
Further Speculations T E Hulme Minnesote, 1955
Further Studies in A Dying Culture, Cristopher Caudwell, The Bodley Head London, 1950

G

George Keyt, Martin Russell, Bombay, 1950

H

Harmony Its Theory & Practice, Ebenzer Prout, Angener & Co, London, Ist edition
Highways And Byways of Literary Criticism in Sanskrit, S Kuppuswami Sastri, Madras, 1945
History of Art, Jean Anne Vincent, Barnes & Noble, New York, 1958.
History of Art Elic Faure, translated from the French by Walter Pach, London, 1930
History of Indian Epistemology, Dr Jwala Prasad Delhi-6
History of Sanskrit Poetics S K De, Calcutta 1960
History of Sanskrit Poetics, P V Kane *Bombay, 1951.*

I

Image And Experience, Graham Hough, London, 1960
Imagination E J Furlong, George Allen & Unwin, New York, 1961

Imagination And its Wonder Arthur Lowell Nichols & Co, London, 1899
Imagination in Landscape Painting Philip Gilbert Hammerton London 1896.
Indian Aesthetics K S Ramaswami Sastri Srirangam 1928
Indian Sculpture And Painting, E B Havell, John Murrey, London 1928

J

John Keats' Fancy, J R Caldwell Karnale University Press, 1945

K

Ksemendra Studies, Dr Surya Kant Poona, 1954

L

Language As Gesture R P Blackmur, London 1954
Laocoon Lessing translated by E C Beasley, Ist edition
Lectures on Art Ruskin George Allen & Co, London 1904
Leonardo Da Vinci A Psychological Study of an Infantile Reminiscence, Sigmund Freud translated by A A Brill, Paul London 1948
Literature And Criticism H Coombe Chatto & Windus London 1958
Literary Criticism A Short History William K Wimsatt and Cleanth Brooks New York 1959
Literary Criticism in Sanskrit And English Prof D S. Sharma, Madras, 1950
Literary Symbolism edited by Maurice Beebe, Wordsworth Publishing Company, San Francisco 1960

M

Modern American Art, John I H Baur, Ist edition
Modern French Painters Jan Gordon Ist edition
Modern Man in Search of A Soul C G Jung Kegan Paul London 1951
Music—The Listner s Art Leonard G Ratner, New York, 1957

Myths And Symbols in Indian Art and Civilization, Heinrich Jimmer, Pantheon Books, New York, 1953.

N

New World Dictionary of the American Language, Webster, New York, 1958

Notes on Early Indian Art, Dr. Radha Kumud Mukerjee, Allahabad, 1939

Nuttal's Standard Dictionary.

O

On the Indian Sect of the Jainas, John George Buhler, edited with an outline of Jain Mythology J A Burgress, London, 1903

On The Sublime, Longinus, translated by H. L Havel, Every Mans Library, No 901

Oxford Lectures on Poetry, A C Bradley, Macmillan, London, 1950

P

Painting And Reality, Etienne Gilson, London, 1957.

Paragone, Leonardo Da Vinci, translated by Irma A. Richter, London Ist edition

Philosophy In A New Key, Susanne K Langer, Cambridge, 1957

Physiological Aesthetics, Grant Allen London 1877.

Poetic Imagery, Henry W Wells, Columbia University Press, 1924

Poetic Process, George Whalley, Kegan Paul, London, 1953

Poetry And Experience, Archibald MacLeish, The Bodley Head London 1961.

Power of Mental Imagery, Warren Hilton, New York, 1927

Principles of Indian Shilpasastra, Phanindra Nath Bose, The Punjab Sanskrit Book Depot, Lahore 1926

Principles of Literary Criticism, I A Richards, London 1955

Psycho-Analysis And Art, K Ahmad, Ajanta Press, Patna, 1953.

Psychological Studies in 'Rasa, Dr Rakesh Gupta, Aligarh, Ist edition
Psychological Types C G Jung translated by H G Baynes, Kegan Paul London, 1944

R

Realism And Imagination Joseph Chairi Barrie And Rockliff London 1966
Relation In Art Vernon Blake Oxford University Press 1925
Republic Plato Jowett s Translation, Paperbacks Ist edi ion
Revolution And Tradition In Modern Art John I H Baur, Ist edition
Rossetti Lucien Pissarro London Ist edition
Rossetti Dante and Ourselves, Nicolette Gray, London, 1945

S

Sadhana Rabindranath Tagore, London 1961
Santayana And the Sense of Beauty Willard E Arnett, Bloomington 1957
Santayana s Aesthetics A Critical Introduction, Irving Singer, Cambridge 1957
Scepticism And Poetry, D G James, George Allen & Unwin London 1960
Science And Criticism Herbert J Muller, New York 1956
Science And Music Sir James Jeans, Cambridge University Press 1947
Selected Philosoph cal Essays N G Chernishavsky, Moscow, 1953
Shabar-Bhasya translated into English by Ganga Nath Jha Oriental Institute Baroda, 1933
Shakti And Shakta Sir John Woodroffe Madras 1929
Some Concepts of Alankar Sastra V Raghavan Adyar, 1942
Some [illegible] lcutta 1959
S[illegible] York 1957
S[illegible] [illegible]kandl translated by Willard R Trask Pattian Books 1956
Stud es in Comparative Aesthetics Dr Pravas Jivan Chau dhary Santiniketan 1953

Studies in Jain Art Umakant P Shah Jain Cultural Research Society, Banaras, 1955
Studies in Sanskrit Aesthetics, A C Shastri, 1952
Symbolism And American Literature, Jr Charles Feidelson, Phoenix Books, The University of Chicago Press, 1962
Symbolism Its Meaning And Effect, A.N Whitehead, University Press, Cambridge, 1928
Symbolism A Psychological Study, Dr Padma Agrawal, Banaras Hindu University, 1955
Symbolism from Poe to Mallarme, Joseph Chiari, London, 1956
Symposium, Plato, The Penguin Classics, 1952

T

Tandav Lakshanam [or The Fundamentals of Ancient Hindu Dancing], Venkata Naryanswami Naidu and others, Madras, 1936.
The A B C of Indian Art J F Blacker, Stanley Paul & Co, London, Ist edition
The Achievement of T S Elliot, F O Mathiesen, Oxford University Press, 1959
The Aesthetic Attitude, H S Longfeild, Brace & Company, New York, 1920
The Aesthetic Experience According to Abhinava Gupta, Raniery Gnote, Serries Orientale Roma XI, 1956
The Appreciation of Art Alfred C Overtone, Allahabad, 1949
The Art of William Blake, Enthony Blunt Columbia University Press, 1959
The Beautiful An Introduction to Psychological Aesthetics, Vernon Lee, Cambridge University Press, 1913
The Beautiful, The Sublime & The Picturesque In Eighteenth Century British Aesthetic Theory, Walter John Hipple, Carbondale, 1957
The Creative Impulse in Writing and Painting, H Caudwell, Macmillan, London *1953*
The Dance of Lord Shiva, Anand K Coomarswamy, Ist edition
The Descent of Man, Charles Darwin, Batts & Co, London, 1936.

The Enjoyment And Use of Colour, Walter Sargent, New York, 1923
The Forms of Things Unknown, Herbert Read, Faber & Faber London 1960.
The Foundations of Aesthetics, C K Odgen & I.A Richards, London, 1922,
The Humanities, Louise Dudley and Austine Fericy, Macgraw Hill Book Company, New York and London, 1940
The Imagery of Keats And Shelley, Richard Harter Fogle, Chapel Hill, 1949
The Importance of Scrutiny, edited by Erich Bentley, New York, 1948.
The Literary Symbol, W Y Tindall, Columbia University Press, New York, 1955
The Loves of Krishna in Indian Painting and Poetry, W Y Archer, London, 1957
The Meaning of Meaning, C K Odgen and I A Richards, Kegan Paul, London, 1956
The Modern Movement in Art R H Wilenski, London, 1956
The Music of Poetry, T S Eliot, Glasgow University, 1942
Theory of Literature, Rene Welleck and Austin Warren, New York, 1949.
The Outlines of Mythology, Lewis Spence, Penguin Books, 1950
The Oxford Companion to English Literature, Compiled and edited by Sir Paul Harvey, Oxford, IIIrd edition.
The Philosophy of Aesthetic Pleasure, Panch, Pagesh Shastri, Annamalai University, 1940
The Philosophy of Art, Edward Howard Griggs, New York, 1913
The Philosophy of Art History, Arnold Hauser, Routledge & Kegan Paul, London, 1959.
The Philosophy of The Beautiful, William Knight, London, 1914.
The Philosophy of Fine Art, Hegel, translated by Osmaston, G Bell & Sons, London, Parts I, II, III & IV, 1920.
The Philosophy of Literary Form, Kenneth Burke, New York, 1957.

The Philosophy of Modern Art, Herbert Read, New York, 1955.
The Philosophy of Rhetoric, I. A Richards, Oxford University Press, London, 1936
The Philosophy of Symbolic Forms, Ernst Cassirer, translated by Ralph Manheim, New Haven, Yale University Press, London, 1953.
The Pocket History of American Aainting James Thomas Flexoner, New York, 1950
The Poetic Image C D Lewis, London, 1947
The Poetic Pattern, Robin Skelton, Kegan Paul, London, 1956
The Principles of Art, R G Collingwood, Oxford at the Clarendon Press, Ist edition
The Psychology of Imagination, Jean Paul Sartre, Rider & Company, London, Ist edition
The Religion of Man, Rabindranath Tagore, The Hibbert Lectures for 1930
The Road to Xanadu, John Livingston Lowes, Constable, London, 1951
The Sankhya Karika of Isvara Krishna with an Introduction, and Translation by S S Suryanarayan Sastri, University of Madras, 1930
The Science of Emotion, Dr Bhagawan Das, Adyar, Ist edition
The Sense of Beauty, George Santayana, Dover Publications, New York. 1955

Two Lectures on An Aesthetic of Literature, B S. Mardhekar, Bombay, 1944.

V

Vision And Design, Roger Fry, Ist edition

Y

Yeats The Man and The Masks, Richard Ellmann, Macmillan & Co London, 1949

Magazines

Journal of The Indian Society of Oriental Art, Volume 10, 1942

Scientific American, Volume 199, September, 1958.

The 4 Arts Annual, Calcutta, 1936-1937.

The Spectator, June and July, 1712.

नामानुक्रमणिका

०००